प्रशासनिक संस्थाएँ

प्रशासनिक संस्थाएँ

लेखिका
डॉ. सरोज चोपड़ा

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्रथम सस्करण 2002
प्रशासनिक सस्थाएँ
ISBN 81-7137-402-6

मूल्य 120 00 रुपये मात्र

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
प्लाट न 1 झालाना सास्थानिक क्षेत्र,
जयपुर – 302004
फोन 511129 510341
web-site www rajhga org

कम्प्यूटर कम्पोजिग
सॉफ्ट सॉल्यूशन •
बी–286, कॉर्नर नाहरगढ रोड जयपुर
☎ . 322992

मुद्रक .
प्रिन्ट 'ओ' लैन्ड, जयपुर फोन : 212694

मानव ससाधन विकास मत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अतर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 32 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई 2001 को 33वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि मे विश्व साहित्य के विभिन्न विषयो के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी मे प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत् के शिक्षकों छात्रो एव अन्य पाठको की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी मे शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी मे ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठयक्रमो के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड मे अपना समुचित स्थान नही पा सकते हो और ऐसे ग्रन्थ भी जो अग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नही पाते हो अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रन्थो को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नही गौरवान्वित भी हो सकें। हमे यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 525 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र राज्यो के बोर्डों एव अन्य सस्थाओ द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा अनुशसित किए गए हैं।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है अत अकादमी अपने लक्ष्यो की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'प्रशासनिक सस्थाएँ भारत के सदर्भ मे लिखी गई है। इसमे राज्य के तीन स्वरूपो-अहस्तक्षेपवादी, लोक कल्याणकारी और प्रशासकीय राज्य की अवधारणाओं का विस्तृत वर्णन एव परीक्षण किया गया है। सरकार के तीनो अगो– व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका का भी अध्ययन किया गया है। नौकरशाही राजनीतिक दल और दबाव समूहों की भूमिका के विस्तृत विवेचन के साथ भारत मे स्थापित विभिन्न वित्त आयोगो, योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद् सघ लोक सेवा आयोग विश्वविद्यालय अनुदान आयोग रिजर्व बैंक रेलवे बोर्ड केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के सगठन एव कार्यों का भी इस पुस्तक म विस्तृत वर्णन किया गया है। इस प्रकार सभी सम्बद्ध जनों के लिए यह पुस्तक बहु उपयोगी सिद्ध होगी।

प्राक्कथन

प्रशासनिक संस्थाएँ राज्य के संविधान द्वारा घोषित उद्देश्यों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उत्तरदायी हैं। उद्देश्यों को व्यावहारिक रूप प्रदान कर प्रशासनिक संस्थाएँ राज्य के संविधान को सजीव एवं शक्तिशाली बनाने मे सहायता करती हैं। इतिहास इसका गवाह है कि राज्यो के स्वरूप एवं लक्ष्य सदैव एक से नहीं रहे हैं। उनमे समयानुसार परिवर्तन आता रहा है। राज्य के स्वरूप एवं लक्ष्य के अनुरूप ही प्रशासनिक संस्थाएँ भी परिवर्तित होती रही है। राज्य का स्वरूप अहस्तक्षेपवादी निरकुश कल्याणकारी पूँजीवादी और समाजवादी रहा है। प्रशासनिक संस्थाओं की भूमिका अहस्तक्षेपवादी राज्य मे कम महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि वह राज्य को अधिक उत्तरदायित्व सौपने के पक्षधर नही हैं। अतः अहस्तक्षेपवादी राज्य मे प्रशासनिक संस्थाएँ नगण्य होती है। कल्याणकारी राज्यो म राज्य के कार्यो मे वृद्धि के साथ-साथ प्रशासनिक संस्थाओ की संख्या मे भी वृद्धि होती रहती है। प्रशासनिक संस्थाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। प्रशासनिक संस्थाओं के अत्यधिक विस्तार एवं महत्त्व के कारण राज्य का स्वरूप ही बदल गया है। आज विश्व के लगभग सभी कल्याणकारी राज्य प्रशासकीय हो गये है।

प्रस्तुत पुस्तक 'प्रशासनिक संस्थाएँ' भारत के सन्दर्भ म लिखी गई है। इस पुस्तक मे अठारह अध्याय हैं। लोकतान्त्रिक समाजवादी राज्य में प्रशासनिक संस्थाओ की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। राज्य के तीन स्वरूपो-हस्तक्षेपवादी लोक कल्याणकारी और प्रशासकीय राज्य की अवधारणाओ का विस्तृत वर्णन एव परीक्षण किया गया है। सरकार के तीनो अगो- व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका का अध्ययन किया गया है। नौकरशाही राजनीतिक दल और दबाव समूहों की भूमिका विस्तृत विवेचन के साथ भारत मे स्थापित विभिन्न वित्त आयोगो योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद संघ लोक सेवा आयोग विश्वविद्यालय अनुदान आयोग रिजर्व बैंक रेलवे बोर्ड केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के संगठन एव कार्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय के बी ए द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम के अनुसार लिखी गई है। राजस्थान के सभी विश्वविद्यालयो मे बी ए के पाठ्यक्रम में यह प्रश्न पत्र है। लोक प्रशासन के सभी विद्यार्थी जो प्रतियोगी परीक्षाओं मे प्रशासनिक संस्थाओं के कार्यकलापो का गम्भीर अध्ययन करना चाहते हैं इस पुस्तक से लाभ उठा सकते है।

लेखिका पुस्तक को लिखने की प्रेरणा हेतु पूर्व निदेशक हिन्दी ग्रथ अकादमी डा वेद प्रकाश एवं प्रो रमेश अरोडा की व्यक्तिगत रूप से आभारी है। लेखिका, पुस्तक प्रकाशन हेतु हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर की भी आभारी है।

पुस्तक सरल भाषा मे लिखी गयी है। आशा है संविधान और भारतीय प्रशासनिक संस्थाओ की कार्यप्रणाली मे रुचि रखने वाले विद्यार्थी इसे अवश्य उपयोगी पाएँगे। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्रेषित सुझावो का लेखिका स्वागत करेगी।

3–के–11 तलवडी
कोटा – 324005

डॉ सरोज चोपडा

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

अध्याय–1

लोकतांत्रिक एवं समाजवादी समाज में प्रशासनिक संस्थाएँ

किसी राज्य या समाज में प्रशासनिक संस्थाओ का स्वरूप निश्चित करने में उस राज्य या समाज के स्वरूप और प्रकृति की अहम भूमिका होती है। प्रशासनिक संस्थाएँ राज्य या समाज के लिये कार्य करती है अत राज्य के राजनैतिक और आर्थिक परिवेश का प्रभाव उन पर पडना अवश्यम्भावी है। यदि कोई राज्य लोकतान्त्रिक है, तो वहाँ की प्रशासनिक संस्थाएँ भी लोकतान्त्रिक अवधारणा के अनुसार कार्य करने के लिए कटिबद्ध है और जनकल्याणकारी कार्य करती है। यदि राज्य पूँजीवादी है तो प्रशासनिक संस्थाएँ भी उसी के अनुसार ही गठित की गई है एव देश की आर्थिक वृद्धि में योगदान देती हैं। अगर कोई राज्य निरकुश या अधिनायकवादी हे तो वहाँ की प्रशासनिक संस्थाएँ अधिनायकवादी विचारधारा के अनुसार कार्य करने में सलग्न होती हैं। ऐसा प्रशासन जनहित या जनकल्याण हेतु कार्य नही करता है। शक्ति केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति प्रशासनिक संस्थाओं मे स्पष्ट अभिव्यक्त होती है। इसके विपरीत समाजवादी और साम्यवादी राज्यों में प्रशासनिक नीतियाँ और प्रशासनिक संस्थाएँ निम्न वर्ग या पिछडे वर्ग के उत्थान के लिये कार्य करती हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद राजतत्र तथा अधिनायकतत्र मिटते गए और उनका स्थान लोकतत्र लेता गया। आधुनिक समय मे लोकतत्रीय शासन सर्वाधिक लोकप्रिय एव प्रचलित व्यवस्था है। ससार के अधिकाश देश इसी व्यवस्था का अनुसरण कर रहे हैं। प्राचीन ग्रीक विद्वानों के अनुसार लोकतत्र शासन वे होते हैं जिनमें बहुतों का शासन हो। प्लेटो और अरस्तु इसे शासन का विकृत रूप मानते थे। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ तक लोकतत्र शासन को सम्मान की दृष्टि से नही देखा जाता था। आज लोकतत्र को शासन का श्रेष्ठतम रूप माना जाता है।

लोकतत्र का अर्थ एवं परिभाषा

डेमोक्रेसी (लोकतत्र) ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'डेमोस और 'क्रेशिया' से मिलकर बना है। डेमोस का अर्थ लोक और क्रेशिया का अर्थ शक्ति या सत्ता है। अत डेमोक्रेसी का शाब्दिक अर्थ है--लोगों का शासन। लोकतत्र शासन का वह रूप है जिसमें शासन

सत्ता स्वय जनता के हाथ मे रहती है और सत्ता का प्रयोग भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनता करती है। लोकतत्र की परिभाषाएं विभिन्न विद्वानों न विभिन्न प्रकार स की है। कुछ लोकतत्र को भीड भरा शासन कहते है तो कुछ इसे श्रेष्ठ शासन व्यवस्था स्वीकार करते हैं। कुछ उल्लखनीय परिभाषाएँ इस प्रकार है–

1 **हिरोडोटस** – "प्रजातत्र उस शासन का नाम है जिसमे राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण जनता मे निवास करती है।"

2 **प्रोफेसर सीले** – "लोकतत्र शासन वे होत हैं जिनमे प्रत्येक व्यक्ति हाथ बटाता है। प्रोफेसर सीले की परिभाषा द्वारा दिये गय लक्षण स्वीकार कर तो कोई भी प्राचीन व अर्वाचीन राज्य लोकतत्र व्यवस्था वाला स्वीकार नही दिखाई देगा।

3 **अब्राहम लिंकन** – "लोकतत्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन है।"

4 **मेजिनी** – "सबसे अच्छे और सबसे बुद्धिमान व्यक्तियो द्वारा चलाई जाने वाली और सबकी उन्नति करन वाली सरकार लोकतत्र कहलाती है।"

5 **डायसी** – "लोकतत्र शासन उसे कहते हैं, जिसमें राजशक्ति सम्पूर्ण जनता के अपक्षित दृष्टि स बडे भाग के हाथ मे हो।"

6 **लार्ड ब्राइस** – "लोकतत्र शब्द का प्रयोग हिरोडोटस के समय से ही ऐसे शासन तत्र के लिये होता है जिसम सत्ता किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष मे सीमित न होकर सम्पूर्ण जनता मे निहित रहती है।" अपन विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए ब्राइस आगे लिखते हैं "राजशक्ति उस जनसमाज मे निहित होती है जो मताधिकार या वोट द्वारा उसका प्रयोग करता है। शासन बहुसख्यानुसार होता है क्योकि जब किसी बात पर सब लोग एकमत न हो तो शातिपूर्वक और वैधानिक रीति से यह निर्णय करने का कि जन समाज की इच्छा क्या समझी जानी चाहिये बहुसख्या क अतिरिक्त कोई तरीका नहीं है।"

इन परिभाषाओ मे लोकतत्र को सिर्फ एक शासन व्यवस्था के रूप मे देखा गया है जो बतलाती है कि लोकतत्र सरकार का एक रूप है जिसम शासन जनता के हाथ म रहता है और शासकों पर जनता का नियत्रण रहता है। लेकिन य परिभाषाएं अपूर्ण तथा सकीर्ण हैं। लोकतत्र सिर्फ सरकार का रूप नहीं है बल्कि राज्य और समाज का रूप भी है। ग्रीडिंग्स क शब्दो म – "लोकतत्र कवल एक शासन का नाम नहीं है वरन् राज्य का भी रूप है तथा समाज क रूप का भी नाम है या फिर तीनो का एक सम्मिश्रण है।" डा० आर्शीवादम् क अनुसार "लोकतत्र मानवता क प्रति हमार उत्साह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है स्वाधीनता समानता एव भ्रातृत्व द्वारा विरोधी सिद्धान्तो म पारस्परिक मेल मिलाने का यह ठोस प्रयास है। जिसमे समाज क प्रत्यक व्यक्ति क लिये यह सम्भव बनाया जा सक कि वह अपनी शक्ति पर अपन लिय सर्वोच्च कल्याण की सिद्धि कर सके।"

लोकतत्र क व्यापक अर्थ का समझन क लिय लोकतत्र के विभिन्न रूपो पर विचार करना होगा। लोकतत्र क विभिन्न रूप अग्रलिखित हैं–

1 शासन का स्वरूप-"लोकतंत्र जनता की जनता के लिए और जनता द्वारा एक सरकार है।" इसमें शासन का आधार जनता है और सत्ता भी जनता में निहित होती है। जनता अपनी सत्ता का प्रयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से करती है। प्रत्यक्ष पद्धति में जनता स्वयं और अप्रत्यक्ष पद्धति में अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन का संचालन करती है। लोकतंत्र का शासन के रूप में उद्देश्य सम्पूर्ण जनता के हित में कार्य करना है। सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है।

2 राज्य का स्वरूप-लोकतंत्र में सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। जनता ही शासन व्यवस्था का स्वरूप और नीतियों का निर्धारण करती है। हर्नशा के शब्दों में - "राज्य के रूप में लोकतंत्र सरकार को नियुक्त करने इस पर नियंत्रण रखने और इसे पदच्युत करने का तरीका है।"

3 समाज का स्वरूप-समानता लोकतंत्रात्मक समाज की आत्मा है। लोकतंत्र के अन्तर्गत ऐसी दशा का निर्माण होना चाहिये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को विकसित होने का पूरा अवसर मिले। यह तभी सम्भव है जब सभी को अवसर की समानता मिले। समाज से ऊँच-नीच, गरीबी-अमीरी जाति-पाँति का कोई भेद न रहे। आर्थिक शोषण का अन्त होना चाहिए। लोकतान्त्रिक समाज वह समाज है जिसमें अधिकारों विचारों भावनाओं और आदर्शों की समानता हो। लोकतंत्र समाज का स्वरूप होने के नाते व्यक्ति के सामाजिक जीवन के आदर्शों को प्रतिष्ठित करता है सामाजिक और आर्थिक न्याय प्रदान करता है। डॉ० आर्शीवादम् के शब्दो मे-"लोकतांत्रिक समाज वह है जिसमे समानता और भ्रातृत्व की भावना स्वभावतः वर्तमान हो।" क्रेजियर ने भी कहा है कि "मनुष्य की भौतिक एवं सामाजिक दशाओं की समानता लोकतंत्र का सार है।"

4 जीवन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण-लोकतंत्र जीवन का एक रूप है, जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण है । इसके अन्तर्गत मनुष्य का एक विशेष प्रकार का स्वभाव तथा सामाजिक व्यवहार होना चाहिए । लोकतंत्र मे किसी भी व्यक्ति को दूसरे के साथ वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जिसे वह अपने स्वयं के प्रति किया जाना पसन्द नहीं करता । लोकतंत्र व्यक्ति मे सहनशीलता भ्रातृत्व दूसरों के प्रति आदर के गुण विकसित करने में सहयोग करता है। किसी भी व्यक्ति को निर्बल या असामान्य मानकर उसका शोषण करने से रोकता है।

5 नैतिक स्वरूप-लोकतंत्र एक आदर्श नैतिक स्वरूप भी है । इसमे एक आध्यात्मिक और आदर्श जीवन की कल्पना की जाती है। लोकतंत्र का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है। लोकतंत्र मे व्यक्ति स्वयं साध्य है साधन नहीं । इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा और सम्मान है । व्यक्ति की गरिमा के लिए व्यक्ति का नैतिक स्तर ऊँचा होना आवश्यक है ।

6 आर्थिक स्वरूप-राजनीतिक पहलू की भाँति लोकतंत्र का आर्थिक पहलू भी महत्वपूर्ण है । आर्थिक लोकतंत्र के अभाव मे राजनीतिक या सामाजिक लोकतंत्र की

स्थापना असम्भव है। आर्थिक लोकतंत्र का अर्थ उस आर्थिक व्यवस्था से है जिसमे उपादन के साधनो पर किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का आधिपत्य न होकर समाज का सामूहिक आधिपत्य हो। उत्पादन का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हित हो। आर्थिक लोकतंत्र से तात्पर्य सभी को पूर्ण आर्थिक अवसर उपलब्ध होने से है अर्थात् सभी लोगों को भोजन, वस्त्र शिक्षा आदि की इतनी सुविधाएँ प्राप्त हो कि उनकी प्रगति के मार्ग मे आर्थिक बाधा न पडे। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति हो।

वस्तुत अपने व्यापक अर्थ में लोकतंत्र एक प्रकार का शासन है एक सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त है एक विशेष प्रकार की मनोवृति है और एक आर्थिक आदर्श है। लोकतंत्र मे राजनीतिक सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था तथा दैनिक व्यवहार के सामाजिक एव सास्कृतिक मापदण्ड आदि सम्मिलित हैं ।

लोकतांत्रिक समाज की विशेषताएँ

लोकतंत्र समाज में निम्नलिखित विशेषताएँ है–

1 लोकतांत्रिक समाज मे सामूहिक हितो की रक्षा होती है। राज्य संस्था की उत्पत्ति इसलिए हुई थी कि मनुष्य परस्पर एक साथ मिलकर जहाँ बाह्य और आन्तरिक भयों से अपनी रक्षा कर सके वहा साथ ही आपस में मिलजुल कर अपनी सामूहिक उन्नति भी कर सके । यह कार्य किसी एक व्यक्ति के बलबूते का नहीं है । सब मनुष्यो का इस कार्य के लिये योगदान आवश्यक है । यह केवल लोकतान्त्रिक समाज में ही सम्भव है।

2 लोकतान्त्रिक समाज में निर्णय परस्पर विचार-विमर्श द्वारा लिए जाते हैं उनमें सबकी सहमति अनिवार्य होती है । अधिनायकवादी समाज की भाँति निर्णय को जबरदस्ती थोपा नहीं जाता है । उदाहरणार्थ, लोकतान्त्रिक समाज में प्रतिनिधि प्रणाली अपनाने का निर्णय है तो उससे सम्बन्धित कई निर्णय और करने पडेगे –प्रतिनिधियों का चयन चुनाव द्वारा हो, चुनाव स्वतंत्र एव निष्पक्ष हो, नियत समय पर चुनाव सम्पन्न हो, चुनाव निश्चित अवधि के लिये किये जाएँ, चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर हो, आदि-आदि । इन सभी निर्णयों का आधार लोकतान्त्रिक समाज में परस्पर विचार-विमर्श एव जनता की सहमति है।

3 लोकतान्त्रिक समाज मे निर्णय का आधार सर्वसम्मति है। परन्तु व्यवहार में समस्त जनता की सहमति किसी भी निर्णय पर प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। अत लोकतान्त्रिक समाज में बहुमत को सर्वसम्मति मानकर निर्णय किए जाते हैं। अधिकाश जनता का समर्थन होने के कारण निर्णय लोकतान्त्रिक ही कहे जाते है ।

4 लोकतान्त्रिक समाज मे व्यक्ति अपने अधिकारो व हितो की रक्षा भली-भाँति कर सकता है, जब वह स्वय अपने लिय प्रयत्नशील हो। यदि हम अपने जान-माल की रक्षा का भार किसी अन्य पर छोडकर निश्चित हो जाये तो सम्भवत हम कभी भी अपने जान-माल की रक्षा नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार राज्य की जनता अपने हित सम्पादन

का कार्य प्रतिनिधिया पर छाडकर निश्चित हो जाएगी या ध्यान नही देगी तो वे कभी भी हमारा हित सम्पादन सुचारू रूप से नही कर सकेंगे। लोकतान्त्रिक समाज मे प्रत्येक व्यक्ति स्वय इस बात का प्रयास करता है कि वह अपने हित सम्पादन की चिन्ता करे। सार्वजनिक हित व कल्याण के लिये जितने अधिक लोग दिलचस्पी लेगे उतनी ही उसमें अभिवृद्धि होगी। यदि सम्पूर्ण जनता अपने सामूहिक हितो की चिन्ता करेगी उसके लिये प्रयत्न करेगी तो अवश्य ही सब का अधिकतम हित सम्पादित हो सकेगा।

5 लोकतान्त्रिक समाज के नागरिकों मे कर्त्तव्य-परायणता उच्च सच्चरित्रता सत्यनिष्ठा के गुण विकसित होते है। अपने अधिकारो के लिये लडने की भावना शासकों पर अपनी इच्छा का प्रभाव डालने की अभिलाषा और राजशक्ति के प्रयोग में हाथ बॅटाने की आकाक्षा मनुष्य को आत्मोन्नति करने में अवश्य ही सहायता पहुँचाती है।

6 लोकतान्त्रिक समाज मे जनता राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हो जाती है और अपने अधिकारों को स्वतत्रता और स्पष्टता से प्रकट करने लगती है। सब लोग सामयिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। भाषण और लेखनी के माध्यम से अपने मनोभावों को प्रकट करने लगते है। राजनीतिक शिक्षा का प्रसार होता है। फलत जनता की मानसिक शक्तियों का विकास होता है। यह उसकी उन्नति में सहायक एव उपयोगी सिद्ध होता है।

7 सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि लोकतान्त्रिक समाज में सभी कार्यवाहियों के सरचनात्मक आधार सविधान द्वारा निर्धारित हैं। लोकतान्त्रिक ढग से किए जाने वाले कार्यो की सविधान में सीमाएँ निश्चित होती हैं।

8 लोकतान्त्रिक शासन पद्धति में शासन सूत्र उन लोगों के हाथो में रहता है जिन्हें जनता या उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का विश्वास प्राप्त हो। यदि मत्री व अन्य शासक लोग देश का ठीक तरह से शासन न करें अपने कर्त्तव्यो के प्रति उपेक्षा भाव रखें तो जनता उन्हें उनके पद से हटा सकती है।

9 लोकतान्त्रिक समाज में सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। इसी शक्ति द्वारा जनता सरकार को प्रतिनिधि उत्तरदायी और साविधानिक रख पाती है। आगामी चुनावो में पुन निर्वाचन का भय प्रतिनिधियों एव शासकों को जनता के प्रति उत्तरदायी बनने के लिए बाध्य करता है।

10 लोकतान्त्रिक समाज में प्रतियोगी राजनीति का महत्त्व है। इसके लिए राजनीतिक गतिविधियों की पूर्ण स्वतन्त्रता दलीय पद्धति मताधिकार की पूर्ण समानता नियतकालीन चुनाव और प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता अनिवार्य है।

समाजवादी समाज की विशेषताएँ

अठारहवीं शताब्दी में समाजवादी समाज का सूत्रपात हुआ था। उसके प्रवर्तक नोयल बाबेफ, सा सिमो, फूरियर रॉबर्ट आवन लुई ब्ला आदि विचारक थे। पर लास्सेल, एन्जल्स और कार्लमार्क्स ने उसका विशेष रूप से विकास किया। कार्लमार्क्स समाजवादी

समाज की विचारधारा के प्रधान आचार्य हैं। समाजवादी समाज में व्यक्ति की अपेक्षा समाज, समूह व राज्य का अधिक महत्व है। अतः सामूहिक हित के सम्मुख व्यक्तिगत हित को तुच्छ समझा जाता है। रोवार के कथनानुसार "समाजवाद उन प्रवृत्तियों का समर्थक है जो सर्वमान्य कल्याण पर जोर देती हैं।"

समाजवादी समाज पूँजीवाद का विरोधी है और उसका अन्त कर देना चाहता है। समाजवादी समाज की धारणा है कि पूँजीपति लोग अपने धन के कारण श्रमिकों का शोषण करते हैं और उन्हें अपने श्रम का समुचित पारिश्रमिक नहीं प्राप्त करने देते हैं। समाजवादी समाज प्रतिस्पर्धा का भी विरोध करता है। डा. हार्डनरोस्ट के शब्दों में "समाजवाद स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग स्थापित करने का पक्षपाती है।" समाजवादी समाज विषमताओं को दूर कर समानता स्थापित करने का पक्षधर है। लवलय ने लिखा है कि "सब समाजवादी सिद्धान्तों का ध्येय यह है कि सब सामाजिक दशाओं में अधिक समानता लाई जाए। समाजवाद सबको समान करने वाला और एक स्तर पर लाने वाला है।"

समाजवादी समाज में वैयक्तिक स्वत्व का अन्त कर उसे सार्वजनिक बना देने की बात कही जाती है तथा उत्पादन के साधनों पर समाज या राज्य के नियन्त्रण की बात करते हैं। कुछ विचारक सम्पूर्ण कल कारखानों पर राज्य के नियन्त्रण के पक्षधर हैं, तो कुछ प्रमुख व बड़े व्यवसाय राज्य के अधीन रखना चाहते हैं। कुछ विचारक समाजवादी समाज में सहकारिता का महत्व देते हैं। इन सभी मतभेदों के रहते हुए भी सभी विचारक इस बात पर एकमत हैं कि आर्थिक उत्पादन का कार्य व्यक्तियों के हाथों में न रहकर समाज या राज्य के नियन्त्रण में रहना चाहिये। अतः समाजवादी समाज राजनीतिक क्षेत्र में लोकतन्त्रवाद का समर्थन करते हैं।

समाजवादी समाज, राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में भी एक नया विचार प्रस्तुत करता है। समाजवादी समाज के अनुसार राज्य का कार्य केवल शांति और व्यवस्था कायम रखने तक सीमित नहीं है। राज्य को बाह्य और आन्तरिक भयों से देश की रक्षा के साथ-साथ मनुष्यों की व्यक्तिगत और सामुदायिक उन्नति करना भी उसका कर्तव्य है। सामुदायिक उन्नति में ही मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति निहित है। अतः राज्य मनुष्यों की सामुदायिक उन्नति हेतु साधन है। सामूहिक जीवन के विभिन्न रूपों में मानव के घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन एक-दूसरे से जुड़े हैं। राज्य सर्वोपरि जनसमुदाय है। अतः राज्य का कर्तव्य है कि मानव के सभी जीवन समुदायों को नियंत्रित करे। मानव का व्यक्तिगत हित सामुदायिक हित पर निर्भर करता है। अतः मानव के व्यक्तिगत कार्यों को नियंत्रित करना और व्यक्तिगत हितों का सम्पादन करना भी राज्य का कार्य है।

समाजवादी समाज के लक्षण

समाजवादी समाज के लक्षणों का स्पष्ट रूप से वर्णन कर सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि समाजवादी समाज के सदर्भ में कई विचारधाराएं प्रचलित हैं। ऊपर वर्णित

स्वरूप के आधार पर विभिन्न विद्वानों द्वारा बताए गए समाजवादी समाज के लक्षणों का नीचे वर्णन किया जा रहा है –

1 ह्यन के अनुसार–"समाजवाद श्रमिक वर्गों के उस राजनीतिक आन्दोलन का नाम है जिसका उद्देश्य आर्थिक उत्पादन और वितरण के साधनो को सामूहिक सम्पत्ति बनाकर उन्हे लोकतन्त्र व सार्वजनिक प्रबन्धन के अधीन कर शोषण का अन्त कर देना है।"

2 प्रो० ईली के अनुसार–"समाजवादी वह मनुष्य होता है जो राज्य के रूप में सगठित समाज के आर्थिक द्रव्यों को अधिक पूर्ण व समुचित वितरण के लिए और मानवता के उत्थान के लिए सहायता प्राप्त करना चाहता है। व्यक्तिवादी के अनुसार प्रत्येक मनुष्य केवल अपने हितों का साधन करता है अपने बन्धुओं के हितों का नहीं। उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को केवल अपने ही भौतिक और आध्यात्मिक मोक्ष का प्रयत्न करना चाहिये।"

3 बर्टेण्ड रसल के अनुसार–"भूमि और सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व को प्रतिपादित करने वाले वाद को यदि समाजवादी कहा जाए, तो हम समाजवाद के सार के अधिकतम समीप पहुँच जाते है।

4 रेम्जे मैकडानाल्ड के अनुसार–"सामान्य रूप से समाजवाद की इससे अच्छी कोई परिभाषा नहीं की जा सकती है कि इसका ध्येय समाज की भौतिक व आर्थिक शक्तियों का सगठन करना और मानवीय शक्तियों द्वारा उसका नियन्त्रण करना है।"

उक्त परिभाषाओं के आधार पर समाजवादी समाज में निम्नलिखित व्यवस्था पाई जाती है–

1 आर्थिक उत्पादन के साधनो पर राज्य का स्वत्व व नियन्त्रण होता है। सब जमीन राज्य की सम्पत्ति होती है। कल कारखाने व अन्य सभी व्यवसायो पर राज्य का अधिकार होता है। आर्थिक क्षेत्र में किसी की भी यह प्रवृत्ति नहीं होगी कि वह अपने स्वार्थ एव लाभ को सम्मुख रख कर कार्य करे। लाभ उस दशा में रहेगा ही नही। जो भी उत्पादन होता है उसका समुचित भाग श्रमिको को प्राप्त होता है। श्रम कच्चे माल की भाति पदार्थ नहीं समझा जाता है। मजदूरी की दर भी मॉग और पूर्ति के आधार पर निश्चित की जाती है। श्रमिकों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता है।

2 सबको योग्यता प्राप्त करने और फिर जीवन सघर्ष में आगे बढने का अवसर मिलता है। शिक्षा का कार्य राज्य के अधीन सबको मुफ्त और वाछित रूप से शिक्षा दिया जाना है। शिक्षा प्राप्त करने के बाद योग्यतानुसार कार्य करने का अवसर दिया जाता है। शिक्षित होने और योग्यतानुसार कार्य करने के कारण व्यक्तियों में अधिक विषमता नहीं रहने पाती।

3 खुली प्रतिस्पर्धा का अन्त कर दिया जाता है। प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग को स्वीकार किया जाता है। किसी व्यापार या व्यवसाय मे उतने ही व्यक्ति कार्य करेगे

जितने कि उसके लिये आवश्यक होंगे। सरकार माल के उत्पादन का प्रकार और मात्रा का निर्धारण करेगी। वस्तुओं का उत्पादन मनुष्यों की आवश्यकतानुसार किया जाता है। प्रतिस्पर्धा न रहने पर माल का प्रचार करने के लिए विज्ञापन द्वारा ग्राहकों को धोखा देने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। फलत उत्पादन व्यय घटता है और माल की गुणवत्ता मे सुधार होता है।

4 व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामूहिक आवश्यकता व सार्वजनिक सेवा का सिद्धान्त काम मे लाया जाता है। समाजवादी व्यवस्था म मनुष्यों को इस बात से प्रेरणा मिलती है कि व सार्वजनिक हित को ध्यान म रखकर कार्य करें। वस्तुओं के मूल्य सामाजिक आवश्यकता को ध्यान म रखकर निश्चित किए जाते है। जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक कुछ वस्तुओं के मूल्य उनकी लागत से भी कम निश्चित किये जा सकते हैं।

5 समाजवादी व्यवस्था में सभी के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है। राज्य सभी को कुछ न कुछ रोजगार देता है। यदि किसी कारणवश राज्य व्यक्ति को रोजगार उपलब्ध कराने में असमर्थ रहता है तो व्यक्ति को भरण-पोषण हेतु आवश्यक आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

भारत : एक लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि लोकतान्त्रिक शासन जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन की व्यवस्था है। सम्पूर्ण सम्प्रभुता जनता मे ही निहित रहती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही भारतीय सविधान म लोकतंत्र की स्थापना के लिये निम्नलिखित प्रयास किए गए है –

1 **प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा लोकतंत्र की स्थापना**–भारत का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। समस्त व्यक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित होकर मत प्रकट करना सम्भव नहीं है। अत अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली द्वारा प्रतिनिधि चयन करने की व्यवस्था की गई है। चुनाव हेतु वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। सविधान द्वारा समस्त वयस्क स्त्री-पुरुषों को मत देने का अधिकार प्रदान किया गया है। चुनाव चाहे केन्द्रीय सासद के हो राज्य विधानसभा के या स्थानीय निकाय के हो वे एक निश्चित अवधि के लिये होते हैं। भारत में चुनाव पाच वर्षो के लिए दलीय पद्धति के आधार पर कराये जाते हैं। भारत म सविधान द्वारा बहुदलीय पद्धति स्वीकार की गयी है।

2 **उत्तरदायी शासन व्यवस्था**–भारतवर्ष मे उत्तरदायी शासन व्यवस्था अपनायी गयी है। कार्यपालिका नीति क्रियान्वयन के लिए सासद के लोकप्रिय सदन लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। सासद प्रश्न पूछकर काम रोको प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव और अविश्वास प्रस्ताव पारित कर कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। सासद द्वारा कार्यपालिका के विरुद्ध अविश्वास पारित हो जाने पर कार्यपालिका को त्याग-पत्र देना पडता है।

3 **नागरिकों के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था**–भारतीय सविधान मे नागरिकों को मौलिक अधिकार दिये गये है। सविधान के अध्याय तृतीय में मौलिक अधिकारों का

विस्तार से वर्णन किया गया है। भारतीय सविधान में मौलिक अधिकारो को सूचिबद्ध नही किया गया है। सविधान द्वारा प्रदत्त प्रमुख मौलिक अधिकार निम्नलिखित हैं –

सविधान के अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत सात प्रकार की स्वतन्त्रताओ का वर्णन किया गया है –

स्वतन्त्रता का अधिकार समता का अधिकार धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार शोषण के विरुद्ध अधिकार सस्कृति एव शिक्षा का अधिकार मौलिक अधिकारो की रक्षा हेतु न्यायपालिका की शरण लेने का अधिकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारों मे बोलने की स्वतन्त्रता सभा करने की स्वतन्त्रता सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता भारत के किसी भी भाग मे आवास की स्वतन्त्रता सम्पत्ति रखने की स्वतन्त्रता आने-जाने की स्वतन्त्रता तथा नौकरी व्यवसाय और व्यापार एव वाणिज्य की स्वतन्त्रता आदि।

4 लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण–73वॉं सविधान सशोधन अधिनियम 1992 पचायती राज को सवैधानिक दर्जा प्रदान करता है। ग्रामसभा को अब पचायती राज की विधानसभा का दर्जा मिल गया है। भारत मे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण स्वीकार किया गया है। पचायती राजव्यवस्था इसका प्रमाण है। सविधान मे स्पष्ट वर्णित है कि राज्य ग्राम पचायतों का गठन करेगा। ग्राम पचायतों के गठन से जनता की अधिक से अधिक भागीदारी होगी जो लोकतत्र के लिये अनिवार्य है।

5 स्वतत्र न्यायपालिका–भारत के सविधान मे न्यायपालिका को सर्वोच्च दर्जा दिया गया है। निष्पक्ष न्याय हेतु सविधान में कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। जैसे न्यायाधीशो की नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका को है। नियुक्ति योग्यता के आधार पर होती है। न्यायाधीशों को अपदस्थ करने के लिये विशेष महाभियोग प्रक्रिया अपनायी जाती है। कार्यकाल अपेक्षाकृत अधिक लम्बा अच्छा वेतन एव सुविधाएँ तथा सेवा के दौरान वेतन भत्तो मे कटौती नहीं की जा सकती है। अवकाश प्राप्ति के बाद न्यायालय मे कार्य करने के लिये प्रतिबन्ध है।

स्पष्ट है कि भारत यथार्थ में एक लोकतत्रात्मक राष्ट्र है। लोकतत्र की सफलता के लिये ससदीय प्रणाली उपयुक्त मानी गई है। भारत मे ससदीय व्यवस्था है। चुनाव निष्पक्ष एव शातिपूर्वक चुनाव आयोग द्वारा करवाए जाने की व्यवस्था है। उम्मीदवार भी मतदाता से मत प्राप्त करने के लिये नम्र एव करबद्ध निवेदन करता है तथा मतदाता से मत प्राप्त करने के लिए हिसा का मार्ग नहीं अपनाता है। जनता भारत में स्वामी है जब चाहे किसी दल के प्रति विश्वास और अविश्वास प्रकट कर सकती है। किसी दल की जीत और हार जनता की सम्प्रभुता शक्ति पर निर्भर करती है। जिस दल को जनता का समर्थन मिलता है वही दल ससद के लोकप्रिय सदन में कार्यपालिका का गठन करता है। किसी एक दल का बहुमत नहीं होने पर मिली-जुली सरकार बनती है। इस सरकार का प्रमुख प्रधानमत्री होता है जो वास्तविक कार्यपालक के रूप में देश मे शासन

करता है। इसमे सन्देह नही है कि भारत एक लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र है। संविधान की प्रस्तावना मे स्पष्ट कहा गया है, "हम भारत के लोग विशेषत भारत को एक सम्प्रभु लोकतान्त्रिक गणराज्य निर्धारित करते हैं।

भारत एक समाजवादी राष्ट्र

भारतीय संविधान निर्माताओं ने नीति निदेशक तत्वों और पिछडे वर्ग के उत्थान के लिये आरक्षण व्यवस्था को स्थान देकर समाजवादी व्यवस्था स्वीकार की है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के सम्मुख कई समस्यायें थीं। आरम्भ मे भारत का क्षेत्र विशाल होने के कारण कई विषमताएँ थीं और आज भी हैं। इसके अलावा अशिक्षा बेरोजगारी विस्थापितो के लिए व्यवस्था उपजाऊ क्षेत्र का पाकिस्तान मे चला जाना, आर्थिक ससाधनो का अभाव आदि समस्याये प्रमुख थीं। इन समस्याओ का समाधान केवल नियोजित व्यवस्था द्वारा ही किया जा सकता था। प्रारम्भ मे संविधान निर्माताओ का ध्यान नहीं गया। नियोजित व्यवस्थाओ के लिये स्वतन्त्र नियोजन तत्र की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कार्यपालिका आदेश द्वारा भारत में मार्च 1950 मे योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग को भारतीय समाज का चहुमुखी विकास करने के लिये दीर्घकालीन पचवर्षीय योजनाओं के निर्माण का दायित्व सौपा गया। इसी सदर्भ मे भारतीय ससद मे एक प्रस्ताव स्वीकार कर भारत मे समाजवादी व्यवस्था स्वीकार की गयी। स्वर्गीय पडित नेहरू अपने जीवन भर ससदीय ढग या अहिंसात्मक तरीके से लोकतान्त्रिक समाजवाद को लाने का प्रयत्न करते रहे। उन्होने आर्थिक असमानताएँ दूर करने तथा जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिये कई कानून बनाए। स्वर्गीय नेहरू का समाजवाद एक जीवन दर्शन है। श्री के० दामोदरन ने लिखा है कि, "नेहरू के लिए समाजवाद एक आर्थिक व्यवस्था ही नहीं बल्कि एक जीवन दर्शन भी है।" नेहरूजी की लोकतन्त्रात्मक समाजवाद मे दृढ आस्था थी। उनके विचार मे भारत की निर्धनता निरक्षरता तथा असमानता केवल समाजवाद द्वारा ही दूर हो सकती थी। 7 अप्रेल, 1948 को उन्होने समाजवाद से प्रेरित होकर आर्थिक नीति की घोषणा की थी जिसके परिणामस्वरूप अणुशक्ति, रेलवे तथा 6 अन्य प्रमुख उद्योगो में सरकार का स्वामित्व स्थापित करने का प्रयास किया गया था।

जनवरी 1955 में उन्होंने अवाडी (मद्रास) कांग्रेस अधिवेशन मे समाजवादी समाज की रचना का प्रस्ताव यू एन ढेबर ने कांग्रस के सामने रखा। नेहरू इस प्रस्ताव पर काफी उत्साहपूर्वक बोले। इस प्रस्ताव के सदर्भ म ही संविधान के अनुच्छेद 31 में परिवर्तन की व्यवस्था की गई जिसके द्वारा सम्पत्ति के अधिकरण के विषय मे ससद को निश्चय करना था। नेहरूजी ने उस अवसर पर कहा था—"समाजवाद का अर्थ धन का वितरण नहीं है, और न ही केवल जनकल्याणकारी राज्य का निर्माण है। समाजवादी अर्थव्यवस्था मात्र से लोककल्याणकारी राज्य सम्भव नहीं बन सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि देश मे उत्पादन बढाया जाए, धन की वृद्धि हो और फिर अर्जित धन का समुचित ढग से वितरण किया जावे।

जनवरी 1959 में उनके आग्रह पर सहकारी खेती का प्रस्ताव कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में पारा कराया गया स्वर्गीय नेहरू भारत की निर्धनता को मिटाने के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था को आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार व्यक्तिगत एकाधिकार तथा कुछ पूँजीपतियों के हाथों में पूँजी का केन्द्रीकरण रोकते हुए उत्पादन को बढ़ाना आवश्यक है और शहरी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उपयुक्त सतुलन स्थापित करना भी आवश्यक है। अत उन्होंने योजनाबद्ध विकास के लिये कदम उठाने के लिए पचवर्षीय योजनाएँ बनायीं तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम चलाए। इसके लिए लोकतान्त्रिक ढग तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनायी। उन्होने जीवन, समाज और सरकार के सम्बन्ध में समाजवाद तथा प्रजातंत्र को मिलाना चाहा था। लोकतान्त्रिक साधनों से भारत में समाजवाद की स्थापना का प्रयास किया गया था। जनवरी 1964 मे भुवनेश्वर अधिवेशन में नेहरू जी ने भारत में समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य दोहराते हुए कहा था "हमने समाजवाद का उद्देश्य केवल इसलिए स्वीकार नहीं किया कि हमे ठीक तथा लाभकारी जॅचता है, वरन् इसलिए स्वीकार किया है कि हमारी आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए हमारे सामने इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। बहुधा कहा जाता है कि शातिपूर्ण तथा लोकतत्रीय उपायों से तीव्र प्रगति नहीं की जा सकती मैं यह नहीं मानता। सचमुच, आज के भारत में लोकतान्त्रिक उपायों के नहीं अपनाने के किसी भी प्रयास का परिणाम विनाशकारी होगा और इस प्रकार तुरन्त प्रगति करने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी।"

स्वर्गीय नेहरू ने आगे स्पष्ट करते हुए कहा "ससार की तथा भारत की समस्याओं का समाधान केवल समाजवाद द्वारा ही सम्भव दिखाई पडता है और जब मैं इस शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो केवल मानवीय नाते से नही बल्कि वैज्ञानिक-आर्थिक दृष्टि से भी करता हूँ, किन्तु समाजवाद आर्थिक सिद्धान्त से भी कुछ अधिक महत्वपूर्ण है, यह एक जीवन दर्शन है इसलिये यह मुझे जॅचता भी है। मेरी दृष्टि में निर्धनता चारों ओर फैली बेरोजगारी भारतीय जनता का अध पतन तथा दासता को समाप्त करने का मार्ग समाजवाद को छोडकर अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं दिखता।"

पडित नेहरू ने एक ऐसे लोकतात्रिक समाजवाद की स्थापना का समर्थन किया है, जो भारत के नागरिकों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न कर सके। भारतीय सविधान मे न्याय की स्वतन्त्रता को समानता से ऊपर रखा गया है। न्याय की भावना से तात्पर्य समाज के सभी वर्गों और व्यक्तियों के हितों में सामजस्य स्थापित करना और उन सबका समान अभ्युदय करना है। भारतीय सविधान में न्याय का आदर्श मानव मात्र का अधिकतम हित करना वर्णित है न कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित।

स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं ससद में प्रस्ताव स्वीकार करने के बाद से कई लोकतान्त्रिक विचारकों राजनीतिक नेताओं, समितियों ने भारत के लिए लोकतात्रिक समाजवादी व्यवस्था का समर्थन किया है। सरदार स्वर्णसिंह की अध्यक्षता में गठित समिति ने यह

सिफारिश की थी कि संविधान में समाजवादी व्यवस्था को स्पष्ट रूप से अपनाने के लिए संविधान की प्रस्तावना में ही समाजवादी शब्द जोड़ दिया जाना चाहिये। सन् 1970 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने यह अनुभव किया था कि देश के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या गरीबी है। इस समस्या को एक चुनौती मानते हुए इसके निराकरण के प्रयास किये जाने चाहिये। स्वर्णसिंह समिति की सिफारिश स्वीकार करते हुए 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा संविधान की प्रस्तावना में समाजवादी शब्द जोड़ दिया गया। तब से संविधान की प्रस्तावना में लिखा है कि "हम भारत के लोग भारत में एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिये

उक्त प्रस्तावना से स्पष्ट है कि भारत में समाजवादी व्यवस्था स्वीकार की गयी है। भारतीय संविधान के चतुर्थ अध्याय के अनुच्छेद 38 में यह वर्णित है कि राज्य का कर्त्तव्य होगा कि वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करे जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय स्वीकार किया जाय और लोककल्याण की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करे।

सामाजिक न्याय समाजवाद का मूलभूत सिद्धान्त है। इसका अर्थ है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न माना जाए हर व्यक्ति को अपनी शक्तियों के विकास के समान अवसर मिले किसी भी व्यक्ति का किसी भी रूप में शोषण न हो और उसके व्यक्तित्व को एक सामाजिक विभूति माना जाए किसी परोक्ष लक्ष्य की सिद्धि मात्र नहीं। सामाजिक न्याय की अपेक्षा आर्थिक न्याय अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक न्याय के अभाव में सामाजिक न्याय कोरी कल्पना है। आर्थिक न्याय का अर्थ है कि धन सम्पदा के आधार पर व्यक्ति व्यक्ति के बीच विच्छेद की कोई दीवार नहीं खड़ी की जा सकती है। एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का या एक वर्ग का दूसरे वर्ग का शोषण करने का अधिकार नहीं है।

सामाजिक और आर्थिक न्याय का संविधान के अनुच्छेदों 14, 15 16 23 39, 41 42, 43 45, 46 और 47 में स्पष्टतः परिभाषित किया गया है। अनुच्छेद 14 के अनुसार कानून के समक्ष सबको समान संरक्षण प्राप्त है। अनुच्छेद–15 धर्म जाति, लिंग या जन्म स्थान आदि के आधार पर विभेद का निषेध करता है। अनुच्छेद 16 राज्याधीन पदों पर नियुक्तियों में सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करता है। अनुच्छेद 23 में पण्य और बलात् श्रम अथवा बेगार का अन्त कर दिया गया है। अनुच्छेद 39 में राज्य से कहा गया है कि वह अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करे जिससे सभी स्त्री-पुरुषों को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार हो, जिससे अधिकाधिक सामूहिक हित सम्भव हो सके। आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन और उत्पादन तथा वितरण के साधनों का सर्वसाधारण के लिये अहितकर केन्द्रण न हो। स्त्री-पुरुषों को समान कार्य

के लिये समान वेतन मिले। श्रमिकों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालको की सुकुमारता का दुरुपयोग न हो। आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर किसी ऐसे व्यवसाय की शरण न लेनी पड़े जो उसकी आयु अथवा शक्ति के उपयुक्त न हो। बाल्य व किशोर अवस्था का शोषण तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

अनुच्छेद 41 मे स्पष्ट कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओ के भीतर काम पाने शिक्षा पाने तथा बीमारी बुढ़ापा बेकारी आदि अभाव की दशाओ मे सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद 42 द्वारा राज्य को निर्देश दिया गया है कि वह काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए कार्य करे। राज्य अनुच्छेद 43 के अतर्गत श्रमिको के लिये निर्वाह मजूरी का प्रबन्ध करे। अनुच्छेद 45 मे बालको के लिए नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान है। अनुच्छेद 46 द्वारा अनुसूचित जातियो आदिम जातियो और अन्य दुर्बल वर्गो की शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितो की उन्नति का सकेत है। अनुच्छेद 47 मे आहार पुष्टि और जीवन स्तर ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार करना राज्य का कर्त्तव्य कहा गया है।

भारत में प्रचलित प्रशासनिक संस्थाएँ

कोई भी संविधान चाहे कितने ही महान् उद्देश्यों को लेकर बनाया गया हो उसको शक्तिशाली बनाने के लिये उसके उद्देश्यो की व्यावहारिक क्रियान्विति आवश्यक है। प्रशासनिक संस्थाएँ इसको करने के साधन हैं। भारतीय संविधान में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका की पृथक-पृथक ससद राष्ट्रपति प्रधानमत्री मत्रिपरिषद् और सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया है। इसके साथ ही प्रशासन के सचालन के लिये कई प्रकार की प्रशासनिक संस्थाओ एव सेवाओ का गठन भी किया गया है। जिनमें से प्रमुख सेवाएँ निम्नलिखित हैं –

1 अखिल भारतीय सेवा–संविधान में तीन अखिल भारतीय सेवाओ का उल्लेख है– भारतीय प्रशासनिक सेवा भारतीय पुलिस सेवा और भारतीय वानिकी सेवा। अखिल भारतीय सेवाओ में केन्द्र और राज्यो दोनों के लिये सेवायें हैं। इन अखिल भारतीय सेवाओं मे चयन एव नियुक्तियों का अधिकार केन्द्र के पास है। अनुच्छेद 312 द्वारा ससद कानून बनाकर केन्द्र और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओ का सृजन कर सकती हैं। एस.के.राय के अनुसार "अखिल भारतीय सेवाओ के कर्मचारी पूर्णत केन्द्रीय अथवा राज्य सेवाओ मे नही होते अपितु मान्य नियमो के दोनो ही स्तरो पर की जा सकती है। जबकि उनकी भर्ती और नियत्रण मोटे रूप से सघ लोक सेवा आयोग के माध्यम से केन्द्र सरकार ही करती है।

2 सघ लोक सेवा आयोग–लोकसेवा आयोग कर्मचारियों की भर्ती हेतु एक परामर्शदात्री निकाय है। संविधान के अनुच्छेद 315 के अनुसार केन्द्र के लिये एक और

एव सस्थाओ की भूमिका पहले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। इन प्रशासनिक सस्थाओ की अपनी विशिष्टताएँ योग्यताएँ और अनुभव हैं। अहस्तक्षेपवादी राज्य में राज्य के कार्य मात्र देश की सुरक्षा और कानून व्यवस्था बनाये रखना था। देश की अर्थव्यवस्था शिक्षा स्वास्थ्य आदि कार्यों से राज्य का कोई सम्बन्ध न था। आज लोककल्याणकारी राज्यो की स्थापना सर्वत्र हो गई है। राजतत्र का स्थान प्रजातत्र ने ले लिया है। जनता सभी कार्यों एव सुखो की अपेक्षा राज्य से करने लगी है। सरकारो से अर्थव्यवस्था को विनियमित करने की अपेक्षा भी की जाने लगी है। भारत जैसे विकासशील देश मे उत्पादन में वृद्धि के लिये अर्थव्यवस्था का विनियमित होना अत्यन्त आवश्यक है। भारत मे एक ओर बेरोजगारी और गरीबी की विकट समस्या है तो दूसरी ओर एकाधिकारवादी शक्तियो का बोलबाला है। सरकार कर लगाकर मुद्रा की पूर्ति की व्यवस्था करने के लिए अर्थव्यवस्था सम्बन्धी नियम बनाती है और नियोजित अर्थव्यवस्था द्वारा आर्थिक प्रगति का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करती है। सरकार सचार और परिवहन साधनो का विकास करती है ताकि उत्पादित माल को बाजार मे बेचा जा सके। उद्योगपतियो को अपने उत्पादन के लिये कच्चे माल और किसानो को ऋण की नितात आवश्यकता होती है। सरकार दोनों को कच्चा माल और ऋण उपलब्ध कराती है। सरकार के सभी कार्य किसी न किसी विभाग या राष्ट्रीयकृत बैको द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। अत प्रशासनिक सस्थाएँ और अभिकरण आर्थिक क्षेत्र में अहम् भूमिका निर्वाह करते हैं।

प्रशासनिक सस्थाओ का महत्वपूर्ण योगदान न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक क्षेत्र का दायित्व निर्वाह करने मे भी है। राज्य की शिक्षा स्वास्थ्य एव चिकित्सा परिवार कल्याण आदि सामाजिक सेवाओ का सम्बन्ध विश्वविद्यालय अस्पताल परिवार कल्याण केन्द्र आदि प्रशासनिक सस्थाओ से है। यही सस्थाएँ सामाजिक नीतियो के क्रियान्वयन के लिये उत्तरदायी हैं।

भारत विकासशील देश होने के साथ-साथ रूढिवादी भी है। यहाँ कई प्रकार की सामाजिक बुराइयॉ व्याप्त है जिन्हें दूर करने के लिये सरकार कटिबद्ध है। कई प्रशासनिक सस्थाएँ इन बुराइयो– बाल-विवाह छुआछूत, दहेज-प्रथा बहु-विवाह आदि को दूर करने के लिये ही स्थापित की गई हैं।

ज्यों-ज्यो राज्य का सामाजिक आर्थिक क्षेत्रो मे हस्तक्षेप बढता गया त्यो-त्यो सरकारी कार्यों मे तीव्र वृद्धि होती गई। सरकारी कार्यो की वृद्धि के साथ-साथ नवीन प्रशासनिक सस्थाओ और अभिकरणों का जन्म होता गया। ज्यो-ज्यो सरकारी कार्यों की प्रकृति जटिल और विशिष्ट होती गई त्यो-त्यों प्रशासनिक सस्थाओं और अभिकरणों की निर्भरता बढती गई और इनकी भूमिका अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गई है।

□□□

अध्याय–2

अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा

प्राचीन काल से सभी देशों के दार्शनिकों ने इस बात पर बल दिया है कि राज्य मानव कल्याण हेतु ही स्थापित किया गया है। भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों–मनुस्मृति महाभारत कौटिल्य अर्थशास्त्र और चाणक्य द्वारा लिखित ग्रन्थों से भी यही स्पष्ट होता है कि आदि काल में राज्य जैसी कोई संस्था नहीं थी। लोग स्वेच्छा से इधर-उधर घूमते थे। आगे चलकर लोग आपस में झगड़ने लगे और जीवन असह्य हो गया। कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए शांति की खोज में लोगों के कल्याण के लिए राज्य की नींव पड़ी। मानव कल्याण के क्षेत्र में राज्य की भूमिका एक विवादास्पद प्रश्न है? इस बारे में राजनीति विज्ञान के विद्वान आपस में सहमत नहीं हैं।

प्राचीन काल में यहूदी लेखक राज्य को ईश्वर द्वारा बनाई गई एक संस्था मानते थे। उनके मतानुसार व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। वे राज्य को सबसे ऊँची नैतिक संस्था मानते थे। जीवन के किसी भी क्षेत्र में राज्य हस्तक्षेप कर सकता था। प्लेटो ने राज्य को व्यक्ति का ही विराट स्वरूप कहा था। अरस्तु के मतानुसार– "राज्य एक सबसे ऊँची संस्था है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति की अधिक से अधिक भलाई करना है। राज्य के बिना व्यक्ति का हित सम्भव नहीं है।" अतः वे राज्य से अलग रहने वाले व्यक्ति को पशु या देवता समझते थे।

आदर्शवादी लेखकों का मानना था कि व्यक्ति राज्य के भीतर रहकर अपनी पूर्ण उन्नति कर सकता है। जर्मन लेखक हीगल के अनुसार– "राज्य ईश्वर का रूप है।" बोसांके ने भी राज्य को व्यक्ति से बहुत ऊँचा माना है। अतः आदर्शवादियों के विचार में व्यक्ति की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। व्यक्ति को राज्य का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह राज्य की आज्ञा का पालन बिना किसी हिचकिचाहट के करे, क्योंकि राज्य की इच्छा ही व्यक्ति की सच्ची और वास्तविक इच्छा है। हिटलर और मुसोलिनी राज्य को व्यक्ति से ऊँची संस्था समझते थे। उनके मतानुसार "व्यक्ति को राज्य की इच्छा और गौरव के लिये सर्वस्व न्यौछावर करना चाहिये।"

ट्रीटस्के के अनुसार– "राज्य शक्ति है और हमारा कर्तव्य है कि नतमस्तक होकर उसकी पूजा करें।" अराजकतावादी लेखक राज्य को अनावश्यक समझते हैं और उसको समाप्त करना चाहते हैं। इन विचारकों का मानना है कि राज्य को समाप्त करने

के लिए हिंसा का सहारा लिया जाना अनुचित नही होगा क्योकि राज्य और उसमें कार्यरत सरकार मानव स्वतन्त्रता विरोधी होती हैं। बहुलवादी विचारक भी राज्य को सबसे ऊँची सस्था मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनके विचार से राज्य को अन्य सस्थाओ की भाति एक सस्था ही समझना चाहिए लेकिन ब्लुशली तथा विलोबी के अनुसार– "राज्य सबसे ऊँची और अच्छी सस्था है क्योकि यह लोगों की भलाई के लिए कार्य करती है।"

वस्तुत राज्य के कार्य-क्षेत्र एव भूमिका को लेकर राजनीति विज्ञान मे कई विचारधाराएँ प्रचलित हैं। इन्हीं विचारधाराओ में से एक विचारधारा अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा है। मुख्यत यह अवधारणा राज्य व सरकार के कार्यों अधिकारों और शक्ति के क्षेत्र से सम्बन्धित है।

अहस्तक्षेपवादी विचारधारा

'लेसेज फेयर' फ्रेंच भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है– व्यक्ति को अकेला छोड दो ताकि वह अपना कार्य स्वय की इच्छानुसार कर सके। वस्तुत अहस्तक्षेपवादी विचारधारा व्यक्तिवादी विचारधारा पर आधारित है। अहस्तक्षेपवादी विचार व्यक्तिवादी विचार का पर्यायवाची है। इसे 'राम भरोसा सिद्धान्त' भी कहते हैं।

अहस्तक्षेपवादी चिंतकों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक बल दिया है। राज्य को व्यक्ति के निजी मामलों मे दखल देने से मना किया है। वे राज्य को एक आवश्यक बुराई भी मानते है। राज्य एक ऐसी बुराई है जिसे स्वीकार करना हमारे लिए अनिवार्य है। ऐसी दशा मे राज्य का कार्यक्षेत्र कम से कम होना चाहिए। मानव समाज में शांति और व्यवस्था बनाए रखने और बाह्य आक्रमणो से देश की रक्षा करने के लिए जो बातें आवश्यक हैं केवल वहीं तक राज्य का कार्य क्षेत्र होना चाहिए। राज्य की आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य अपूर्ण है वह अभी आदर्श से कोसो दूर है। वह स्वय सबके हितों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता है। सर्वहित के स्थान पर स्वहित की बात करता है। कुछ राजनीतिक विचारको ने इस बात को इस तरह से कहा है कि आदर्श शासन वह है जब कोई शासन नहीं हो या श्रेष्ठ राज्य वही है जो कम से कम शासन करता है।

अहस्तक्षेपवादी विचारधारा के प्रमुख समर्थक जे एस मिल हर्बर्ट स्पेन्सर एडम् स्मिथ मिल्टन लॉक आदि हैं। इन सभी ने अहस्तक्षेपवाद को मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इनका नारा था "ससार जैसा चलता है चलने दो उसके कार्यों मे हस्तक्षेप मत करो क्योकि वह अपना नियत्रण स्वय कर लेता है।"

अहस्तक्षेपवादी राज्य विचारधारा का विकास

सत्रहवीं एव अठारहवीं शताब्दी में यूरोप के राज्य द्वारा व्यक्ति के सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक क्षेत्र में नियत्रण की प्रवृत्ति तीव्र हो गई थी। इस समय यूरोप का समाज कृषि प्रधान था। वहीं व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। इस स्थिति का सामना करने के लिए बुद्धिवादी मार्टिन लूथर द्वारा धार्मिक सुधार

आन्दोलनों और औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ किए गए। यूरोप के अधिकाश राज्यों मे प्रचलित धर्म श्रद्धा और आस्था जैसी शब्दावलियो का बुद्धिवाद ने जमकर विरोध किया। परिणामस्वरूप मार्टिन लूथर के धार्मिक सुधार आन्दोलन द्वारा दैवी सिद्धान्त का विरोध तथा पोप की अतिम सत्ता को चुनौती दी गई। राजनीतिक क्षेत्र मे समझौता सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। औद्योगिक क्षेत्र मे हुई क्रांति ने समाज की काया पलट दी। उद्यमी अपने स्वार्थ हित साधन हेतु राज्य से नई माग करने लगे जैसे खुली प्रतियोगिता खुला बाजार लाभ कमाने के अनियत्रित अधिकार आदि। पर राज्य के अत्यधिक नियत्रण से व्यापार और उद्योगो का दम घुटने लगा। कुछ अर्थशास्त्रियो ने अनुभव किया कि इन क्षेत्रों मे राज्य का हस्तक्षेप नही होना चाहिए। इनके मतानुसार आर्थिक क्षेत्र मे भी कुछ प्राकृतिक नियम लागू होते हैं। जैसे सूर्य नियम से उदय होता और नियम से अस्त होता है। चाद तारे आदि निश्चित नियमों के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड मे परिभ्रमण करते हैं। ऋतुओ के अपने नियम हैं। फसलो के बीजारोपण, उनका पकने, उनको काटने सम्बन्धी भी प्राकृतिक नियम हैं। *आर्थिक जीवन मे माँग और पूर्ति मजदूरी आदि के नियम प्राकृतिक नियमो के अन्तर्गत* आते हैं। अत मनुष्य को इन प्राकृतिक नियमो के अनुसार कार्य करना चाहिए। राज्य का इन नियमों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। इस सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार सर्वप्रथम अठारहवी शताब्दी मे एक फ्रेंच विचारक क्वेरनो द्वारा किया गया था।

अर्थशास्त्र के उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन एडम स्मिथ ने अपनी विश्वविख्यात ग्रथ 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' मे किया है। एडम स्मिथ ने अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित आर्थिक क्षेत्र में नियत्रण हेतु राज्य कानूनो के निर्माण का प्रबल विरोध किया था। इस विचारधारा का प्रभाव फ्रास और जर्मनी मे भी पहुँचा। अनेक विद्वानो ने एडम स्मिथ के विचार का समर्थन किया। परिणाम यह हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन सहित कई राज्यो ने मुक्त द्वार वाणिज्य (फ्री ट्रेड) की नीति का सहारा लिया। फ्रास के प्रारम्भिक विचारको विल्हेम हम्बोल्ट ने 'गवर्नमेन्ट मिनिमम' लिखते हुए कहा था कि राज्य को जहाँ तक हो सके न्यूनतम कार्य करने चाहिए। इग्लैण्ड मे एडम स्मिथ ने इन्ही विचारों का समर्थन अपने ग्रन्थ 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' मे किया था। एडम स्मिथ अपनी विदेश यात्रा के दौरान फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों के सम्पर्क में आए तथा वहाँ के उद्यमो पर राज्य नियत्रण के दुष्परिणाम देखे। तभी इस बात की ओर सकेत किया कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। आर्थिक क्षेत्र को व्यक्ति के लिये खुला छोड देना चाहिए।

अठारहवी सदी के अन्त मे एडम स्मिथ ने राज्यो द्वारा कानून बनाकर मजदूरों का काम करने का समय निश्चित किया जाना मालिको को मजदूरो को अनेक प्रकार की सुविधाएँ दिय जाने के लिये विवश करना माल की बिक्री में सरक्षण कर लगा कर बाधा उत्पन्न करने का विरोध किया। एडम स्मिथ के अनुसार आर्थिक मामले आर्थिक नियमो माँग और पूर्ति प्रतियोगिता बाजार के अनुसार स्वत हल हो जाएँगे, उनमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य का कार्य न्याय व्यवस्था तथा शाति बनाये रखना

है। राज्य को आर्थिक क्षेत्र में केवल रेफरी की भूमिका अदा करते हुए यह देखना चाहिये कि कार्य सही तरीके से हो रहा है या नही उसे स्वय खिलाडी नहीं बनना चाहिए। एडम स्मिथ की भाति माल्थस रिकार्डो ने आर्थिक अहस्तक्षेपवाद का समर्थन किया है।

जान स्टुअर्ट मिल (सन् 1723-1820) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक स्वाधीनता में अहस्तक्षेपवाद का समर्थन किया है। मिल ने मनुष्य के कार्यों को दो भागो मे बाटा था– (1) व्यक्तिगत–जिसका सम्बन्ध केवल उसके कर्त्ता के साथ से होता है (2) सामाजिक–जिनका सम्बन्ध उनके कर्त्ता व समाज दोनो से होता है। व्यक्तिगत कार्यों मे समाज / राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का स्वय विधाता है। अत समाज या राज्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्तिगत मामलो में हस्तक्षेप करे। सामाजिक कार्यों को नियंत्रित करने का अधिकार समाज या राज्य को है। राज्य को आवश्यक बुराई मानते हुए भी मिल ने राज्य को स्वीकार किया है और उसे न्यूनतम कार्य करने को कहा है।

हर्बर्ट स्पेन्सर (1820–1903) ने राज्य को एक बुराई मानकर राज्य के कार्यों एव शक्तियो का विरोध किया है। मनुष्य के लिए राज्य की सत्ता अनिवार्य नहीं है। उसका प्रादुर्भाव एक विशेष कारण से हुआ है और वह कारण है-- मनुष्य मे स्वार्थ भावना और अपराध की प्रवृत्ति। व्यक्ति जब इन दोनो अवगुणो से ऊँचा उठ जायेगा तो राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी। स्पेन्सर का कहना है कि ऐसा समय रहा है जब राज्य सस्था नही थी, भविष्य मे भी ऐसा समय आ सकता है जब राज्य सस्था न रहे। स्पेन्सर की दृष्टि मे राज्य को उन सब कार्यों को अपने हाथों मे नही लेना चाहिये जिन्हे लोक हितकारी कार्य कहा जाता है। स्पेन्सर व्यापार व्यवसाय आदि आर्थिक क्षेत्रो में राज्य द्वारा हस्तक्षेप का विरोधी था। वह यहाँ तक कहता था कि सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिये कानून बनाना भी अनुचित है। शिक्षा स्वास्थ्य डाक-तार टेलीफोन आदि के सचालन से सम्बन्धित कार्य भी राज्य को नही करने चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार उन्नति करने का पूरा अधिकार है। खुली प्रतियोगिता मे योग्य व्यक्ति आगे बढ जाएगा और अयोग्य पीछे रहेगा और उसे पीछे ही रहना चाहिए।

प्राणियो एव प्रकृति मे "योग्यतम की विजय" (सर्वायवल ऑफ दी फिटेस्ट) का नियम है। जगल में शेर जैसे ताकतवर जानवर ही जीवित रहते हैं तथा कमजोर पशु पक्षी उनके शिकार होते है। प्रकृति एव केवल वही पेड़-पौधे जीवित रहते हैं जो उपयुक्त प्रकाश जल जमीन खाद आदि का पोषण कर लेते है। यह नियम समाज पर भी लागू होता है। जिसके अनुसार योग्यतम व्यक्ति ही सफल होते हैं तथा अयोग्य, निर्धन तथा दुर्बल व्यक्ति समाप्त हो जाते हैं। इस व्यवस्था को कोई नही रोक सकता है। स्पेन्सर के अनुसार व्यक्ति को अपना विकास स्वय करने की छूट होनी चाहिए। राज्य का कार्य केवल यह होना चाहिए कि वह जनता की रक्षा आन्तरिक और बाह्य खतरों से करे और अनुबन्धो को लागू करे।

3 राज्य साधन है, साध्य नहीं–अहस्तक्षेपवादियो के अनुसार राज्य साधन है साध्य नही है। राज्य सस्था का जन्म ही व्यक्तियो के हितो की पूर्ति के लिए एक साधन के रूप मे हुआ है। व्यक्तियो का हित साध्य है राज्य उसका साधन है। अत साधन इतना अधिक महत्वपूर्ण नही होना चाहिए कि साध्य का अस्तित्व ही न रहे। बेन्थम के अनुसार "व्यक्ति के हित को समझे बिना समुदाय या समष्टि के हित की कल्पना करना कोरी बकवास है।" राज्य सस्था काल्पनिक है वह व्यक्तियों का समूह-मात्र है। व्यक्तियो के हित सुख मे ही राज्य की उन्नति है। अत जिस वस्तु से व्यक्ति का सुख एव हित मे वृद्धि होती है। उसी से राज्य या समुदाय के सुख एव हित मे वृद्धि होती है। यदि व्यक्ति चाहता है कि वह सुखी रहे तो उसे स्वय ही उसके लिए प्रयास करना होगा।

4 व्यक्ति को पूर्ण स्वतत्रता–अहस्तक्षेपवादियो के अनुसार व्यक्ति हित के लिये यह आवश्यक है कि उनमे खुली प्रतिस्पर्धा हो। सामाजिक सास्कृतिक क्षेत्रो मे वे एक-दूसरे का स्वतन्त्रतापूर्वक अधिकाधिक मुकाबला कर सके। प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपने हित का सर्वोत्तम रीति से सम्पादन कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हित स्वय सम्पादन करने का मौका मिलना चाहिए। इसके लिए व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए। अहस्तक्षेपवादी फ्रासीसी विचारको ने 'लैसे फेयर' शब्द प्रयुक्त किया था। जिसका अर्थ है – "स्वतन्त्रता से काम करने दो जैसा होता है वैसा होने दो।" राज्य के लिए यही उचित है कि व्यक्तियो को स्वतन्त्रता से काम करने दे जैसा होता है वैसे होने दे। आर्थिक क्षेत्र मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप का परिणाम यह होता है कि मनुष्य स्वतन्त्रता के साथ प्रयत्न नहीं कर पाते हैं इससे उसके व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो प्रकार के हितो मे बाधा उपस्थित होती है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने लिखा है "अतीत के अनुभवो ने हमे सिखाया है कि सुख कभी भी राज्य के प्रयत्नो से नही मिला है वरन् व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड देने से मिला है। राज्य का कार्य-क्षेत्र नकारात्मक नियत्रण ही होना चाहिए।" स्पष्ट है अहस्तक्षेपवादी आर्थिक क्षेत्र मे पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षधर हैं। वह आर्थिक विकास हेतु व्यवसाय और उद्यम पर राज्य का नियत्रण नही चाहते हैं। वह 'मुक्त व्यापार' मे विश्वास करते है। उनका विश्वास है कि माँग और पूर्ति जैसे प्राकृतिक नियम व्यापार को स्वत नियन्त्रित कर देते है। अत राज्य को आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए।

5 राज्य अयोग्य सस्था–अहस्तक्षेपवादी राज्य को एक अयोग्य सस्था मानते हैं। राज्य सस्था का अध्ययन करने से पता चलता है कि राज्य ने अनेक कानून मूर्खतापूर्ण रूप से निर्मित किये हैं जो व्यापार वाणिज्य एव औद्योगिक क्रियाओ को प्रभावित करते हैं। स्पेन्सर के अनुसार– "राज्य विधानमण्डलो मे अशिक्षित अनुभवहीन सदस्यो ने अतीत काल मे कितनी भयकर भूले कर समाज को हानि पहुँचाई है। अत भविष्य मे उन पर कोई भरोसा नही रखा जाना चाहिए।" अत अहस्तक्षेपवादियो के अनुसार राज्य द्वारा निर्मित मूर्खतापूर्ण कानून कभी भी व्यक्ति हित मे सफल नही हुये हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा के प्रमुख सिद्धान्त अग्रलिखित मान्यता पर आधारित है –

1 राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि अपराध होते हैं और राज्य के पास सुरक्षा की जिम्मेदारी है।
2 व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास केवल स्वतन्त्र वातावरण म ही सम्भव है।
3 मनुष्य का भौतिक और आर्थिक विकास मुक्त प्रतिस्पर्धा द्वारा ही सम्भव है।
4 राज्य को केवल नकारात्मक कार्य ही करने है।
5 राज्य के कार्यों मे निजी प्रेरणा का अभाव है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा के पक्ष मे तर्क

अहस्तक्षेपवादी राज्य के पक्षधर विचारको ने अहस्तक्षेपवादी राज्य के पक्ष मे अनक तर्क एव युक्तियाँ दी हैं। ये तर्क एव युक्तियाँ आर्थिक नैतिक ऐतिहासिक एव वैज्ञानिक दृष्टिकोणा से युक्त हैं। इन समस्त तर्कों का सक्षिप्त किन्तु उपयोगी विवरण निम्न प्रकार है –

1 नैतिक तर्क–अहस्तक्षेपवादियो का नैतिक तर्क यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व योग्यता बुद्धि आदि विशेषताएँ अलग-अलग हैं। अत उसे अपने विकास का पूरा-पूरा अवसर दिया जाय। कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास तभी कर सकता है जब राज्य सस्था उसके कार्यों म हस्तक्षप न करे। वह जिस प्रकार और जिस स्थान स चाहे शिक्षा प्राप्त कर। वह अपनी इच्छानुसार व्यवसाय या व्यापार करे। अगर धन सचित करना चाहता है ता उसे इसका पूरा अवसर मिलना चाहिए। स्वतन्त्र प्रतियोगिता व्यक्ति म उच्चतम सम्भावनाएँ विकसित करती है उसकी प्रेरक शक्तियो को तीव्र और सशक्त बनाती हे और उसकी आत्म निर्भरता की भावना म वृद्धि करती है। प्रत्यक व्यक्ति का स्वभाव है कि वह अपन निजी हित को अधिक महत्वपूर्ण मानता है।

राज्य अगर व्यक्ति क जीवन म हस्तक्षप करता है तो व्यक्ति की आत्मनिर्भरता और अत प्ररणा का ह्रास हाता है क्योंकि राज्य सभी व्यक्तियों क लिए एक जैसी व्यवस्था करता है। व्यक्ति की रुचि न होने के कारण वह उतना सहयोग नहीं करता है, जितना उस करना चाहिये। उदाहरणार्थ– व्यवसाय जब राज्य के अधीन हो जाता है तो उसके सचालको को कम खर्च करने और बढिया माल तैयार करने की प्रवृत्ति नहीं होती है। राज्य द्वारा सचालित सस्थान को व्यक्ति अपना निजी सस्थान समझकर कार्य नहीं करता है। वह अपना खून-पसीना एक कर कार्य करने म विश्वास नहीं रखता है। मनुष्य केवल मशीन के पुर्जे की भाँति कार्य करता है। वह अपने कार्य के साथ कोई स्वहित भावना भी नहीं रखता है। अत अहस्तक्षेपवादी नैतिक दृष्टि से व्यक्ति क विकास हेतु अधिकतम स्वतन्त्रता और राज्य सस्था के न्यूनतम हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं। इनके अनुसार व्यक्ति क जीवन का महत्वपूर्ण पहलू उसका नैतिक विकास है।

2 आर्थिक तर्क–आर्थिक दृष्टि से भी अहस्तक्षेपवादी समर्थकों का मानना है कि व्यक्ति अपनी आर्थिक उन्नति तभी कर सकता है जब उसे विश्वास हो जाए कि उसे

अपनी मेहनत का पूरा-पूरा फल मिल सकेगा। इनके अनुसार व्यक्ति अपने लाभ-हानि को अच्छी तरह समझता है। मनुष्य व्यवसाय कल-कारखाने खोलने नये साधनो का आविष्कार आर्थिक लालच के कारण ही करता है। यदि व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र मे स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है तो पूँजीपति को नये-नये व्यवसाय शुरू करने की प्रेरणा मिलती है। वह इस बात का प्रयास करता है कि अच्छी से अच्छी गुणवत्ता वाला माल सस्ती से सस्ती कीमत में तैयार किया जा सके। दूसरी ओर मजदूर को भी अवसर मिलता है कि वह अपने श्रम को खुले बाजार मे अच्छी से अच्छी शर्तों पर और अधिक से अधिक कीमत पर बेच सके। उपभोक्ताओं को यह मौका मिलता है कि वह माल को जिस बाजार से चाहे खरीद सके। सबकी प्रवृत्ति अधिक काम करने की होती है इससे व्यक्ति और समाज दोनों सम्पन्न होते हैं। इसके विपरीत जब राज्य आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप करता है या नियत्रण के नियम बनाता है तो मजदूरों मे कम से कम समय काम करके अधिक से अधिक मजदूरी प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है। राज्य द्वारा मजदूरो के हितों मे कानून बनने से मजदूर पूरी तरह अपनी शक्ति एव समय का उपयोग आर्थिक उत्पत्ति के लिये करना चाहता है। व्यापारी पूँजीपतियो में भी कार्य करने में शिथिलता दिखाई देती है। पूँजीपति की धारणा है कि राज्य ने कानून बनाकर मजदूरो के हित व लाभ के लिये जो व्यवस्था की है वह सर्वथा अनुचित है। इससे उनका सारा लाभ मजदूरो के पास चला जाता है। अगर सरकार वस्तुओ की कीमते स्थिर करने लगे या लाभ को नियन्त्रित करने लगे तो पूँजीपतियों मे अपने कार्य के प्रति उत्साह की कमी आ जाएगी।

अहस्तक्षेपवादी अर्थशास्त्रियों मे एडम स्मिथ माल्थस रिकार्डो तथा मिल का कहना है कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वस्तुओ का मूल्य माँग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार स्वत निर्धारित हो जाता है। अगर वस्तु का उत्पादन कम है और वस्तु की माग अधिक है तो वस्तु महँगी होगी। अगर वस्तु का उत्पादन बहुत अधिक मात्रा मे हुआ है और वस्तु की माग कम है तो वस्तु सस्ती होगी। वेतन व मजदूरी प्राकृतिक आर्थिक नियमों से निर्धारित होती है। जब मजदूरो की सख्या कम होगी तो उनका वेतन अधिक होगा। अगर मजदूरों की सख्या बहुत अधिक है तो उनका वेतन बहुत कम होगा। माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त के अनुसार जीवन सामग्री और खाद्य पदार्थों मे वृद्धि धनात्मक श्रृखला (अर्थमेटिकल प्रोग्रेशन) के अनुसार होती है पर जनसख्या वृद्धि गुणात्मक ढग (ज्योमेट्रीकल प्रोग्रेशन) से होती है। महामारी युद्ध अकाल सरीखी आपदाओं द्वारा सन्तुलन स्थापित हो जाता है। एडम स्मिथ का मत है कि आर्थिक विकास के लिये राज्य का आर्थिक क्षेत्र में नियत्रण नहीं होना चाहिये। बेन्थम ने यहाँ तक कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी भूमि श्रम पूँजी और सगठन से काम लेने मे सबका सामान्य हित साधन होता है।

पर पडता है। राज्य की बागडोर अनुभवहीन व्यक्तियों के हाथ में आ जाती है। वे न केवल उसके लिये उपयुक्त योग्यता रखते हैं वरन् उनकी दिलचस्पी भी नही होती है। राज्य सभी कार्य सुचारू रूप से नही कर सकता है। कार्य मे शिथिलता आती है और जनता को भी हानि का सामना करना पडता है। अपने कार्य मे प्रत्येक व्यक्ति विशेष रुचि रखता है वह जानता है अपना काम कैसे करना है। अत उस कार्य को उस मनुष्य के हाथ मे छोड दिया जाय तो व्यक्ति स्वतत्र प्रतियोगिता स्वतत्र विचार तथा रहन-सहन द्वारा अपनी शक्तियो का पूर्ण उपयोग कर उन्हे विकसित कर सकता है। फलत व्यक्ति और समाज दोनो का समान रूप से हित होगा।

अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा की आलोचना

अहस्तक्षेपवादी विचारधारा के विरोधी विचारकों का मानना है कि अहस्तक्षेपवादी विचारकों ने अपने तर्कों द्वारा राज्य के कार्यो का भ्रातिपूर्ण चित्रण किया है। जिसे पूर्णतया सही नही कहा जा सकता है ऐसे आलोचकों ने अहस्ताक्षेपवादी विचारधारा की आलोचना निम्न प्रकार प्रस्तुत की है –

1 **राज्य आवश्यक बुराई नहीं**–अहस्तक्षेपवादियो द्वारा राज्य को एक आवश्यक बुराई कहना नितात गलत है। आलोचको का मानना है कि मनुष्य पूर्णतया धार्मिक, सदाचारी परमार्थी हो जाएगा तब भी राज्य की आवश्यकता रहेगी। राज्य का कार्य केवल मात्र अपराधियो को दण्ड देना या बुराई को रोकना ही नही है। राज्य मनुष्यो के सामुदायिक हितो को प्रोत्साहित करता है। मनुष्य अपनी उन्नति राज्य के सरक्षण मे रहकर ही कर सकता है। राज्य व्यक्तियों के कल्याण हेतु कई योजनाएँ बनाता है। मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। वह समुदाय बनाकर रहता है। सामूहिक रूप से अपनी उन्नति करता है। राज्य भी मनुष्यो का एक समुदाय है। राज्य मनुष्यो की सामूहिक उन्नति का साधन है। अरस्तु ने कहा था कि "राज्य का जन्म मनुष्य जीवन के लिये ही हुआ है पर उसकी सत्ता अधिक उत्तम जीवन के लिये रहती है। राज्य के अभाव में मानव जीवन असुरक्षित है। राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति के जान और माल की रक्षा करना है। इसी कार्य के लिये राज्य की उत्पत्ति की गई थी । पर आज राज्य मानव कल्याण और विकास के लिये कई योजनाएँ भी बनाता है, उन्हें क्रियान्वित भी करता है। अहस्तक्षेपवादियों की यह भूल है कि व्यक्ति को स्वतत्र छोड देने मात्र से सभ्यता को बढावा मिलता हैं। वस्तुत एक उन्नत सभ्यता के लिये मानव जीवन की गतिविधियो मे राज्य द्वारा नियमन किया जाना चाहिए और यह जरूरी भी है । बर्कि ने ठीक ही कहा है कि –"राज्य की सभी विज्ञानों में भागीदारी है सभी कलाओं में भागीदारी है सभी गुणों मे और सभी उचित प्रकारो मे भागीदारी है। राज्य मानव विकास और उन्नति के लिये आवश्यक है। इसे अनावश्यक बुराई कहना उचित नहीं है।"

2 **व्यक्ति सदैव अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक नही होता**–अहस्तक्षेपवादी विचारको का यह तर्क कि व्यक्ति अपने हितो का स्वय निर्णायक है और अपना भला-बुरा व्यक्ति अच्छी तरह जानता है और अपने हित मे कार्य करने की उसमे क्षमता भी

है ठीक नही है। आज विकसित सभ्यता से मानव जीवन मे काफी परिवर्तन आ गया है। समाज का स्वरूप भी जटिल हो गया है । ऐसी स्थिति मे व्यक्ति के लिये अपने हित की बात समझना सम्भव नही रहा है। उदाहरणार्थ– एक व्यक्ति बाजार मे अपनी भूख-प्यास मिटाने के लिए किसी दुकान से खाने के लिए खरीदता है या कोई पेय पदार्थ खरीदता है तो उसे इस बात की स्वय जानकारी नही है कि वह खाद्य पदार्थ या पेय शुद्ध है या कीटाणु रहित है । न ही व्यक्ति को इस बात का ज्ञान हो पाता है कि जहा वह किराये के मकान मे रह रहा है उसके आसपास उसके स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाला वातावरण है । आलोचको के कथनानुसार राज्य का स्वास्थ्य विभाग ही केवल व्यक्ति के स्वास्थ्य के बारे मे सोच सकता है। राज्य कानून बनाकर बाजार मे शुद्व वस्तुओ के वितरण की व्यवस्था करता है। आवासीय कॉलोनी के आसपास के वातावरण को मनुष्य के स्वास्थ्य के अनुरूप बनाता है।

राज्य ही व्यक्ति की और सन्तानो के लिये उपयोगी शिक्षा की व्यवस्था करता है। क्योकि व्यक्ति स्वय नही जानता है कि उनके बच्चो के लिए किस विषय की शिक्षा उपयोगी है । गार्नर ने लिखा है "प्रत्येक देश मे ऐसे व्यक्ति हैं जो इन खतरो को दूर करने का विचार नहीं कर सकते जिनके बारे मे वे अनभिज्ञ हैं। राज्य कभी-कभी मनुष्य की मनोवैज्ञानिक, नैतिक और यहाँ तक कि शारीरिक आवश्यकताओं की व्यवस्था हेतु स्वय व्यक्ति की अपेक्षा अच्छा निर्णय करता है।" व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओ के साथ-साथ सामाजिक आवश्यकताएँ भी होती है। व्यक्ति स्वार्थवश केवल अपने बारे मे ही सोच सकता है समाज के बारे मे वह अधिक नहीं सोच सकता। कई बार एक व्यक्ति का हित दूसरे व्यक्ति के हित या मार्ग में बाधा उत्पन्न कर देता है। ऐसे में राज्य के पास अपेक्षाकृत अधिक समझ है। अहस्तक्षेपवादियो ने केवल व्यक्ति की स्वतत्रता पर ही जोर दिया है। वह यह भूल गये हैं कि व्यक्ति स्वतत्रता का कोई सामाजिक पक्ष भी होता है।

3 राज्य और व्यक्ति स्वतत्रता परस्पर विरोधी नहीं–अहस्तक्षेपवादी विचारक मानते हैं कि राज्य और व्यक्ति-स्वतत्रता परस्पर विरोधी हैं। राज्य के पास जितनी अधिक शक्ति होगी व्यक्ति-स्वतत्रता उतनी ही कम होगी। राज्य द्वारा मानव जीवन में हस्तक्षेप एव नियत्रण का अर्थ व्यक्ति की स्वतत्रता को छीनना है यह मानना उचित नहीं है। राज्य द्वारा मानव जीवन मे हस्तक्षेप एव नियत्रण से व्यक्ति-स्वतत्रता का हनन नही होता है वरन् उसे अधिक शक्तिशाली व्यक्तियो के दबाव से मुक्त रखकर स्वतत्रता के साथ विकास व उन्नति करने का अवसर प्रदान करना है। राज्य नियत्रण से तात्पर्य निर्बल और शक्तिहीनो को भी स्वतत्रतापूर्वक जीने एव विकास करने का अवसर मिलना है। उदाहरणार्थ– धनी पूँजीपति अपनी पूँजी लगाकर कारखाना खोलता है। वह मजदूरो का शोषण करता है। ऐसे मे धनी व्यक्ति और अधिक धनी और निर्धन और निर्धन हो जाएगा। यह व्यवस्था अनियत्रित औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न होगी। राज्य पूँजीपतियो की इस

स्वतत्रता को नियन्त्रित कर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है कि मजदूर को उचित वेतन मिल सके तथा उनके शोषण को रोका जा सके । राज्य के इस कार्य से मजदूरो मे आत्मविश्वास एव अपनी उन्नति करने का अवसर मिलता है। राज्य कानून बनाकर व्यक्ति-स्वतत्रता के लिये जो सीमाएँ निर्धारित करता है वह केवल व्यक्ति की स्वतत्रता की रक्षा के लिये नही वरन् सामाजिक स्वतत्रता मे सहायक होती है ।

4 **राज्य की असफलता का गलत तर्क**–अहस्तक्षेपवादियो के अनुसार इतिहास से पता चलता है कि जब-जब राज्य ने व्यापार व व्यवसाय के क्षेत्र मे हस्तक्षेप किया है उसे असफलता ही मिली है। यह सत्य है कि भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। राज्य मनुष्यो की एक सस्था है। मनुष्य ही सरकार के रूप मे कार्य करता है। ऐसे मे राज्य कार्यों मे भी भूल होना स्वाभाविक है। जब निजी व्यापार व व्यवसाय का सचालन व्यक्ति करता है उसमे भी भूल होती है। इसी कारण हक्सले ने कहा है कि "राज्य या सरकार की स्थिति एक ऐसे मनुष्य के समान है जो शीशे के बने घर मे रहता है जनता उसके कार्यों और असफलताओ को प्रत्यक्ष देख सकती है और सदा उसकी आलोचना का अवसर पाती रहती है।" इसके विपरीत निजी व्यवसाय व व्यापार उस मनुष्य के समान है जो पत्थरो के बने अपारदर्शी किले मे रहता है जिसे कोई देख नही सकता है और जिसके पास कोई पहुँच नही सकता है। इस दशा मे व्यक्ति की भूल एव असफलता का ज्ञान जनता को हो सके, तो आश्चर्य की कोई बात नही है।

राज्य और व्यक्ति दोनों द्वारा व्यापार व व्यवसाय मे भूल होना सम्भव है। राज्य की तुलना मे निजी व्यापार व व्यवसाय मे अधिक भूले होती हैं तभी तो कई व्यवसायियो का दिवाला निकल जाता है। वे अपनी भूलो के कारण अपनी देनदारी अदा नही कर सकते हैं । अन्तर केवल यह है कि व्यक्तिगत भूलों का जनता को पता नही चलता है। राज्य की भूलो की जानकारी समस्त जनता को हो जाती है।

5 **योग्यतम की विजय का सिद्धात अव्यवहारिक**–अहस्तक्षेपवादी विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने योग्यतम की विजय के सिद्धात की वकालत की है। यह सिद्धात मनुष्यो पर लागू नही किया जा सकता है क्योकि यह पशु जगत का सिद्धात है। मनुष्य मानवी दायित्वो और कर्त्तव्यो की समझ रखने वाला प्राणी है। उसका कर्त्तव्य है कि निर्बल एव असहायों की सहायता करे। मनुष्यों पर उक्त सिद्धात लागू करने का अर्थ हिंसक व्यक्तियों की विजय को स्वीकार करना है। जीवन सघर्ष मे सफलता प्राप्त करना योग्यता की कसौटी नहीं माना जा सकता है। हक्सले के शब्दों मे "राज्य एक मानवीय सस्था है और इसके अन्तर्गत पाशविक शक्ति से सम्बन्धित कानूनों का पालन नहीं किया जाना चाहिए। हमारा उद्देश्य योग्यतम व्यक्तियो को जीवित रखने की अपेक्षा सभी जीवित व्यक्तियों को योग्य बनाना होना चाहिए।"

6 व्यक्ति, राज्य और समाज की गलत धारणा–अहस्तक्षेपवादियो की धारणा है कि समाज समुदाय एव राज्य सभी संस्थाएँ व्यक्तिहित के लिए ही हैं जा पूर्णतया सही नही हैं। वस्तुत व्यक्ति की समाज समुदाय या राज्य से अलग कोई सत्ता नहीं होती है। अरस्तू के अनुसार– "मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे उत्पन्न होता है । समाज मे जीवन बीताता है और समाज मे ही उसकी मृत्यु होती है। समाज से बाहर मनुष्य या तो पशु हो सकता है या देवता।"

मनुष्य का व्यक्तित्व समाज की ही देन है । वास्तव में व्यक्ति समाज पर निर्भर हैं। आज मनुष्य जो दिखाई देता है उसका रूप समाज या राज्य की देन है। व्यक्ति का समाज या राज्य से बाहर कोई अस्तित्व है ही नहीं । यदि कोई मनुष्य रोबिन्सन क्रूसो के समान किसी द्वीप में अकेला रहे तो उसे सत्य अहिसा परोपकार दया आदि गुणो को विकसित करने का अवसर कहाँ प्राप्त होगा? हमारे जीवन के सभी कार्यों का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियो के साथ होता है। यही कारण है कि समाज मे रहते हुए व्यक्ति के कार्यों को नियन्त्रित करने की आवश्यकता होती है ताकि ये दूसरों के लिये हानिकारक न हों । समाज और राज्य द्वारा यह नियत्रण सम्भव है। स्पष्ट है कि व्यक्ति को समाज और राज्य की आवश्यकता है ।

7 राज्य और स्वतत्रता परस्पर विरोधी नहीं–अहस्तक्षेपवादी राज्य और स्वतत्रता को परस्पर विरोधी मानते हैं। यह धारणा सही नही है। आज इस बात को सिद्धात रूप में स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य स्वतत्रता विरोधी नहीं है वरन राज्य विभिन्न व्यक्तियों एव हितो मे सामजस्य स्थापित करने वाली सस्था है ताकि समाज से सभी व्यक्ति उन्नति कर सकें । यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि मनमाने ढग से कार्य करने को ही स्वतत्रता नहीं माना जा सकता। सच्ची स्वतत्रता सामाजिक नियमो का पालन करके ही प्राप्त की जा सकती है। अहस्तक्षेपवादी विचारक मिल ने स्वतत्रता का अर्थ नकारात्मक स्वतत्रता मानते हुए राज्य को स्वतत्रता का विरोधी माना हैं। उदाहरणार्थ– एक बहुत छोटा बालक दिन भर इधर-उधर स्वतत्रतापूर्वक खेलता या घूमता रहता है, जब माता-पिता उसे जबरदस्ती स्कूल पढने के लिए भेजते हैं तो वह समझता है कि मेरी खेलने और घूमने की स्वतत्रता मे दखल दिया जा रहा है मेरी स्वतत्रता छीनी जा रही है। माता-पिता ने उसकी स्वतत्रता छीनी नहीं है वरन् उसे योग्य बनाने मे सहायता ही की है। जब वह पढ-लिख कर योग्य व्यक्ति बनता है तो सही माने मे स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है। ठीक यही स्थिति राज्य की है।

राज्य स्वतन्त्रता विरोधी नही है। वरन् राज्य नियम बनाकर अनेक लोककल्याणकारी कार्य और सुविधाएँ प्रदान करता है। व्यक्ति जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास करता है। अगर व्यक्तियों को स्वतन्त्रता दे दी जाएगी तो वो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने लगेगा तथा उच्शृखल हो जायेगे। यही नही अराजकतापूर्ण वातावरण हो जायेगा। अत राज्य के हस्तक्षेप के बिना सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव नही है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य में लोक प्रशासन

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अहस्तक्षेपवादी चिन्तक राज्य का मानव जीवन में अधिक हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। राज्य का कार्य क्षेत्र केवल अपराधों के विरुद्ध कार्यवाही करने, बाह्य आक्रमणों से रक्षा और आन्तरिक शांति स्थापना तक सीमित रखते थे। व्यक्ति का कल्याण राज्य की कार्य सूची से बाहर था। हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा था–"राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपराध होते हैं इसलिए राज्य का कार्य रक्षा करना है न कि पोषण और विस्तार करना।" स्पेन्सर ने भी राज्य के उक्त तीन कार्यों को राज्य के सीमा क्षेत्र में रखा है– (1) बाहरी शत्रुओं से व्यक्ति की सुरक्षा (2) आन्तरिक शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना, और (3) वैध अनुबन्धों को लागू करना।

अहस्तक्षेपवादी राज्य में राज्य के कार्य सीमित होने के कारण लोक प्रशासन के कार्य भी सीमित थे। उनके अनुसार इस राज्य में–

1. लोक प्रशासन केवल सेना और पुलिस प्रशासन मात्र होगा।
2. लोक प्रशासन की संगठनात्मक संरचना का आकार बहुत छोटा होगा।
3. लोक प्रशासन की संरचना सरल होगी।
4. लोक प्रशासन में प्रशासनिक विशेषीकरण की आवश्यकता नहीं होगी।
5. लोक प्रशासन के लिए किसी व्यवस्थित कार्य प्रणाली की भी आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि कार्य एवं प्रक्रियाएँ अत्यन्त सरल होंगी।
6. लोक प्रशासन में समन्वय, प्रत्यायोजन, शक्ति पृथक्करण आदि की समस्यायें नहीं होंगी क्योंकि लोक प्रशासन के उद्देश्य साधारण एवं सरल हैं।
7. सरकार को अधिक कानून बनाने की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि सरकार के कार्यों का अधिक विस्तार नहीं है।
8. लोक प्रशासन में विशाल नौकरशाही का अभाव होगा।

अहस्तक्षेपवादी विचारक राज्य को लोक कल्याणकारी कार्यों से पृथक रखते हैं। राज्य के कार्य स्वतः प्राकृतिक नियमानुसार सम्पादित होते हैं। राज्य में व्यक्तियों के लिए स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, वाचनालय पुस्तकालय, सड़क निर्माण, उद्यान आदि प्रशासनिक संस्थाएँ नहीं होंगी। केवल पुलिस और रक्षात्मक कार्य करने वाले विभाग और सैनिक व पुलिस कार्य करने वाले अधिकारी होंगे। यहाँ पर अधिकारी नौकरशाही के प्रतीक होंगे। आज विश्व के सभी राज्य लोककल्याणकारी राज्य हो गए हैं। अब वे दिन समाप्त हो गए हैं कि जब राज्य मानव जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करता था। आज राज्य का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण करना है। अतः लोक प्रशासन के कार्य-क्षेत्र में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। प्रशासन का कार्य जटिल हो गया है।

❑❑❑

अध्याय–3

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

यूनानी विचारकों में अरस्तू को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने सर्वप्रथम राज्य की उपयोगिता का वर्णन किया था। अरस्तू के मतानुसार, "राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के जीवन के लिये हुई है और उसका अस्तित्व श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिये निरन्तर बना हुआ है। श्रेष्ठ एव सुखी जीवन मनुष्य का उद्देश्य है और इसी उद्देश्य की पूर्ति राज्य द्वारा की जाती है।" 'राज्य के स्वरूप के सदर्भ में यह पूर्ण विवरण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अरस्तू के इस विचार मे राज्य के स्वरूप से सम्बन्धित अन्य पक्षों को स्पष्ट नहीं किया गया है। क्रियात्मक रूप से राज्य एक सगठित शक्ति है। राज्य व्यक्ति के *जीवन से सम्बन्धित सभी सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों के लिये कार्य करता* है। कई प्रकार के अधिकार प्रदान करता है, कर्त्तव्य निश्चित करता है। कभी-कभी दण्ड की व्यवस्था भी करता है। राज्य के उद्देश्य एव कार्यों के प्रश्नो पर अलग-अलग विचार व्यक्त किए गए हैं। कई लेखक राज्य के कार्य-क्षेत्र को उचित बताते हैं तो कई उसे अनुचित सिद्ध करते हैं।

आज परिवर्तित परिस्थितियों मे किसी राज्य की महानता या श्रेष्ठता उसकी शक्ति सम्पन्नता से नहीं आकी जाती है, वरन् इस सम्बन्ध में यह भी देखा जाता है कि अमुक राज्य किस हद तक लोक कल्याणकारी है। *लोक कल्याणकारी राज्य का विचार* निरन्तर जोर पकड रहा है और सभी प्रकार की शासन प्रणालियो वाले राज्य अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने राज्य को लोक कल्याणकारी बनाने का प्रयास कर रहे हैं। यही कारण है कि आधुनिक विश्व के सभी राज्य चाहे वह एशिया अफ्रीका के विकासशील देश हो या यूरोप के आधुनिकतम औद्योगिक रूप से विकसित देश सर्वत्र लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा राजनीति शास्त्र के शब्दकोश की अभिन्न अग बन गई है। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा द्वारा राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार हुआ है।

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का अभ्युदय

मानव हित के साधन के रूप मे राज्य का विचार कोई नवीन विचार नही है। *उसका अस्तित्व* प्राचीन और पाश्चात्य दोनो ओर की अति प्राचीनकालीन राजनीतिक

विचारधाराओं में मिलता है। प्राचीनकाल में रामराज्य की जो अवधारणा प्रचलित थी उसमें लोक कल्याणकारी भाव निहित था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए अवसर मिलना चाहिये। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य के सभी व्यक्तियों को विकास के सभी अधिकार प्रदान करे। महाभारत के शांति पर्व में भी कहा गया है कि "राज्य को निरन्तर सत्य की रक्षा करना चाहिए, व्यक्तियों का नैतिक जीवन का पथ-प्रदर्शन, शुद्धि तथा नियंत्रण करना चाहिए तथा पृथ्वी को मनुष्य के निवास योग्य एवं सुखदायिनी बनाना चाहिए।" वेदव्यास ने महाभारत में यहाँ तक कहा है "जो सम्राट अपनी प्रजा को पुत्रवत् समझकर उसके चहुँमुखी विकास का ध्यान नहीं रखता, वह नरक का भागी होता है।"[2]

पाश्चात्य राजनीतिक विचारक प्लेटो और अरस्तू ने जो विचार व्यक्त किये थे उनमें लोककल्याणकारी विचार निहित था। दोनों ने राज्य को एक नैतिक संगठन कहा है। जिसका उद्देश्य किसी एक वर्ग विशेष के लिये न होकर समस्त नागरिकों का कल्याण करना है। मध्ययुग में विलियम जे.एस.मिल ने जो विचार व्यक्त किये हैं इनमें भी लोक कल्याणकारी राज्य की भावना निहित है।

निःसन्देह राज्य का स्वरूप मूलतः ही लोक कल्याणकारी है। राज्य का यह स्वरूप देशकाल के अनुसार बदलता रहा है। यह विचार अपने आधुनिक रूप में किस प्रकार आया यह जानने के लिये हमें उन्नीसवीं शताब्दी की राजनीतिक विचारधारा का इतिहास देखना होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी तत्कालीन व्यक्तिवादी विचारधारा ने राज्य के कार्य क्षेत्र को अत्यन्त संकुचित कर दिया था। इस समय राज्य का कार्य पुलिस कार्य तक सीमित था। व्यक्तिगत जीवन के हर क्षेत्र में प्रतियोगिता का बोलबाला था। व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देने के परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में पूँजीपतियों को पनपने का अवसर मिल गया और उन्होंने निर्धन श्रमिकों का पर्याप्त शोषण किया। इस अमानुषिक व्यवहार के विरुद्ध राज्य को फैक्ट्री अधिनियम का निर्माण कर शोषितों की रक्षा करनी पड़ी। शोषण के विरुद्ध आवाज बढ़ती ही गई और यह कहा जाने लगा कि कला-कौशल, व्यापार और कृषि सम्बन्धी उत्पादनों का श्रेय उन अनगिनत मजदूरों को है जो वस्तुतः कारखानों और खेतों में काम करते हैं, न कि थोड़े से पूँजीपतियों का जो पूँजी लगाते हैं, और कारखानों, खेतों और व्यापारों के मालिक होते हैं। अतः उत्पादन का उपयोग थोड़े से मालिकों द्वारा न होकर अनगिनत मजदूरों द्वारा होना चाहिए। कार्ल मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत तत्कालीन राजकीय व्यवस्था को इस प्रकार की शोषण प्रधान व्यवस्था के लिए उत्तरदायी ठहराया गया तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि राज्य का तत्कालीन पूँजीवादी स्वरूप ही बदला जाय।

उक्त विचारधारा का क्रियात्मक रूप सर्वप्रथम रूस में देखने को मिला, जहाँ सन् 1917 की महान् क्रान्ति ने जार के अत्याचारी शासन का अन्त कर दिया। उसके

स्थान पर श्रमिको के एक ऐसे अधिनायक तंत्र का उदय हुआ जिसमे एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया गया जो वर्गहीनता पर आधारित हो। इस परिवर्तन पर बड़े-छोटो राज्यो की पुरानी दुनिया तथा ससदीय शासन प्रणाली को आश्चर्य हुआ। उन्होने प्रारम्भ मे इस नवीन व्यवस्था का विरोध किया। किन्तु धीरे-धीरे जब उन राज्यो ने देखा कि इस नवीन व्यवस्था ने साकार रूप धारण कर लिया है। अन्त मे उन्हे भी इसे स्वीकार करना पड़ा। इसके साथ-साथ साम्यवाद ने निर्धन शोषितों तथा सामाजिक एव आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुये लोगा पर जादू-सा किया है।

यदि प्रजातत्रवादी शासन प्रणाली इसके मुकाबले मे खडा होना चाहती है तो यह आवश्यक था कि प्रजातत्र केवल मताधिकार तक सीमित न रहे। प्रजातत्र ऐसा हो जिसके द्वारा नवीन सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था स्थापित हो। जिसमे आम आदमी यह अनुभव कर सके कि वह देश के राजनीतिक सामाजिक तथा आर्थिक सभी प्रकार के सामूहिक जीवन के सुख-दु ख का समान भागीदार है और उसके अन्तर्गत उसके सभी प्रकार के हितों राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक आदि की उचित सुरक्षा की व्यवस्था है। अत प्रजातत्रवादियो ने उसी उद्देश्य को अपने शातिपूर्ण प्रजातत्रवादी तरीके से अपनाने का सकल्प किया जिसे साम्यवाद के समर्थकों ने शातिपूर्ण अधिनायकवाद से प्राप्त किया था। इस प्रकार लोक कल्याणकारी राज्य का विचार अपने आधुनिक रूप मे हमारे समक्ष आया। इग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के समय में "निर्धन कानून" गरीबों और अयोग्य व्यक्तियों को राहत प्रदान करने के लिये बनाया था। इस कानून के पीछे भी लोक कल्याण की भावना निहित थी। इग्लैण्ड के फेबियन समाजवादी दार्शनिकों ने अप्रत्यक्ष रूप से लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त इग्लैण्ड मे उद्यमो का राष्ट्रीयकरण किया गया। अनेक प्रगतिशील नीतियों को अपनाया गया। नेपोलियन तृतीय ने अपने शासन काल में कई लोक कल्याणकारी कार्य किये जैसे श्रमिको की वेतन वृद्धि बीमारों को राजकीय सहायता प्रदान करना आदि। बिस्मार्क ने अपने शासन मे भी बीमारी दुर्घटना वृद्धावस्था तथा शारीरिक अयोग्यता सम्बन्धी कई प्रकार की राज्य सुविधाएँ नागरिको को प्रदान कर लोक कल्याणकारी राज्य के अभ्युदय मे सहयोग दिया।

इसमें सन्देह नहीं है कि लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास मे इग्लैण्ड का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। हॉब्सामेन ने लिखा है "वह ब्रिटेन की राजनीतिक प्रतिभा का फल है जो धीरे-धीरे एक वृक्ष के रूप में बढ़कर तैयार हो गया है और जिसका रोपण साढे चार सौ वर्ष पूर्व किया गया था।"

स्वतत्र भारत के सविधान मे नीति निर्देशक तत्वो को स्वीकार कर जो मार्गदर्शक सिद्धान्त वर्णित किए गए हैं। "उन सभी मे भारत को एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाने का प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ प्रत्येक स्त्री और पुरुष को जीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध कराना समाज की सम्पत्ति के स्वामित्व और नियत्रण का

अधिक से अधिक सामूहिक हित मे वितरण देश की सम्पत्ति को कुछ ही हाथों मे केन्द्रित न होने देना, चौदह वर्ष तक के बच्चो से काम न करवाकर उनके शोषण को रोकना नवयुवकों का शोषण नैतिक तथा भौतिक पतन से रक्षा करना सबको शिक्षा प्रदान करना बेरोजगारी वृद्धावस्था बीमारी व किसी कारण से जीविकोपार्जन में असमर्थ व्यक्तियों को सरकार से आर्थिक सहायता सभी प्रकार के मजदूरो को निर्वाह योग्य समान मजदूरी काम पर लगे व्यक्तियो के लिए मानवीय परिस्थितिया उपलब्ध कराना प्रसूतावस्था मे स्त्रिया की सहायता ग्रामीण क्षेत्रो मे कुटीर उद्योगों का विकास चौदह वर्ष तक के सभी बच्चो को नि शुल्क अनिवार्य शिक्षा अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्गों के शैक्षणिक ओर आर्थिक हितो की विशेष वृद्धि सामाजिक न्याय एव सभी प्रकार के शोषणो से उनकी रक्षा जनता के जीवन स्तर और स्वास्थ्य में सुधार करना स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालने वाले पेय पदार्थों पर प्रतिबन्ध वास्तविक अधिकारों वाली ग्राम पचायतो की स्थापना तथा न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण आदि। भारतीय सविधान निर्माताओं ने लोक कल्याण की भावना पर जोर दिया है। वे प्रजातत्र को केवल मताधिकार तक सीमित न कर लोक कल्याणकारी प्रजातत्र स्थापित करना चाहते थे।

उन्नीसवी शताब्दी के राजनीतिक इतिहास से पता चलता है कि लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा व्यक्तिवाद और समाजवाद का मिश्रण है। लोक कल्याणकारी राज्य एक ओर तो व्यक्तिवाद की भाति व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करता है लेकिन दूसरी ओर समाजवाद की भाति अधिक से अधिक कार्यों का सम्पादन करता है। लोक कल्याणकारी राज्य क अभ्युदय के पीछे यही ध्येय था कि व्यक्ति को सुखी एव समृद्ध जीवन प्रदान किया जाय और इस हेतु राज्य द्वारा आवश्यक सेवा कार्यों का सम्पादन किया जाए।

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अभ्युदय के कारण

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अभ्युदय के लिये निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं –

1 **व्यक्तिवाद का विरोध**–उन्नीसवीं शताब्दी म यूरोप की राज्य-व्यवस्था में सर्वत्र व्यक्तिवादी अवधारणा ने राज्य के कार्यों को सीमित कर दिया ओर राज्य ने भी अपनी कार्यकारी नीति इस अवधारणा के अनुरूप बना ली थी। औद्योगिक क्रान्ति का युग था। मजदूरो का शोषण मालिको द्वारा किया जाता था। पूंजीपति उद्यमो के मालिक हो गए जो मजदूरो से अधिक से अधिक काम लेते और कम वेतन देते थे। राज्य के कार्य सीमित होने के कारण राज्य इस परिस्थिति म कोई हस्तक्षेप नही करता था। फलत धीरे-धीरे व्यक्तिवाद का विरोध होना आरम्भ हो गया। यह माना जाने लगा कि राज्य में मजदूरों को शोषण से बचाने के लिए व्यक्तिवादी अवधारणा को हस्तक्षेप करना चाहिये। इग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के समय निर्धन कानून की सृष्टि और मजदूरों की भलाई के लिय कुछ कानून बने। यहीं से लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का अभ्युदय हुआ।

2 साम्यवाद का बढता प्रभाव–सन् 1848 ई० मे कार्ल मार्क्स और एंजिल्स द्वारा एक 'साम्यवादी घोषणा पत्र' प्रकाशित हुआ था। सोवियत रूस में साम्यवादी क्रान्ति द्वारा मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा को समर्थन प्राप्त हुआ। इस क्रान्ति का नेतृत्व लेनिन ने किया था। पाश्चात्य पूँजीवादी देश इस विचारधारा से भयभीत हो गए। उनका विचार था कि इस साम्यवादी विचारधारा के बढते हुए प्रभाव को रोकने के लिए नवीन पूँजीवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में परिवर्तन करना होगा। साम्यवाद के विरुद्ध पूँजीवादी लोकतान्त्रिक देशो मे लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का प्रचार किया गया।

3 शांतिपूर्ण एव वैध उपायों से समाज में परिवर्तन–साम्यवादी विचारधारा हिंसा और क्रान्ति के उपायों का सहारा लेकर समाज में परिवर्तन करना चाहती थी। इसके विरुद्ध एक नई विचारधारा का जन्म हुआ जो शांतिपूर्ण एव वैध तरीकों का सहारा लेकर सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तित करने मे विश्वास करती थी। उसका नाम लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारधारा था। भारतवर्ष में परिवर्तन हेतु इसी विचारधारा का अनुसरण किया गया। इस विचारधारा के अनुयायी राज्यों को एक लोक कल्याणकारी संस्था मानते हैं, और राज्य की सहायता से समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं।

4 सभी वर्गों के समान उत्थान की भावना–आधुनिक युग मे सभी राज्य अपने को लोक कल्याणकारी राज्य कहलाना अधिक अच्छा समझते हैं। अत समाज के सभी वर्गों का उत्थान करना अनिवार्य हो गया विशेषकर निम्न वर्ग का उत्थान। इस वर्ग के उत्थान का उत्तरदायित्व निर्वाह करने के लिए राज्य के कार्यों मे पर्याप्त वृद्धि हो गई जैसे– निम्न वर्ग के आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक उत्थान हेतु निम्न वर्ग को मताधिकार प्रदान कर और चुनाव हेतु उम्मीदवार खडा होने के अधिकार प्रदान कर राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश प्रदान किया गया। परन्तु आवश्यकता थी इस क्षेत्र मे उन्हें प्रोत्साहित करने की अनेक योजनाएँ बनाने की और उनको क्रियान्वित करने की जिनका सम्बन्ध उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन से था। राज्य ने इन सभी कार्यों के उत्तरदायित्व लेकर लोक कल्याणकारी व्यवस्था स्थापित की।

लोक-कल्याणकारी राज्य · अर्थ एवं परिभाषा

बोलचाल की भाषा मे लोक कल्याण करने वाला राज्य लोक कल्याणकारी राज्य कहलाता है । यह तो उसका शाब्दिक अर्थ हो सकता है इससे लोक कल्याणकारी राज्य का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नही होता है क्योकि लोकहित व्यक्तिगत नही होता है। व्यक्तिगत हितो में प्रत्येक व्यक्ति के पृथक-पृथक हित होते हैं। किसी राज्य या संस्था द्वारा व्यक्तिगत हितो की पूर्ति असम्भव होती है। लोक कल्याणकारी राज्य के प्रसग में लोकहित से हमारा तात्पर्य राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्ति का समान अवसर प्रदान करना और उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना हैं।

इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी समुदाय विशेष वर्ग विशेष अथवा किसी अग विशेष के हितों की रक्षा करना नहीं है वरन् जनता के सभी वर्गों के साधारण हितो की

व्यवस्था करना है। लोक कल्याणकारी राज्य के सदर्भ म विभिन्न विचारको की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं।

1 टी डब्ल्यू केण्ट–वह राज्य लोक कल्याणकारी राज्य होता है जो अपने नागरिको के लिए व्यापक समाज सेवाओ की व्यवस्था करता है। इन समाज सेवाओ के अनेक रूप होते हैं। इनके अन्तर्गत शिक्षा स्वास्थ्य बेरोजगारी तथा वृद्धावस्था म पेंशन आदि की व्यवस्था होती है। इसका मुख्य उद्देश्य नागरिको को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना होता है।[1]

2 डॉ इब्राहिम–वह समाज जहाँ राज्य की शक्ति का प्रयोग निश्चयपूर्वक साधारण आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार परिवर्तित करने के लिए किया जाता है कि सम्पत्ति का अधिक से अधिक उचित वितरण हो सके, लोक कल्याणकारी राज्य कहलाता है।

3 प्रो जी डी एच कोल–लोक कल्याणकारी राज्य एक ऐसा समाज है जिसमे जीवन का न्यूनतम स्तर प्राप्त करने का विश्वास तथा अवसर प्रत्येक नागरिक के अधिकार म होता है। एनसाइक्लोपिडिया ऑफ सोशल साइंसेज म लोक कल्याणकारी राज्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है, "लोक कल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिको को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।"

4 स्वर्गीय पडित जवाहरलाल नेहरू–सबको समान अवसर प्रदान करना अमीरो और गरीबो के बीच अन्तर मिटाना और सर्वसाधारण के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना लोक हितकारी राज्य के आधारभूत तत्व है।[3]

5 न्यायमूर्ति स्वर्गीय एम सी छागला–लोक कल्याणकारी राज्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "लोक कल्याणकारी राज्य का कार्य एक ऐसे सेतु का निर्माण करना है जिसके द्वारा जीवन की पतित अवस्था से निकल कर व्यक्ति एक ऐसी अवस्था म प्रवेश कर सके जो उत्थानकारी और उद्देश्यपूर्ण हो। लोक कल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिको द्वारा सच्ची स्वतत्रता के उपभोग को सम्भव बनाना है।[4]

हर्बर्ट एच लेमेन ने कहा कि "लोक कल्याणकारी राज्य वह है जिसमे लोगो को अपनी व्यक्तिगत क्षमताओ का विकास करने का अवसर प्राप्त हो । उन्हे उनकी प्रतिभाओं के उचित पुरस्कार मिलें तथा व भूख गृहविहीनता तथा जाति, धर्म अथवा रग एव भेदभाव के भय से मुक्त होकर सुखी रह सकें।"

उक्त परिभाषाओ स स्पष्ट होता है कि लोक कल्याणकारी राज्य मे व्यक्ति के सर्वांगीण विकास एव हित को महत्व दिया जाता है। उसका सम्बन्ध व्यक्ति के आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक जीवन स हो सकता है। लोक कल्याणकारी राज्य व्यक्ति में भेद न करते हुये सभी का समान उन्नति के अवसर प्रदान करता है। राज्य लोक

कल्याणकारी योजनाओ को बनाने के साथ उन्हे शीघ्र क्रियान्वित करने का प्रयास भी करता है। लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। ऐसा राज्य एक ओर नागरिको को न्यूनतम जीवन स्तर की सुख सुविधायें प्रदान कर आर्थिक सुरक्षा की गारटी देता है दूसरी ओर उनके वैयक्तिक राजनीतिक और नागरिक अधिकारो की सुरक्षा का दायित्व का निर्वाह करता है।

आधुनिक समय मे लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य

आधुनिक समय में लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

1 प्रथम उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण है ।

2 चोर-डाकुओं से लोगो के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना तथा कानून और व्यवस्था की स्थापना करना ।

3 सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण के साथ सामाजिक बुराइयों को दूर करते हुए और अच्छी शिक्षा पद्धति द्वारा समाज की उन्नति करता है ताकि वे अच्छे नागरिक बन सकें। समाज के अधिक से अधिक उपयोगी अग बन सके । आधुनिक राज्य निर्धनता को दूर करने की लिए योजनाएँ बनाते है। ये योजनाएँ वार्षिक ओर दीर्घकालीन हो सकती हैं। इससे राज्य की आय मे अभिवृद्धि हुई है और आर्थिक स्तर भी ऊँचा हुआ है।

4 राजनीतिक कल्याण के लिये लोगो को कुछ मौलिक अधिकार दिय जाते हैं और लोकतत्र की स्थापना की जाती है।

5 न्याय स्थापित करना है वरना बलवान व्यक्ति निर्बलों को बिना किसी कारण तग करने लगेगे और उनके जीवन व सम्पत्ति को खतरे मे डाल देगे। राज्य व्यक्ति के हितार्थ कानून बनाते हैं। कानून का उल्लघन करने वाला को न्यायाधीश दड देते हैं। राज्य न्याय करता है और ताकतवरों की ज्यादतियों से निर्बलो की रक्षा करता है।

6 नागरिको द्वारा सच्ची स्वतत्रता के उपभोग को सम्भव बनाना और कार्य क्षेत्र का विस्तार इस प्रकार से करना कि व्यक्तिगत स्वतत्रता को किसी प्रकार का भय न हो।

लोक कल्याणकारी राज्य की विशेषताएँ

1 लोकतांत्रिक राज्य–लोक कल्याणकारी राज्य वस्तुत लोकतात्रिक राज्य है। इसमे राज्य जनता की अभिव्यक्ति के आधार पर कार्य करता है। जन कल्याण हेतु अच्छी शिक्षा की व्यवस्था करता हे। नागरिकों को उनके अधिकार और कर्त्तव्यो का बोध कराता है। नागरिको में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करता हे। वह व्यक्तिगत स्वतत्रता जैसे-- लोगों को भाषण घूमने-फिरने, कोई भी काम-धन्धा करने किसी भी धर्म को मानने और सस्थाओं के गठन करने की स्वतत्रता प्रदान करता है। लोक कल्याणकारी राज्य में सभी नागरिको मे सामाजिक और आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। यह समाज में शाति और व्यवस्था बनाने का कार्य करता है। राज्य और जनता के बीच सहयोग की भावना उत्पन्न की जाती है। इसमें शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया जाता

है। स्वतत्र निष्पक्ष और सामयिक चुनाव व्यवस्था अपनाकर नागरिको को शासन का भागीदार बनाया जाता है। सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनो के लिये लोकतात्रिक तरीकों का उपयोग कर लोककल्याणकारी राज्य को लोकतात्रिक राज्य बनाया जाता है। स्पष्ट है एक लोक कल्याणकारी राज्य लोकतात्रिक व्यवस्था मे ही अपने उद्देश्यो की पूर्ति कर सकता है। लोकतत्र म व्यक्ति की अभिव्यक्ति का सरकार तक पहुँचान का कार्य भली-भाँति किया जा सकता है।

2 **मिश्रित अर्थव्यवस्था का समर्थक**–लोक कल्याणकारी राज्य मे एक ओर व्यक्ति का व्यक्तिगत व्यवसाय करने की छूट देता है तो दूसरी तरफ उत्पादन और वितरण पर राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य समझा जाता है। लोक कल्याणकारी राज्य के समर्थक पूँजीवादी व्यवस्था म निहित बुराइया का विरोध करते है। वह गरीबी बरोजगारी, असुरक्षा को दूर करने के लिए जनहित मे प्राकृतिक साधनो का सही और श्रेष्ठ उपयोग करना चाहते है। इसलिये उत्पादन और वितरण पर राज्य का स्वामित्व एव नियत्रण अनिवार्य समझते हैं। लोक कल्याणकारी राज्य निजी एव राज्य की उत्पादन एव वितरण व्यवस्था को स्वीकार कर मिश्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन करता है।

3 **सामाजिक सुरक्षा**–लोक कल्याणकारी राज्य अपने नागरिको को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है जिसमे सामाजिक समानता और सामाजिक सुरक्षा दोनों को सम्मिलित किया गया है। सामाजिक समानता मे धर्म जाति रग, वश, और सम्पत्ति के आधार पर सबको समान मानते हुए कानून के समक्ष समान सरक्षण प्रदान किया गया है। सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत सब को काम क समान अवसर, बेकार व्यक्तियों के लिए काम की व्यवस्था निर्बल एव कमजोर व्यक्तियों की सहायता बीमारी एव वृद्धावस्था में सुरक्षा प्रदान की जाती है। राज्य की ओर से चिकित्सालयों की स्थापना की जाती है। उनके लिए मुफ्त इलाज की व्यवस्था की जाती है। राज्य की ओर से बीमा व्यवस्था आदि कार्य किये जाते हैं।

4. **आर्थिक सुरक्षा**–लोक कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों को राजनीतिक स्वतत्रता प्रदान कर लोकतत्रात्मक राज्य कहलाता है। नागरिकों के लिए आर्थिक सुरक्षा सर्वोपरि है। जिसके अभाव मे राजनीतिक सुरक्षा स्थापित ही नहीं हो सकती है। यही कारण है कि लोक कल्याणकारी राज्य नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है। लोक कल्याणकारी राज्य द्वारा आर्थिक, सुरक्षा सम्बन्धी निम्नलिखित रूप से कुछ प्रमुख कार्यों की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयास आर. के अग्रवाल ने किया है।

(1) एक विकसित अर्थ-व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए।
(2) रोजगार के पूर्ण अवसर प्रदान करने चाहिए।
(3) न्यूनतम जीवन स्तर निर्धारित करना चाहिए।
(4) सामाजिक सुरक्षा और अवसर की समानता प्रदान करनी चाहिए।

उक्त आर्थिक तत्वों को स्वीकार कर लोक कल्याणकारी राज्य सामाजिक न्याय एव समाज के व्यापक हितों की पूर्ति करने का प्रयास करता है। आर्थिक असमानता को

दूर करने के लिए आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्तियों पर उच्च कर भार रोपित करता है ताकि गरीब और अमीर के बीच की दूरी कम की जा सके तथा सब व्यक्तियों के लिए रोजगार उपलब्ध करा सके। वृद्धावस्था शारीरिक अक्षमता और अपग व्यक्तियों को राज्य द्वारा सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। सभी व्यक्तियो को अवसर की समानता प्रदान की जाय। एक लोक कल्याणकारी राज्य व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर की सभी सुविधाये रोटी कपड़ा और मकान उपलब्ध कराने का भरसक प्रयास करता है। अच्छे जीवन के लिये लोक कल्याणकारी राज्य आवश्यक वातावरण का भी निर्माण करता है। इस प्रकार का राज्य उत्पादन और वितरण की व्यवस्थाओं पर नियत्रण रखता है।

5 राजनीतिक सुरक्षा–लोक कल्याणकारी राज्य नागरिको को राजनीतिक सुरक्षा प्रदान करता है। राज्य स्वतत्र एव निष्पक्ष चुनाव व्यवस्था स्थापित करने के प्रयास के साथ ही इस बात का भी ध्यान रखता है कि राजनीतिक शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथों में नहीं अपितु सभी व्यक्तियों में निहित हो। सभी व्यक्ति मिलकर अपनी बुद्धि द्वारा जनहित में ही कार्य करे। लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति स्वतत्र रहकर अपना मत दे सकता है, चुनाव में उम्मीदवार बन सकता है। लोकतत्र शासन के कारण लोक कल्याणकारी राज्य में बहुमत शासन करता है। परन्तु विरोधी दल या अल्पमत को नकारा नहीं जाता है उसकी आवाज भी शातिपूर्वक सुनी जाती है। आवश्यक होने पर उनकी बात स्वीकार भी की जाती है। विरोधी पक्ष भी शातिपूर्वक विरोध करते हुए उस समय का इन्तजार करते हैं जब तक वह अपने अल्पमत को बहुमत में परिवर्तित न कर सकें। डा इकबाल नारायण के अनुसार–"राजनीतिक लोकहित की साधना के बिना लोक कल्याणकारी राज्य केवल बिना आत्मा के शरीर के समान है।"

6 समाज सेवक राज्य–लोक कल्याणकारी राज्य एक समाज सेवक राज्य है। इसमें समाज के सभी वर्गों की हर दृष्टि से सेवा करने का प्रयास किया जाता है। राज्य अशिक्षा और गरीबी दूर करने के साथ-साथ समाज में श्रम-विवादों के लिए श्रम-न्यायालय, श्रम अधिनियमों की स्थापना करता है। समाज में रहने वाले व्यक्तियों को मनोरजन और अन्य सुविधाएँ प्रदान करता है जैसे– वाचनालय, पार्क सडक आवास प्रसूति गृह शिशु गृह आदि।

7 विस्तृत क्षेत्र–लोक कल्याणकारी राज्य का विचार केवल राष्ट्र तक ही सीमित नहीं होता है। उसका क्षेत्र अन्तरराष्ट्रीय है। अत राष्ट्रीय लोक कल्याण के स्थान पर लोक कल्याणकारी राज्य मे अन्य राष्ट्रो के हित का ध्यान रखा जाता है। लोक कल्याणकारी राज्य मे अन्य राज्यो के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं की जाती है वरन् आपसी सहयोग और सामजस्य की भावना में विश्वास किया जाता है। लोक कल्याणकारी राज्य में सारी पृथ्वी ही कुटुम्ब की भावना से ओत-प्रोत है। अत यह कहा जा सकता है कि लोक कल्याणकारी राज्य का कार्यकारी क्षेत्र विस्तृत है।

8 व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच की व्यवस्था–होगन के अनुसार "लोक कल्याणकारी राज्य दो अतियों के बीच एक समझौता है जिसमें एक ओर साम्यवाद है और दूसरी ओर अनियन्त्रित व्यक्तिवाद।" इस राज्य में राज्य के कार्यों में वृद्धि होती है और निरन्तर वृद्धि होती रहती है। किन्तु उसमें व्यक्ति के महत्व और स्वतंत्रता को भी स्वीकार किया गया है।

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य

लोक कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य ही राज्य का अधिकतम कार्य करना है। राज्य को व्यक्ति के सभी कार्य सम्पादित करते समय इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता बरकरार रहे। राज्य के कार्यों को अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है– अनिवार्य तथा ऐच्छिक। अनिवार्य कार्यों का सम्बन्ध राज्य की सुरक्षा से है। जैसे– आन्तरिक शांति और व्यवस्था, प्रतिरक्षा और न्याय। यह कार्य तो व्यक्तिवादियों ने भी राज्य को सौंपा था। इसके अतिरिक्त ऐच्छिक कार्य है जिन्हें राज्य नागरिकों की भलाई के लिये करते है। लोक कल्याणकारी राज्य में ऐच्छिक कार्य भी राज्य के अनिवार्य कार्य ही माने जाते हैं। लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों को सूचीबद्ध नहीं किया जा सकता हैं। ऐसे सभी कार्य राज्य के क्षेत्र में आते है। जिनसे जनहित व कल्याण होता है। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है–

1. शिक्षा–शिक्षा मनुष्य की उन्नति और विकास हेतु नितान्त आवश्यक है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति अपनी अन्तर्निहित योग्यता का न तो विकास कर सकता है, और न ही अपनी उन्नति कर सकता है। शिक्षा के अभाव में राज्य रूपी संस्था के बारे में वह अनभिज्ञ रहता है। उसे अपने अधिकार एवं कर्त्तव्यों का बोध नहीं होता है। लोक कल्याणकारी राज्य को अपने नागरिकों को शिक्षित करने के लिए विशेष प्रयास करना चाहिए। यही कारण है कि प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक का सारा प्रबन्ध लोक कल्याणकारी राज्य में राज्य द्वारा किया जाता है। राज्य द्वारा जनता की शिक्षा के क्षेत्र में रुचि उत्पन्न करने के लिए वाचनालय और पुस्तकालयों की स्थापना की जाती है। राज्य जनता को शिक्षित करने के लिए आकाशवाणी तथा दूरदर्शन का माध्यम भी अपनाता है।

2 समाज सुधार–लोक कल्याणकारी राज्य समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करने का भी प्रयास करता है। भारतवर्ष में मद्यपान, बालविवाह, छुआछूत, जाति प्रथा आदि प्रमुख सामाजिक बुराइयाँ हैं। लोक कल्याणकारी राज्य उक्त बुराइयों को दूर करने के लिये कानून बनाता है। कानूनों का सख्ती से पालन कराने का प्रयास करता है। उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है क्योंकि राज्य का उद्देश्य जनसमुदाय का हित है। आवश्यकता पड़ने पर वह सामाजिक सुधार के लिए राज्य शक्ति का प्रयोग भी करता है।

3 **कल कारखानों पर नियंत्रण**–कल-कारखानो मे मुख्यत दो वर्ग होते हैं– मालिक और मजदूर। मालिक वर्ग द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण किया जाता है। राज्य कानून बनाकर मजदूरों के शोषण को रोकता है जैसे– मजदूरो की मजदूरी दर का निर्धारण मजदूरो के कार्य करने के घण्टे निश्चित करना उन्हे कम से कम कितना वेतन दिया जाय श्रमिको की दशा सुधारने के लिए उन्हे पेशन स्वास्थ्य बीमा शिक्षा और असहाय अवस्था में सहायता का प्रबन्ध करना आदि। इन सबका प्रयोजन यही है कि मालिक (पूँजीपति वर्ग) मजदूरो का शोषण न कर सके। मजदूरों की कार्य करने की परिस्थिति समुचित एव न्याय सगत हो।

4 **असहाय लोगों की सहायता**–राज्य के अन्तर्गत कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बीमार अपाहिज या असहाय हैं। अपना जीवकोपार्जन करने में असमर्थ हैं। भूख उन्हें भीख मागने के लिये विवश करती है। लोक कल्याणकारी राज्य का उत्तरदायित्व होता है कि वह बीमार अपाहिज और असहाय व्यक्तियों की सहायता करे। राज्य उनके लिए आवास गृह आजीविका के साधन और रहने के लिए अस्थायी आवास (रैन बसेरों) की व्यवस्था करता है। यहाँ रहकर वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं साथ ही अपनी सामर्थ्यानुसार कार्य भी कर सकते हैं।

5 **कृषि की उन्नति**–कृषि समस्त मानव जीवन की निर्भरता है। कृषि उन्नति के लिए सिचाई अच्छे बीज खाद उपजाऊ भूमि आदि की आवश्यकता होती है। राज्य कृषि उन्नति के लिए सिचाई का प्रबन्ध करता है। किसानों को अच्छी गुणवत्ता वाले खाद व बीज का वितरण करता है। भूमि को उपजाऊ बनाने और आधुनिक उपकरणों के प्रयोग का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था राज्य करता है। कुओ का निर्माण करने में सहयोग प्रदान करता है। राज्य उक्त सभी कार्य खेती की उन्नति एव कृषक जीवन को सुखमय बनाने के लिए करता है।

6 **व्यापार और व्यवसाय पर नियंत्रण**–लोक कल्याणकारी राज्य व्यापार और व्यवसाय पर नियत्रण हेतु नियम बना कर जनहित का प्रयास करता है। राज्य व्यापार और व्यवसाय के लिए मुद्रा पद्धति (करेन्सी) का सचालन करता है नाप तौल से सम्बन्धित नियम बनाता है व्यापारी लोगो को माल मे मिलावट करने से रोकने के लिए नियम बनाता है वस्तुओ का उचित मूल्य निर्धारित करता है विदेशी माल पर आयात कर लगाकर और स्वदेशी माल को प्रोत्साहित करने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करता है तथा भारी उद्यमो पर राज्य स्वय नियत्रण रखता है।

7 **सामाजिक सेवाओं का सम्पादन**–लोक कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों के आने जाने के लिए रेल्वे सडक आदि का निर्माण करता है। जलमार्ग तथा वायुमार्ग की व्यवस्था करता है। राज्य यानों का सचालन भी करता है। राज्य की यह प्रवृति है कि जनहित मे सभी साधनो का सचालन एव नियत्रण राज्य द्वारा ही किया जाए। राज्य सचार साधनों– डाक तार टेलीफोन रेडियो दूरदर्शन आदि की व्यवस्था करता है

जिससे मनुष्य अपने सन्देश व सूचनाएँ अन्यत्र भेज सके। इन संचार साधनों के माध्यम से दूरस्थ व्यक्ति भी निकटतम हो गया है। बैंक विद्युत उत्पादन एवं वितरण हेतु राज्य विभिन्न कार्य करता है। व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से उक्त सुविधाएँ नहीं जुटा पाता है। राज्य ने इन सबकी व्यवस्था कर व्यक्ति का जीवन सुखमय और आरामदायक बना दिया है।

8. कला और मनोरंजन–मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से अपने जीवन को सुखी एवं आनन्दमय नहीं समझता है। उसे जीवन में कला और मनोरंजन की आवश्यकता भी होती है। वह चाहता है कि उसके जीवन में सत्य शिव सुन्दरम्– तीनों का उपयोग जीवन की पूर्णता हेतु हो। लोक कल्याणकारी राज्य मनुष्य के जीवन को सत्य शिव सुन्दरम् बनाने के लिए स्वस्थ मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करता है। राज्य सार्वजनिक उद्यानों, सार्वजनिक तरणताल क्रीडा मैदानों सिनेमाघरों रंगमंच दूरदर्शन ओपेरा, आकाशवाणी आदि की व्यवस्था करता है और संस्कृति एवं कला के विभिन्न पहलुओं को प्रोत्साहन देने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम उत्सवों आदि का आयोजन करता है।

9 आर्थिक सुरक्षा–लोक कल्याणकारी राज्य आर्थिक सुरक्षा का कार्य करता है। राज्य इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि नागरिकों का जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हो सकें, सम्पत्ति का वितरण लाभ समान ढंग से हो सके, सभी व्यक्तियों को रोजगार के अवसर मिल सकें। जिन व्यक्तियों को राज्य रोजगार प्रदान नहीं कर पा रहा है, उनके लिए जीवन निर्वाह भत्ता स्वीकृत किया जाय। एक समय था, जब राज्य व्यक्ति के आर्थिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था।

10. सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा– जनता को महामारी आदि रोगों से बचाने के लिए राज्य ने कई प्रबन्ध किए हैं। नगरों की सफाई व्यवस्था, टीकाकरण आदि कार्य राज्य द्वारा किये जाते हैं। जिसका उद्देश्य चेचक, प्लेग, हैजा आदि विभिन्न रोगों की रोकथाम करना है। जनस्वास्थ्य के लिए राज्य चिकित्सालय और चिकित्सालय अनुसंधान केन्द्रों को खोलता है। निःशुल्क या उचित मूल्य पर चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराता है। व्यापक स्तर पर चिकित्सा विशेषज्ञों की सेवाएँ एक लोक कल्याणकारी राज्य ही उपलब्ध करा सकता है।

11 न्याय व्यवस्था की स्थापना–किसी भी राज्य की सफलता उसकी न्याय व्यवस्था पर निर्भर करती है। लोक कल्याणकारी राज्य में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि नागरिकों को न्याय प्राप्त हो। अतः राज्य इस बात की व्यवस्था करता है कि नागरिकों को निष्पक्ष और समय पर न्याय मिल सके। न्याय व्यवस्था अधिक खर्चीली न हो। देश की न्यायपालिका पर सरकार द्वारा निर्मित कानूनों की व्याख्या करने का उत्तरदायित्व भी सौंपा गया है। न्यायपालिका देश के संविधान में वर्णित नागरिकों के मौलिक अधिकारों को संरक्षण प्रदान करती है उनकी रक्षा करती है। अतः लोक कल्याणकारी राज्य के लिए अच्छी और समुचित न्याय व्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

12 अन्तरराष्ट्रीय कार्य-एक लोक कल्याणकारी राज्य केवल अपनी राज्य सीमा मे रहने वाले नागरिकों के हित की नहीं सोचता है। वरन् वह अन्तरराष्ट्रीय हित की सोचता है। एक लोककल्याणकारी राज्य पडौसी राज्य के साथ शाति सद्भावना और सहयोग का व्यवहार करता है और उससे भी ऐसे ही व्यवहार की कल्पना करता है। वह पडौसी देश के साथ युद्ध की बात कभी नहीं सोचता है। युद्ध से तो जनहित के स्थान पर जन अहित होता है जो लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विपरीत है। यही कारण है कि लोक कल्याणकारी राज्य पडौसी राष्ट्रों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है।

उक्त कार्य लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों की स्थायी सूची नहीं माने जा सकते है। काल और परिस्थितियों के अनुसार दिन-प्रति-दिन लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई है और राज्य के कार्यो में निरन्तर वृद्धि की सम्भावनाएँ हैं। आज मनुष्य अपने ही प्रयास से अपने हितों का सम्पादन नहीं कर सकता है। उसे अपने जीवन को सुखमय एव शांतिपूर्ण बनाने के लिये अन्य मनुष्यों के सहयोग की आवश्यकता होती है। राज्य ही एक ऐसी सस्था है जहा सभी समुदायों का सहयोग मनुष्य प्राप्त कर सकता है। अत लोक कल्याणकारी राज्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य के हित में कार्य करे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानव कल्याण क्षेत्र मे परिवर्तन के अनुरूप कार्य करने से राज्य के कार्यों में भी परिवर्तन आता रहता है। प्रारम्भ में आर्थिक क्षेत्र में मानव किसी का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता था। व्यक्ति अपने आर्थिक उत्पादन स्वय करता था। परिवार के अन्य सदस्य उसका सहयोग करते थे। वैज्ञानिक प्रगति ने कल-कारखानों को जन्म दिया। उत्पादन बडे पैमाने पर होने लगा। व्यक्ति इन कल-कारखानों में व्यक्तिगत व्यवसाय छोडकर कार्य करने लगे। पूँजीपति और मजदूर दो वर्ग में समाज का बटवारा हो गया। पूँजीपति मजदूरों का शोषण करने लगे तो मजदूर हितों का हनन होने लगा। दो नये वर्ग पूँजीपति और निर्धन बने। पूँजीपति अधिक धनवान और निर्धन अधिक निर्धन होने लगे तो राज्य का कर्त्तव्य हो गया कि पूँजीपति और निर्धनता के बीच उत्पन्न खाई को कम करने का प्रयास करे तथा मजदूरों की शोषण से सुरक्षा करे। राज्य जो व्यक्ति के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता था हस्ताक्षेप करने लगा। स्पष्ट है कि राज्य को लोकहित के अनुरूप अपने कार्यों को परिवर्तित करना अनिवार्य हो जाता है। अत लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यो को सूचीबद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि लोकहित परिवर्तनशील है। आवश्यकता इस बात की है कि लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों में साधारणजन के कल्याण की भावना निहित होनी चाहिए।

लोक कल्याणकारी राज्य का आलोचनात्मक अध्ययन

यद्यपि आज विश्व के सभी देश अपने को लोक कल्याणकारी राज्य मानते हैं परन्तु, किसी भी राज्य के द्वारा पूर्णत लोककल्याणकारी उद्देश्य की पूर्ति नहीं की गई।

लोककल्याणकारी राज्य के अग्रणी ब्रिटेन ने लोककल्याणकारी राज्य के तीन उद्देश्य– वृद्धावस्था की सुरक्षा बेरोजगारी का संरक्षण और बीमारी की देखभाल– स्वीकार किये थे। न तो ब्रिटेन मे और न ही विश्व के अन्य किसी राज्य द्वारा पूर्णत इन उद्देश्यो की प्राप्ति हो सकी है आर न ही कोई प्राप्त कर पा रहा है। आज कुछ विद्वान् लोक कल्याणकारी राज्य की आलोचना करने लगे हैं। आलोचको का मानना है कि राज्य सामाजिक हित की दृष्टि से ऐसे कार्य भी करने लगा है जिससे व्यक्तिगत कार्य क्षेत्र मे हस्तक्षेप हो जाता है। आलोचको द्वारा कई तर्क प्रस्तुत किए गए है जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं –

1 अनुप्रेरणा का अन्त–लोक कल्याणकारी राज्य मे राज्य सभी सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करता है। व्यक्ति मे उत्तरदायित्व आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान जैसी भावनाओ का क्षय होता है। जब व्यक्ति को सब कार्य किए हुए मिलते है तो उसमे अनुप्रेरणा का अन्त हो जाता है। माइकल परसैल ने इसे कुछ न करने के बदले मे कुछ प्राप्त करने का सिद्धान्त कहा है।

2 सृजनात्मक शक्तियाँ मृत प्राय–जब राज्य लोकहित के नाम पर सभी सार्वजनिक कार्य करने लग जाता है तो व्यक्ति आलसी हो जाता है। उसकी कार्य करने की इच्छा शक्ति और नवीन आविष्कारो को जन्म देने वाली सृजनात्मक शक्तियां मृत प्राय हो जाती है। व्यक्ति मे स्वालम्बन और स्वत प्रेरणा जैसे गुणो का अन्त हो जाता है। व्यक्ति राज्य पर आश्रित हो जाता है।

3. व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन–आलोचको का कहना है कि राज्य द्वारा ऐसी सामाजिक नीति तैयार की जाती है जो वितरण की समानता और आर्थिक सुरक्षा को अपना लक्ष्य बनाती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तो का हनन करती है। बहुत सारे कार्य राज्य अपने ही नियन्त्रण मे करता है। राज्य कर्मचारियों की शक्ति मे वृद्धि हो जाती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। उद्योग और पारितोषिक के सह-सम्बन्धो को भुलाकर राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उपयोग बढ जाता है। माइकल परसैल के शब्दो मे– "लोक कल्याणकारी राज्य जितना जन हितैषी होने का प्रयास करेगा, वह उतना ही निरकुश और परिव्यापी हो जायगा और इसका परिणाम यह होगा कि व्यक्ति राज्य की सेवा के लिए जीवित रहने लगेगे जैसे– राज्य किसी देवता का ही स्वरूप हो।" व्यक्ति जितना अधिक राज्य पर निर्भर रहेगा उतना ही राज्य को समाज कल्याण के नाम पर राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाना पडेगा। राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है क्योकि राजकीय नियोजन और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं। डॉ आर्शीवादम ने लिखा है "लोक कल्याणकारी राज्य का सबसे बडा डर सर्वत्र यह है कि वह सुगमता से अपने आपको सर्वाधिकारवादी राज्य मे परिणत कर देता है।

4 नौकरशाही को बढावा–लोककल्याणकारी राज्य मे प्रत्येक कार्य के सही क्रियान्वयन के लिए पृथक्-पृथक् विभागो का गठन करना पडता है। स्थायी

कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। परिणामत राज्य के कार्यों म वृद्धि के कारण प्रशासन का विस्तार स्वत हो जाता है। प्रशासनिक विधिया असीमित रूप से प्रयुक्त लगती हैं। इन्हीं के साथ-साथ भावनाहीन नौकरशाही को प्रोत्साहन मिलता है। बारबरा वूटन के शब्दो म –"लोक कल्याणकारी राज्य प्रशासनिक गज मथरता को (Administrative elephantiasis) का जन्म देता है।"

5 मुद्रास्फीति का घुन लगना–लोक कल्याणकारी राज्य के समक्ष कार्यों के क्रियान्वयन हेतु वित्त की समस्या आडे आती है। वित्तीय व्यवस्था म उसे मुद्रास्फीति का घुन लगा रहता है। डी डब्ल्यू केन्ट का मत है कि –"इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि विशुद्ध लोककल्याणकारी राज्य मे मुद्रास्फीति के रोग की सतत सम्भावना स्थायी रूप स पायी जा सकती है। इतिहास इस बात का गवाह है कि मुद्रास्फीति ने रोमन साम्राज्य और सभ्यताओं को खोखला बना दिया था और आज भी इसका उतना ही भय बना हुआ है। आम नागरिक मुद्रा में विश्वास खो देता है क्योंकि धन का वास्तविक मूल्य निरन्तर गिरता है। व्यक्ति स्वेच्छा से धन की बचत करना समाप्त कर देता है। देश में आर्थिक अनिश्चितता की स्थिति बन जाती है। नागरिको में असन्तोष फैलता है और राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावना में भी कमी आ जाती है। मुद्रा स्फीति के कारण कई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पूँजी निर्माण में बाधा अयोग्यता का विस्तार राष्ट्र के उत्पादन यत्र को जग लगना और अर्थव्यवस्था में गतिहीनता धनी व्यक्ति का हतोत्साहित होना।

6 वित्तीय प्रोत्साहन में कमी–लोककल्याणकारी राज्य मे वित्तीय प्रोत्साहन मे कमी आती है। व्यक्ति जब यह अनुभव करता है कि राज्य के समाज हित के नाम पर उसकी आय की सीमा निश्चित कर दी है। अगर व्यक्ति उस निश्चित सीमा से अधिक धन अर्जित करता है तो राज्य उस पर कर लगाकर उससे अतिरिक्त आय छीन लेगा। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है व्यक्ति या तो करो की चोरी करेगा उत्तरदायित्वो का अतिरिक्त भार वहन नही करेगा या कम कार्य करेगा।

7 प्रतिस्पर्धा का अभाव–लोक कल्याणकारी राज्य मे प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है। इसमें निजी तथा सार्वजनिक हित दोनो ही प्रभावित होते हैं। राज्य सभी व्यक्तियों को समान सवाएँ प्रदान करता है। एक व्यक्ति कठिन परिश्रम कर कठिनाइयों का सामना कर दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक धन अर्जन कर सकता है अधिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है। यह उसके नैसर्गिक गुण हैं जो प्रतिस्पर्धा के अभाव मे समाप्त हो जाते हैं। कला या वैज्ञानिक शोध जैसे क्षेत्रों में व्यक्ति प्रतिस्पर्धा द्वारा बहुत कुछ अर्जित कर सकता है जो सार्वजनिक हित में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। प्रतिस्पर्धा के अभाव मे क्षमतावान व्यक्ति भी राज्य पर निर्भर हो जाता है।

8 गुणों और दुर्बलताओं का एक समुच्चय–लोक कल्याणकारी राज्य को आलोचक गुणो और दुर्बलताओं का एक समुच्चय मानते हैं। इस व्यवस्था की प्रकृति

इतनी कोमल है कि ज्यादतियो और असावधानियो के कारण वह आसानी से सर्वाधिकारवादी व्यवस्था मे परिवर्तित हो जाता है।

9 **खर्चीली व्यवस्था**–लोक कल्याणकारी राज्य काफी खर्चीली व्यवस्था है। जनहित के समस्त कार्य राज्य द्वारा किये जाते हैं। जैसे-जैसे राज्य के कार्यो मे वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे राज्य का नियत्रण भी बढता है। राज्य नियत्रण में वृद्धि के कारण मँहगाई और लागत दोनो म वृद्धि हो जाती है।

10 **बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग**–लोक कल्याणकारी राज्य जनहित के नाम पर बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है। राज्य समाज में समानता स्थापित करने के लिये धनिक वर्ग से उसका धन लेता है। कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से अपने अर्जित धन को किसी अन्य व्यक्ति को नहीं देता है। राज्य द्वारा धनिक से धन प्राप्त करने के लिए कानून बनाए जाते हैं। जिससे वह अपना धन देने के लिए बाध्य हो जाये जो सर्वथा अनुचित है।

भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य

भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य है। भारतीय सविधान मे नीति निर्देशक तत्वो और मौलिक अधिकारों को स्वीकार कर भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य और व्यक्ति स्वतत्रता की स्थापना की गई है। मौलिक अधिकारों की अपेक्षा नीति निदेशक तत्व अधिक विस्तृत है। नीति निदेशक तत्व सकारात्मक हैं। सरकार इनके द्वारा सामाजिक कल्याण के लिए सृजनात्मक कार्य करती है। ये व्यक्ति के लिए मौलिक अधिकारो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। के सी मार्कन्डन ने सही ही लिखा है–"यह सत्य है कि सविधान की दृष्टि से नीति निदेशक तत्व मौलिक अधिकारो की अपेक्षा अधिक मौलिक हैं। इसमें अन्तर्निहित न्याय सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक आदर्श हैं और व्यक्तिगत लाभो का मौलिक अधिकारो की अपेक्षा वृहत् महत्त्व वर्णित है।" यही कारण है कि सविधान की प्रस्तावना में और प्रस्ताव के उद्देश्य निश्चित करते समय न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदर्शों के मौलिक अधिकारों को गारन्टी देने से पहले स्वीकार किया गया है। सविधान की रूप रखा निश्चित करते समय बी एन राय ने नीति निदेशक तत्वो को सविधान के भाग 'अ' में रखा है और मौलिक अधिकारो को सविधान के भाग 'ब' मे वर्णित किया है।

"राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना कर, जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाओ को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य साधक के रूप म स्थापना और सरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।"

कल्याण और न्याय सविधान के दो जुड़वाँ उद्देश्य हैं जिनके द्वारा जन कल्याण किया जाना है। अनुच्छेद 39 म उन तरीको का वर्णन किया गया है जिनसे न्याय द्वारा जन कल्याण किया जा सकता है। स्वर्गीय प्रधानमत्री नेहरू ने ससद में "जाति रहित" और "वर्गरहित" समाज की स्थापना शातिपूर्ण और सहकारी तरीका द्वारा किए जाने की

बात कही थी। इसमें सन्देह नहीं है कि भारत ने एक लोक कल्याणकारी और समाजवादी राज्य की स्थापना के लिए नीति निदेशक तत्व स्वीकार किये हैं। भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना निम्नलिखित नीति निदेशक तत्वों द्वारा की गई है–

(i) सभी नागरिकों– स्त्रियों और पुरुषों के लिए जीवकोपार्जन के पर्याप्त साधन जुटाना।

(ii) राज्य दुर्बलो का जनहित में सम्पत्ति का वितरण करेगा।

(iii) राज्य इस बात का ध्यान रखेगा कि अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण न हो।

(iv) सभी स्त्री या पुरुषो को समान काम के लिए समान वेतन प्रदान करेगा।

(v) वयस्क और बाल श्रम का बचाव करेगा

(vi) वयस्क और बालको के नैतिक और भौतिक दुरुपयोग से रक्षा करेगा।

(vii) सभी नागरिकों की शिक्षा के लिए सकारात्मक कदम उठायेगा। बेरोजगारी वृद्धावस्था बीमारी और विकलांगता आदि की दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्रदान करेगा।

(viii) कार्य की मानवीय और न्यायसगत दशाओं का निर्धारण करेगा और स्त्रियों के लिए प्रसूति सहायता प्रदान करेगा।

(ix) लोगो के जीवन सुधारने के लिये न्यूनतम वेतन दर और सेवा की अच्छी दशा उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा ताकि वे आरामदायक जीवन व्यतीत कर सकें सामाजिक और सास्कृतिक सुविधाएँ प्राप्त कर सके अपना मनोरजन कर सकें।

(x) चौदह वर्ष तक के बालको के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(xi) लोगों के जीवन स्तर पोषण और स्वास्थ्य सुधार के लिए प्रयास करेगा।

2 नीति निदेशक तत्वो मे गाधीवादी विचार धारा पर आधारित निम्न बातों को भी सम्मिलित किया गया है।

(i) राज्य ग्राम पचायतों का सगठन करेगा। जहॉ तक सम्भव होगा इन ग्राम पचायतो को स्वायत्त सस्थान के रूप में कार्य कर सकने के लिए आवश्यक कदम उठायेगा।

(ii) ग्रामीण क्षेत्रो के व्यक्तिगत और सामूहिक कुटीर उद्योग प्रोन्नत करेगा।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि उक्त दोनों ही सर्वोदय के उद्देश्य हैं। प्रो एस एन अग्रवाल के अनुसार सर्वोदय का अर्थ है–*शुद्ध समाजवाद। सविधान निर्माता* डा अम्बेडकर के शब्दो में नीति निदेशक तत्व इस बात को इगित करते हैं कि भारत का लक्ष्य आर्थिक लोकतत्र की स्थापना करना है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 अरस्तु राजनीति
2 वेदव्यास महाभारत मे व्यक्त विचार
3 भारतीय संविधान 1950 चतुर्थ भाग अनुच्छेद 36 से लेकर 51 तक सम्मिलित प्रावधान
4 टी डब्ल्यू केण्ट दी वेल्फेयर स्टेट
5 आर सी अग्रवाल राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त एस चाद एण्ड कम्पनी नई दिल्ली 1984
6 मैसूर विश्वविद्यालय मे 1954 मे दिया गया दीक्षात भाषण
7 डा इकबालनारायण राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त लक्ष्मीनारायण आगरा, 1981
8 डा ईश्वर प्रसाद आर्शीवादम पालिटीकल थ्योरी
9 के सी मार्कण्डन भारतीय संविधान मे नीति निदेशक तत्त्व
10 एस एन अग्रवाल सोशलिज्म और सर्वोदय दि हिन्दुस्तान टाइम्स नई दिल्ली, जनवरी 1955
11 गुन्नार मिर्डल बियोण्ड वेलफेयर स्टेट

अध्याय–4

प्रशासकीय राज्य की अवधारणा

आधुनिक राज्य के लिए प्रशासन अत्यन्त आवश्यक है। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना से राज्य के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अब राज्य का कार्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण करना है। इस विचार से राज्य को मानव जीवन की असख्य आवश्यकताओ की पूर्ति करनी होती है। इसके साथ-साथ राज्य आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा और अपराधियों को दण्ड देने के मूलभूत कार्य भी करता है। राज्य के कार्यों को पूरा करने के लिए विशाल और सकारात्मक उद्देश्य वाले लोक प्रशासन की आवश्यकता बढ गई है। आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे सरकार की कार्यपालिका शाखा मुख्यत स्थायी प्रशासन का दायित्व एव महत्त्व बढ गया है, उसका आकार विशाल और भूमिका सर्वव्यापी हो गई है।

राज्य के कार्य क्षेत्र का विस्तार

समय के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र परिवर्तित होता रहा है। प्रारम्भ में पुलिस राज्य हुआ करता था। सीमित कार्य क्षेत्र मे वह केवल बाह्य सुरक्षा और आन्तरिक शाति बनाए रखने और वैध समझौतो को लागू करवाने का कार्य करता था। सन् 1760–1830 में औद्योगिक क्रान्ति के दौर में फ्रास तथा इग्लैण्ड के अहस्तक्षेपवादी राज्य के सिद्धान्त स्वीकार करते हुए राज्य का मानव जीवन मे हस्तक्षेप अस्वीकार किया गया। आर्थिक स्वतन्त्रता स्वतन्त्र समझौता व्यापार प्रतियोगिता खुला बाजार, आदि को स्वीकार कर आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया गया। राज्य को कल्याणकारी कार्यों से दूर रखा गया।

बीसवीं शताब्दी मे राज्य के कार्यों में वृद्धि के लिए कई कारक उत्तरदायी हैं। आज राज्य उन सब कार्यों को कर रहे हैं जिन्हे पूर्व मे निजी सस्था या सगठनों द्वारा किया जाता था। राज्य के कार्यों मे परिवर्तन के साथ-साथ राज्य की प्रकृति और भूमिका में भी परिवर्तन आया है। अब पुलिस राज्य और अहस्तक्षेपवादी राज्य का स्थान लोक कल्याणकारी समाजवादी राज्य ने ले लिया है। आज विज्ञान और तकनीकी युग मे राज्य का उत्तरदायित्व उन लोगों की देखभाल करना भी है, जो अपनी देखभाल कर सकने में असमर्थ हैं। आज राज्य व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक सुरक्षा की गारण्टी देता है। मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर राज्य क्रियाओं का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

राज्य अपने कार्यों के लिये कुशल प्रशासन पर निर्भर रहता है। राज्य के कार्यों मे वृद्धि के साथ प्रशासन का महत्त्व भी बढता जा रहा है। फाइनर ने ठीक ही कहा है कि कुशल प्रशासन सरकार का एकमात्र सहारा है। जिसकी अनुपस्थिति मे राज्य क्षत-विक्षत हो जायेगा। हर्बर्ट विश्वविद्यालय के आचार्य प्रो डानहम के कथनानुसार– किसी राष्ट्र की सभ्यता की सफलता, असफलता उसके प्रशासन की सफलता और असफलता पर निर्भर करती है। राज्य कितनी ही अच्छी नीति निर्मित करे। प्रशासन उसे सही ढग से, सही समय पर क्रियान्वित करेगा तभी उसका लाभ राज्य के नागरिको को मिलेगा।

प्रशासकीय राज्य की अवधारणा

पूर्व मे यह कहा जा चुका है कि राज्य के कार्यो म वृद्धि के साथ-साथ प्रशासन का महत्त्व भी बढ गया है। राज्य केवल कार्यो के सदर्भ में नीति निर्माता है। नीतियों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व प्रशासन का है। प्रशासन बच्चे के जन्म के पूर्व से लेकर उसके सभी कार्यो को क्रियान्वित करने लगता है तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त भी रुचि बनाये रखता है। कल्याणकारी राज्य गर्भवती महिला के स्वास्थ्य के लिए दवाइयों एव आहार की व्यवस्था, प्रसूति हेतु अस्पताल, मृत्यु का सरकारी अभिलेख, शवदाह गृह की व्यवस्था, बेरोजगारी, बीमारी, वृद्धावस्था शिक्षा आदि कार्यो में प्रशासन नागरिको की सहायता करता है। प्रशासन यदि तीव्रतापूर्वक कुशल तरीकों एव कर्त्तव्य भावना से कार्य नहीं करता है, तो अच्छी से अच्छी निर्मित नीति का कोई लाभ नागरिकों को नही मिलता है। यही कारण है कि आज राज्य को प्रशासकीय राज्य कहते है। प्रशासन राज्य का हृदय है। प्रशासन को राज्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

राज्य मे पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित तीन प्रमुख संस्थाएँ है। उनके पृथक्-पृथक् कार्य है। आम नागरिक का दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लिए प्रशासक या लोकसेवकों से सम्पर्क होता रहता है। भारत सरकार ने सविधान निर्माण से लेकर अब तक उक्त वर्णित सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने का प्रयास किया है। सरकार ने जनहित में कई नियम भी बनाए है। जैसे– बालश्रम को रोकना, न्यूनतम वेतन दर निर्धारण, श्रमिको की अवस्था सुधारना समान कार्य के लिए समान वेतन पिछडे वर्ग का उत्थान, शहरी और ग्रामीण भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारण, लघु और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन, पचायती राज की स्वायत्तता अनिवार्य शिक्षा बेरोजगारी, वृद्धावस्था विकलागता की अवस्था में सार्वजनिक सहायता विदेशी वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध उद्योगपतियो को उद्यम में पूँजी लगाने की सुविधाएँ। राज्य प्रशासन ने बहुत से उद्यमो को निजी क्षेत्र मे छोड दिया है। केवल उनका नियमन ही किया है। इसके अलावा कुछ उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र में शुरू किये है, जैसे– दुर्गापुर (प बगाल) भिलाई (मध्यप्रदेश) राउरकेला (उड़ीसा), बोकारो इस्पात कारखाना (बिहार) में है। भारत ने इन उद्यमो के लिए विदेशों से आर्थिक और तकनीकी, दोनों प्रकार की सहायता ली है। भारत सरकार ने चितरंजन (प बगाल) म रेल इजन बनाने का कारखाना और पैराम्बूर (मद्रास) म रेल

के डिब्बे बनाने के कारखाने स्थापित किए हैं। ऐयरवेज और बैंको का राष्ट्रीयकरण किया है। विशाखापटनम मे समुद्री जहाज बनाने और उनकी मरम्मत के कारखाने स्थापित किए हैं। कृषि क्षेत्र की उन्नति के लिए भरसक प्रयास किए गए हैं। जिनमे प्रमुख है – (1) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (2) जमीदारी उन्मूलन (3) अनेक बाधो द्वारा सिचाई के साधनो की उन्नति (4) खेती के नये ढग (5) वैज्ञानिक खाद का उत्पादन (6) सहकारी संस्थाओ द्वारा ऋण इत्यादि।

भारत के नीति निदेशक तत्व लोक कल्याणकारी राज्य की कल्पना से सम्बन्धित है। भारत ने अन्य देशो की भाँति जनहित की बात सोची है। नीति निदेशक तत्वो को व्यवहारिक रूप प्रदान करने का प्रयास भी किया है पर पूर्ण सफलता प्राप्त नही हुई है। वास्तविक लोकतत्र की स्थापना से भारत अभी कोसों दूर है। इस दिशा मे यथेष्ट प्रयासो की आवश्यकता है।

लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख बाधाएँ

लोककल्याणकारी राज्य वस्तुत आदर्शों से सम्बन्धित सिद्धान्त है। सिद्धान्तो को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासन की आवश्यकता पडती है। प्रशासनिक प्रबन्ध व्यवस्था लोककल्याणकारी राज्य के मार्ग मे बाधाऐ भी उत्पन्न कर देती है। प्रमुख बाधाएँ निम्नलिखित है –

1 **प्रशासनिक**–लोककल्याणकारी राज्य मे कार्य करने के लिए स्थायी सरकारी कर्मचारी होते हैं। यही लोककल्याणकारी नीतियो के सही और सामयिक क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी होते हैं। प्रशासकीय कार्यो की धीमी गति कर्मचारियों द्वारा अकुशल कार्य का सम्पादन नौकरशाही कार्य मे देरी आदि से महत्वपूर्ण योजनाओ के क्रियान्वयन के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। व्यापक स्तर पर पर्याप्त प्रशासकों का अभाव सबसे बड़ी बाधा है।

2 **आर्थिक साधनों का अभाव**–सामाजिक सेवाओ को प्रदान करने के लिए पर्याप्त आर्थिक साधन जुटाने की आवश्यकता होती है। आर्थिक साधन जुटाने के लिए लोक कल्याणकारी राज्य को कई व्यवस्थाएँ करनी पड़ती है जैसे– उच्च करारोपण भूमि, बैंक, उद्योग-धधो या यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण आदि। यह सभी कार्य काफी जटिल हैं। अर्थाभाव मे योजनाओं का तीव्र गति से सम्पादन कर सकने मे लोककल्याणकारी राज्य असमर्थ हैं।

3 **राजनीतिक**–राष्ट्रीयकरण द्वारा जिन लोगों की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती है वे ही राष्ट्रीयकरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते है। जनमत को भडकाते हैं तथा राजनीतिक अस्थिरता पैदा करते हैं। लेकिन ये लोग कुछ समय के लिए लोक-कल्याणकारी राज्य के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने मे सफल हो पाते हैं।

4 **व्यक्तिगत और समाजवाद का संघर्ष**–राज्य सत्ता और ज्यादतियो रहित व्यक्ति स्वतन्त्रता का सिद्धान्त साम्यवाद एवं व्यक्तिवादी व्यवस्था के दोषो से मुक्त लोक

कल्याणकारी राज्य इन दो विचारधाराओं के (आर्थिक सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता) आदर्शात्मक मूल्यो का समन्वयकारी सिद्धान्त है। परन्तु दोनों विचारधाराओ म समन्वय स्थापित कर चलना अत्यन्त कठिन कार्य है।

5 अन्य—जब लोककल्याणकारी राज्य राष्ट्रीयकरण करने मे सफल हो जाता है तो राष्ट्रीयकृत संस्थानो की प्रशासनिक समस्याओ का श्री गणेश हो जाता है। विकासशील देशों को विकसित देशो की अपेक्षा अधिक समस्याओ का सामना करना पडता है, क्योकि विकासशील देशो में शिक्षा कुशलता और योग्यता का पहले से ही अभाव होता है। फलत कम उत्पादन होता है जो लोककल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति में बाधा उत्पन्न करता है।

यह सर्वमान्य सत्य है कि लोक कल्याणकारी राज्य उक्त बाधाओ के रहते हुए अपने आदर्शों की पूर्ति मे सतत् प्रयत्नशील है। बाधाओ के रहते हुए भी लोक कल्याणकारी राज्य ने कई क्षेत्रो मे सफलता प्राप्त की है। जैसे—लोककल्याण सेवाओ मे वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि हुई है। लोककल्याणकारी राज्य मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राज्य कार्यों में समन्वय स्थापित किया गया है। सन् 1929–30 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के समय अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने "नवनिर्माण की आर्थिक नीति" अपनाकर प्रजातत्र को बचा लिया था। प्रेसीडेन्ट विल्सन की "प्रगतिशील नीति" ट्रूमेन की "उचित नीति" काफी लोकप्रिय रही हैं और इन नीतियो ने अमरीकी प्रजातत्र को बचाने का ही कार्य किया है।

नव स्वतन्त्र राष्ट्रो—भारत अफ्रीका और एशिया मे लोककल्याणकारी राज्य की आदर्शात्मक नीति ने संजीवनी बूटि का कार्य किया है। ये सभी राष्ट्र अपने-अपने तरीके से लोककल्याणकारी नीति अपनाकर अपने राष्ट्रो मे कार्य करने के लिए दृढ सकल्प है। गुन्नार मिर्डल के विचारानुसार "पिछले पचास वर्षो म सभी सम्पन्न पाश्चात्य देशो में लोकतन्त्र पर आधारित लोककल्याणकारी राज्य बन गए है। इनका उद्देश्य आर्थिक विकास सभी नागरिकों के लिए रोजगार युवाओं क लिए समानताआ के अवसर सामाजिक सुरक्षा और न्यूनतम जीवन स्तर को सरक्षण देना है जिसके अन्तर्गत आय के अतिरिक्त समुचित खुराक मकान स्वास्थ्य और शिक्षा भी सम्मिलित है।"

भारत जैसे विकासशील देश म जहाँ शिक्षा का अधिक प्रसार नहीं है। आम जनता व्यवस्थापिका और न्यायपालिका की जानकारी नहीं रखती है पर विभागो/प्रशासन से उसका प्रतिदिन कार्य पडता रहता है। अत एक ग्रामीण भी प्रशासनिक अधिकारियो के नाम एव पदों से परिचित होता है। उसे मालूम रहता है अमुक कार्य पटवारी करता है, अमुक कार्य तहसीलदार या उपखण्ड अधिकारी करता है। सबसे ऊपर जिले मे जिलाधीश है। ट्रूमेन फाइनर ने प्रशासन की लोकप्रियता का महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि, "किसी देश का संविधान चाहे कितना ही अच्छा हो, और उसके मंत्रीगण भी योग्य हों, परन्तु कुशल प्रशासका के अभाव म उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता है।"

आज मनुष्य अपनी सारी छोटी-बडी आवश्यकताओं की पूर्ति की राज्य से आशा रखता है। राज्य सभी कार्यों को कार्यपालिका / प्रशासनिक विभागो के द्वारा करवाता है। सभी सरकारी संस्थाएँ—अस्पताल कॉलेज स्कूल यातायात सुविधाएँ प्रशासन ही प्रदान करता है। स्वयसेवी संस्थाएँ स्वायत्त संस्थाओ के अतिरिक्त व्यक्तिगत उद्यम व्यवसाय आदि मे राज्य द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान कर प्रशासन में सम्मिलित कर लिया गया है।

व्यवस्थापिका केवल राज्य नीतियो का निर्माण करती है। राज्य नीतियो के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर विशेषकर स्थायी प्रशासन पर होता है। प्रशासन पर नीति क्रियान्वयन के साथ-साथ नीति निर्मित करने का उत्तरदायित्व भी आ जाता है। प्रशासन द्वारा योजनाओ और परियोजनाओं का प्रस्ताव तैयार किया जाता है। मत्रियों को उचित परामर्श देने का कार्य भी प्रशासन द्वारा ही किया जाता है। यदि सरकार आवश्यक सेवा प्रदान करने का कार्य करने मे लेशमात्र भी असफल रहती है तो जनता अपना सारा क्रोध प्रशासन पर निकालती है। तभी तो कहा गया है कि राज्य की नीति कितनी ही अच्छी क्यो न हो उसके परिणाम प्रशासन की कुशलता पर निर्भर करते हैं। समाज में सभ्यता का विकास और परिवर्तनो के लिए भी प्रशासन ही उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ-भारत जैसे समाज में बाल-विवाह का प्रचलन है। राज्य ने बाल-विवाह रोकने के लिए कानून बना दिया है। यदि राज्य मे बाल-विवाह होता है तो उसके लिए प्रशासन उत्तरदायी है क्योकि प्रशासको ने अपनी कुशलता और कर्त्तव्यपरायणता से सहयोग नही दिया है। प्रशासक एक कलाकार है वह अपनी प्रशासनिक कला से कार्यों को गति प्रदान करता है। प्रशासक सरकार के नेत्र ऑख और कान हैं। प्रशासक जनता के विचारों एव समस्याओं को धैर्यपूर्वक सुनता है। उन्हें सरकार तक पहुँचाता है। प्रशासक स्वय अपने नेत्रो से राज्य की परिस्थितियो को देखकर राज्य को अवगत कराता है।

प्रशासन की भूमिका केवल लोककल्याणकारी राज्य में ही नही है। आज विश्व के सभी देशो चाहे समाजवादी व्यवस्था वाले देश हो या पूँजीपति व्यवस्था वाले या प्रजातांत्रिक देश हो मे नीति क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व प्रशासन का है। प्रशासन के बढते हुए महत्त्व के कारण वर्तमान राज्यो को प्रशासनिक राज्य कहा गया है। सभी देशों की प्रशासनिक समस्याएँ भी समान हैं तथा इनमे प्रमुख निम्नलिखित है —

1 प्रशासनिक व्यवस्था
2 कुशल एव प्रशिक्षित कर्मचारियो का अभाव
3 प्रशासन मे व्याप्त भ्रष्टाचार
4 प्रशासकीय नीतियो के मूल्याकन का अभाव
5 कार्य निष्पत्ति अवलोकन
6 भाई-भतीजावाद और
7 प्रशासकीय मूल्यो मे निरन्तर गिरावट।

इन समस्याओ के रहते किसी भी राज्य की नींव हिल सकती है। डिमॉक के अनुसार "प्रशासन प्रत्येक नागरिक के लिये महत्त्व का विषय है क्योकि जो सेवाएँ उसे मिलती है जो कर वह देता है और जिन व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओ का वह उपभोग करता है प्रशासन के सफल और असफल क्रियान्वयन पर निर्भर करता है। आधुनिक युग की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण गहन सामाजिक समस्याएँ जैसे—स्वतन्त्रता और सगठन मे समन्वय कैसे हो प्रशासन के नौकरशाही क्षेत्र के इर्द-गिर्द घूमती रहती है।"

आज राज्य का स्वरूप प्रशासकीय हो गया है। इसका कारण व्यवस्थापिका और न्यायपालिका की तुलना मे प्रशासकीय कार्यों का अधिक महत्त्वपूर्ण होना है। ऐसा नही है कि प्रशासन का महत्त्व व्यवस्थापिका ओर न्यायपालिका के मूल्य पर बढा है। अपितु कार्यपालिका की बढती लोकप्रियता ने प्रशासन की भूमिका को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बना दिया है। कार्यपालिका की शक्तियो मे विस्तार के लिए उत्तरदायी कई कारक हैं। कार्यपालिका की शक्तियो मे विस्तार के परिणामस्वरूप प्रशासन की शक्तियो का विस्तार हुआ है। कार्यपालिका को सौपे गये दायित्वो का निर्वाह स्थायी प्रशासन ही करता है। वस्तुत प्रशासन ही कार्यरत सरकार है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सभी विकासशील एव विकसित देशों ने नियोजन स्वीकार किया। फलस्वरूप कानून व्यवस्था तक सीमित प्रशासन का कार्य-क्षेत्र अब जनजीवन के सभी क्षेत्रो तक हो गया। अब राज्य को एक आवश्यक बुराई नहीं माना जाने लगा। राज्य से सकारात्मक भूमिका की आशा की जाने लगी। व्यक्ति इसी राज्य से सभी सेवाओ की आशा करने लगा। व्यक्ति पूर्णतया राज्य पर निर्भर रहने लगा। राज्य कार्यो मे वृद्धि के साथ उसकी प्रकृति मे भी परिवर्तन आ गया। राज्य नीति निर्माण कर अपने कार्यों की इति श्री नहीं कर लेता है। वह उसके क्रियान्वयन के लिए भी सचेत हो गया है। राज्य की वर्तमान प्रकृति दण्ड के स्थान पर सुधारवादी हो गई है। दण्ड व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त नहीं किया गया है। अब दण्ड को प्रथम कार्यवाही नहीं माना जाता है। राज्य अपने सभी कार्यों के लिए प्रशासनतत्र पर निर्भर हो गया है। यहाँ तक कि प्रशासन के सहयोग के बिना राज्य कुछ भी नहीं कर सकता है।

भारत जैसे देश मे प्रशासन सामाजिक परिवर्तनो मे अभिकर्त्ता की भूमिका निभाता है। प्रशासन ही सामाजिक परिवर्तनो को नियोजित और व्यवस्थित तरीके से क्रियान्वित करता है। संविधान में वर्णित नीति निदेशक तत्वो के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व भी प्रशासन का है। प्रशासन के कार्यों में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होना स्वाभाविक है। प्रशासक की महत्त्वपूर्ण भूमिका के सदर्भ मे चेम्बरलेन ने कहा था "प्रशासक हमारे बिना काम चला सकते हैं परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम मत्रीगण प्रशासकों के अभाव मे काम नहीं चला सकते है।" राज्य के कार्य एव गतिविधियों पर प्रशासन इस कदर हावी है कि आधुनिक राज्य प्रशासनिक लगने लगे है। इसलिए इन्हे प्रशासनिक राज्य कहा गया है।

प्रशासकीय राज्य से तात्पर्य नौकरशाही राज्य अथवा वह राज्य जहाँ सर्वत्र प्रशासक ही छाए रहते हैं। यथार्थ मे स्थायी प्रशासन या नौकरशाही मे ही राज्य का वह स्वरूप दिखाई देता हे जिसे 'प्रशासकीय राज्य' कहा जाता है। जे ए विग के शब्दों मे– "सम्भवत ऐसा कोई राष्ट्र नही है जिसके पास बडी नौकरशाही तथा शक्ति सम्पन्न सरकार (कार्यपालिका) न हो।" माइकेल क्रोजियर का मानना है कि "प्रशासकीय राज्य नौकरशाही द्वारा सरकार है। इसमे सर्वत्र प्रशासक कानून और नियम ही दिखाई देते हैं।"

प्रशासकीय राज्य के विकास हेतु उत्तरदायी कारक

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रशासकीय राज्य मे स्थायी प्रशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव शक्तिशाली सरकार का आधार है। प्रशासकीय राज्य के शक्ति सम्पन्न होने में प्रमुख रूप से निम्नलिखित कारक उत्तरदायी हैं-

1 **औद्योगिक क्रान्ति**–अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ। पूँजीपतियो ने नये कारखाने खोले। मजदूरो को कम वेतन देना प्रारम्भ किया मजदूरों से अधिक काम लेने लगे। कहीं-कही मजदूरों के स्थान पर मशीनों द्वारा कुछ काम लिया जाने लगा। शहरीकरण शहरी आबादी दिन पर दिन बढने लगी। बडी कम्पनिया एव कारखानो के मालिको का हजारो मजदूरो पर नियत्रण हो गया। मजदूर पूर्णतया मालिकों पर निर्भर हो गये। मजदूरों का शोषण होने लगा– कार्यस्थल काफी गन्दे थे मजदूरो को काफी असुविधाओ का सामना करना पड रहा था। मजदूर और मालिक के बीच सघर्ष की स्थितिया उत्पन्न हो गई। फलस्वरूप आधुनिक औद्योगिक एव नगरीय सभ्यता का जन्म हुआ। राज्य के उत्तरदायित्व की अवधारणा मे परिवर्तन आया। राज्य ने औद्योगिक क्षेत्र मे नियत्रण करना प्रारम्भ कर दिया। इसके साथ ही राज्य के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हो गई। राज्य को इन कार्यों के सम्पादन के लिए अधिक सख्या में कर्मचारी रखने पडे। जैसे-जैसे कार्यो मे विशेषीकरण की प्रवृत्ति बढती जा रही है प्रशासकीय राज्य का महत्त्व बढता जा रहा है। उसके हाथों मे अधिकाधिक शक्ति आती जा रही है।

2 **सरकार का बडा आकार**–राज्य के बढ़ते हुए कार्यों के लिए नौकरशाही के आकार मे वृद्धि हुई। औद्योगिकीकरण से उत्पन्न समस्याओ–शहरीकरण भीड पर नियत्रण प्रदूषण आदि के लिए व्यक्तिगत प्रयास सम्भव ना थे सरकारी स्तर पर इनका हल ढूँढ निकालना अनिवार्य हो गया था। राज्य द्वारा नये-नये विभागों का सृजन किया गया। इस वृद्धि का एक कारण पार्किंसन का सिद्धान्त भी रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यभार वही रहने पर भी सेवी वर्ग की सख्या मे प्रतिवर्ष 5¾% वृद्धि हुई है। यह वृद्धि प्रतिशत लन्दन इकॉनामिस्ट मे 19 नवम्बर 1955 के लेख मे प्रकाशित हुआ। पार्किंसन सिद्धान्त से दो बाते स्पष्ट होती हैं– प्रथम एक नागरिक सेवी अपने आधीन एक से अधिक सहायक रखना चाहता है। द्वितीय वे सहायक अपने लिए इतना कार्य इकटठा कर लेते हैं कि उन्हें भी अपने सहायक नियुक्त करने की आवश्यकता हो जाती है। इस तरह नागरिक सेवाओं मे वृद्धि होती रहती है। नौकरशाही मे अपने अधीनस्थो की सख्या

बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा होती है। वे अपना कार्यभार बढ़ाने के बारे में सदैव सोचते रहते हैं। अधीनस्थ या सहायकों की संख्या बढ़ाने की प्रवृत्ति नौकरशाही का विस्तार करने में सहायक रही है। नौकरशाही के विस्तार के साथ-साथ सरकार के नये-नये प्रशासकीय विभागों का सृजन हो गया। नये-नये संगठन बने। लोककल्याणकारी राज्य में एक कार्य के लिए एक विभाग या उसकी शाखाओं के सिद्धान्त अपनाने के कारण भी राज्य के कार्यों में वृद्धि के साथ-साथ विभागों की संख्या बढ़ी और उनमें कार्यरत कर्मचारियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। प्रशासन के विस्तार से सरकार का आकार बढ़ा और राजनीतिक स्तर पर नियंत्रण में कमी आ गई। उद्योग-धन्धों में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ विभागीय उपक्रम, निगम और सरकारी कम्पनियों की स्थापना के साथ-साथ प्रशासन तंत्र के आकार में वृद्धि हुई है।

3 **आर्थिक नियोजन**– औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात विश्व के सभी राज्यों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में कानून बनाने के लिए आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया गया। आर्थिक नियंत्रण वाली आर्थिक व्यवस्था में राज्य के नियंत्रण एवं निर्देशन में समस्त कार्य किए जाते हैं। नियोजन के सभी क्षेत्रों– उत्पादन, वितरण, उपभोग आदि पर सरकार का ही अधिकार होता है। राज्य ही राज्य में उपलब्ध एवं आयातित माल की व्यवस्था करता है। देश के लिए दीर्घकालीन योजनाओं के निर्माण का उत्तरदायित्व एक केन्द्रीय संस्था को सौंपा जाता है। योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए भी विभिन्न स्तरों पर एक विशाल एवं अनुभवी प्रशासन तंत्र की आवश्यकता होती है। प्रशासकों को तात्कालिक परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए हर स्तर पर व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इस प्रक्रिया में प्रशासन तन्त्र का सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र में किसी न किसी रूप में छा जाना स्वाभाविक था। यह परिस्थिति प्रशासकीय राज्य के विस्तार में सहायक हुई।

4 **प्रत्यायोजित विधान**– नीति-निर्माण व्यवस्थापिका का कार्य है। व्यवस्थापिका के पास समय एवं विशेषज्ञता का अभाव पाया जाता है। औद्योगिक समाज में सारा तरह के विधि निर्माण की आवश्यकता होती है। व्यवस्थापिका उनके अनुरूप विधि निर्माण कर पाने में असमर्थ है। अतः व्यवस्थापिका जो सामान्य कानून बनाती है वह केवल कानून की रूपरेखा मात्र है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून को नियमों, उपनियमों और आदेशों द्वारा परिभाषित करने का कार्य प्रशासकों का है, क्योंकि व्यवस्थापिका कार्यपालिका को इन कार्यों की शक्तियाँ प्रत्यायोजित करती है। कार्यपालिका में मंत्रिगण राजनेताओं के पास भी विशेषज्ञता का अभाव है। नीति निर्धारण एवं क्रियान्वयन दोनों ही कार्यों का भार मंत्रीगण प्रशासन पर छोड़ देते हैं। इस स्थिति ने नौकरशाही या प्रशासन को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। नित्य प्रति बढ़ता हुआ प्रत्यायोजित विधान प्रशासकीय राज्य के महत्त्व और अधिकार क्षेत्र में वृद्धि करने में सहायक हो रहा है।

5 **प्रशासकीय न्यायाधिकरण**– प्रशासकीय विभागों द्वारा न्यायिक निर्णय करने के लिए स्थापित न्यायाधिकरणों के निर्णय अर्द्ध न्यायिक प्रकृति के होते हैं। राज्य

के कार्यों की जटिल वैज्ञानिक एव तकनीकी प्रकृति के फलस्वरूप अनेक न्यायिक कार्य प्रशासन द्वारा किए जाते हैं। औद्योगिक समाज की जटिलता के कारण अनेक अभियोग ऐसे होते है जिन्हे सामान्य न्यायालय द्वारा निर्णीत किया जा सकना कानून के ज्ञाता न्यायाधीशो की समझ से बाहर होता है। उदाहरणार्थ– लाइसेन्स जारी करना सम्पत्ति मूल्याकन और आयकर सम्बन्धी आय का आकलन आदि के मामलो मे न्यायालय कोई विशेष भूमिका नही निभा सकता हे। ऐसे मामलो मे प्रशासन को न्यायिक अधिकार देकर प्रशासनिक न्यायाधिकरण को सौप दिया गया है। कुछ मामलो मे तो प्रशासनिक न्यायाधिकरण के निर्णय को अतिम मानते हुए सामान्य न्यायालय से मुक्त रखा गया है। फलत प्रशासन पर न्याय के अतिरिक्त दायित्व ने प्रशासकीय राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाने में सहयोग किया है।

6 विकासशील राष्ट्रों का उदय– द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया अफ्रीका और लैटिन अमेरिका मे कई राष्ट्रों ने स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे मान्यता प्राप्त की। यह सभी स्वतन्त्र राष्ट्र अपने प्रारम्भिक काल मे अविकसित या अल्प विकसित राष्ट्र थे। उन्हें हर क्षेत्र मे विकास करना था। ऐसे राज्यों के लिए जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेड्रिक लिस्ट ने सरक्षणवाद का सिद्धान्त दिया। लिस्ट का मानना था कि "अल्पविकसित राष्ट्र विकसित राष्ट्रो के समक्ष खुली प्रतियोगिता मे नहीं टिक सकते हैं। विकसित राष्ट्रों के साथ स्वतन्त्र व्यापार भी उनके हित मे नही है। लिस्ट के मतानुसार प्रथम अल्प विकसित राष्ट्रों को स्वतन्त्र व्यापार नही करना चाहिए। द्वितीय अर्द्ध विकसित उद्यमो को विकसित राष्ट्रों के साथ सीधी प्रतियोगिता नही करनी चाहिए तृतीय अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार देश की राजकोषीय नीति निर्मित करनी चाहिए। उक्त तर्कों को अधिकाश अल्पविकसित राष्ट्रो ने स्वीकार किया और राज्य को विकासात्मक कार्यों का दायित्व सौंप दिया। विकासात्मक कार्यों के क्रियान्वयन का दायित्व प्रशासन पर स्वत आ गया। प्रशासको के उत्तरदायित्वो मे पर्याप्त वृद्धि हो गई। यह स्थिति प्रशासकीय राज्य के विस्तार में सहायक हुई।

7 नवोदित राष्ट्र की समस्याएँ–नवीन स्वतन्त्र राष्ट्रो की समस्याएँ सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक थी। विकासशील राष्ट्रों ने इन्हें प्रशासन की सहायता से हल करने का प्रयास किया। इनमें प्रमुख समस्या आर्थिक विकास की थी। विभिन्न राष्ट्रो ने आर्थिक नियोजन को अपनाकर इस समस्या का समाधान करना चाहा। योजनाओ के निर्माण एव क्रियान्वयन के लिए एक विशाल और अनुभवी प्रशासन तत्र की आवश्यकता होती है। प्रशासको को विभिन्न स्तरो पर कार्य करने के लिए अधिकाधिक शक्ति प्रदान की गई। इस प्रक्रिया मे प्रशासन तत्र सम्पूर्ण आर्थिक जीवन से सम्बद्ध हो गया। सभी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओ के हल हेतु कई नए मत्रालय एव विभागो की रचना की गई। नौकरशाही का विस्तार होता गया। नवोदित राष्ट्र की विभिन्न समस्याओ ने प्रशासकीय राज्य के विकास मे सहायता की है।

8 सामाजिक आर्थिक जीवन की जटिलताएँ—औद्योगिक क्रांति और शहरीकरण ने प्राचीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। प्राचीन कालीन संयुक्त परिवार के रूप में चली आ रही व्यक्ति की मिलजुल कर रहने की प्रवृत्ति समाप्ति के कगार पर है। आज परिवार की परिभाषा भी काफी संकीर्ण हो गई है। व्यक्ति केवल आर्थिक व्यक्ति या मशीनी मानव होकर रह गया है। इस औद्योगिक युग मे व्यक्ति केवल अधिक से अधिक धन एकत्रित करने के बारे म ही सोचता रहता है।

वैज्ञानिक खोजों द्वारा व्यक्ति का चिन्तन व्यक्तिगत हो गया है परन्तु उसके सभी कार्यों एव समस्याओ का निदान सामूहिक हो गया है जिन्हे केवल राज्य ही हल कर सकता है। राज्य को व्यक्ति की समस्याओं का हल सक्रिय अभिकर्त्ता के रूप मे करने का दायित्व सौंपा गया है। राज्य को प्रशासन की सहायता लेनी पडती है। स्पष्ट है कि सामाजिक, आर्थिक जटिलताओ के कारण भी प्रशासकीय राज्य का विकास हुआ है।

9 समाजवादी विचार एव रूसी क्रान्ति—कार्ल मार्क्स प्रमुख समाजवादी विचारक हैं। उनके चिंतन की रूपरेखा साम्यवादी घोषणा-पत्र मे 1848 ई मे प्रकाशित हुई थी। मार्क्स का प्रहार उस समय प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था पर था। उनके विचार उस समय की मजदूरों की स्थिति को ध्यान मे रखकर व्यक्त किये गये थे। कार्लमार्क्स ने न केवल पूँजीवाद का विरोध किया वरन् उसके स्थान पर नवीन समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना का सकेत घोषणा पत्र मे दिया।

कार्ल मार्क्स के विचारो से प्रभावित होकर सन् 1917 मे लेनिन के नेतृत्व मे रूस मे साम्यवादी क्रान्ति हुई। रूस मे नवीन समाजवादी व्यवस्था स्थापित की गई। इसका प्रभाव यूरोप के अधिकाश देशों पर पड़ा और यूरोप मे विभिन्न प्रकार के समाजवादी विचार प्रकाश में आये। जैसे– ससदीय समाजवाद श्रेणी समाजवाद, समष्टिवाद और फेबियनवाद आदि। परिणामस्वरूप यूरोपीय राज्य लोकहितकारी राज्यों के निर्माण एव क्रियान्वयन में जुट गए। सभी समाजवादी विचारक चाहते हैं कि राज्य शक्तियों का उपयोग इस प्रकार करे कि श्रमिकों को उचित वेतन मिले, उन्हें अधिक सुविधाएँ मिलें पूँजीपतियों द्वारा अधिकाधिक लाभ अर्जित करने की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगे। इन सभी कार्यों के सफल एव सामयिक सम्पादन के लिए राज्य को अहस्तक्षेपवादी नीति का परित्याग करना होगा और उसके स्थान पर लोककल्याणकारी नीति को अपनाना चाहिए।

राज्य द्वारा लोक कल्याण के कार्यों मे हस्तक्षेप के साथ-साथ प्रशासन की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई। औद्योगिक क्रान्ति के साथ प्रशासन के क्षेत्र मे विस्तार हुआ। अब प्रशासन का कार्य पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया। प्रशासन मे विशेषज्ञता के आधार पर नियुक्तिया की जाने लगी। प्रशासन व्यवस्थापिका और राजनीतिक कार्यपालिका की तुलना मे विशिष्टता रखने के कारण सभी समस्याओं के समाधान के लिए नीति-निर्माण एव क्रियान्वयन का कार्य करने लगा। राज्य की धुरी प्रशासन के चारों ओर घूमने लगी। इस प्रकार प्रशासकीय राज्य का विकास हुआ।

प्रशासकीय राज्य की विशेषताएँ

प्रशासकीय राज्य को उनकी मुख्य विशेषताओं के आधार पर अच्छी तरह समझा जा सकता है। मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(1) प्रशासनिक राज्य किसी विचारधारा से जुडा नही है। राज्य व्यक्ति के कार्यों में कम हस्तक्षेप करे या मानव जीवन के सभी कार्यों का उत्तरदायित्व वहन करे। राज्य का स्वरूप चाहे अहस्तक्षेवादी हो या समाजवादी साम्यवादी पूँजीवादी या अधिनायकवादी हो सभी राज्य किसी न किसी सीमा तक प्रशासकीय राज्य अवश्य होते हैं। शासन व्यवस्था के सभी रूपो – एकात्मक और सघात्मक ससदात्मक और अध्यक्षात्मक–मे प्रशासकीय राज्य का अस्तित्व विद्यमान है क्योकि सभी व्यवस्थाओ के लिए प्रशासन (नौकरशाही) अनिवार्य है।

(2) कार्यपालिका का दिन-प्रतिदिन महत्त्व बढा है। व्यवस्थापिका सम्पूर्ण समाज का मस्तिष्क है। राष्ट्र की सामूहिक इच्छा को कानूनी रूप प्रदान करती है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनो को क्रियान्वित करती है। व्यवस्थापिका के पास विशिष्टता और समय का अभाव है। राज्य कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण कार्यपालिका मे स्थायी प्रशासन हेतु विशेषज्ञता एव योग्यता के आधार पर नियुक्तिया की जाती हैं। अत कार्यपालिका मे प्रत्यक्षत सारी शक्तियाँ केन्द्रित हो गई हैं। मुख्य कार्यपालक इतनी अधिक शक्तियों का प्रयोग करता है कि सम्पूर्ण शासन तत्र उसी के इर्द-गिर्द घूमता दिखाई देता है। ब्राउन के शब्दों मे –"समकालीन युग मे प्रवृत्ति निश्चित रूप से बदल गई है। शक्ति अब ससदो से हटकर कार्यपालिकाओ को वापस मिल रही है। कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र विधायी और न्यायिक क्षेत्र तक विस्तृत हो गया है। ससदात्मक व्यवस्था वाले राज्य मे कार्यपालिका व्यवस्थापिका के नेतृत्व के साथ-साथ बहुत से न्यायिक कार्य भी करती है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था वाले राज्य मे कार्यपालिका व्यवस्थापिका को नेतृत्व प्रदान नहीं करती है लेकिन महत्त्वपूर्ण विधायी शक्ति का उपयोग और न्यायिक कार्य अवश्य करती है। अमेरिका में अध्यक्षात्मक व्यवस्था है। वहाँ कार्यपालिका अध्यक्ष को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों को अपनी निषेधात्मक (वीटो पावर) शक्ति द्वारा रद्द करने का अधिकार है या हस्ताक्षर कर उन्हे पारित करने का अधिकार ससदात्मक व्यवस्थापिका की भाँति है। कार्यपालिका द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों के लिए राज्य में स्थायी प्रशासन का जाल सा बिछा रहता है। स्थायी प्रशासन कार्यपालिका को नीति-निर्माण और क्रियान्वयन दोनों मे सहायता प्रदान करता है। प्रशासन की महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण विलोबी ने इसे सरकार का चौथा अग कहा है।

(3) प्रशासकीय राज्य की तीसरी विशेषता नौकरशाही पर निर्भरता है। व्यवस्थापिका मे प्रस्तुत होने वाले प्रस्ताव का प्रारूप नौकरशाही ही तैयार करती है। राजनीतिक स्तर पर कार्यपालिका को नीति निर्माण सम्बन्धी आकडे उपलब्ध कराती है। व्यवहार मे राजनीतिक प्रमुखो का नियत्रण नौकरशाही पर नगण्य रह गया है। राजनीतिक प्रमुखो की स्थिति दयनीय हो गई है। गलती प्रशासन के किसी अधिकारी या कर्मचारी की होती

है और व्यवस्थापिका या जनता को उत्तर राजनीतिक प्रमुखो को देना पड़ता है। अपनी रक्षा के लिए राजनीतिक प्रमुख लोक सेवको की रक्षा करते है। स्थायी प्रशासन या नौकरशाही अपनी योग्यता अनुभव कार्य तकनीक विशेषज्ञता और सूझ-बूझ द्वारा राजनीतिक शक्ति के निर्णय को प्रभावित करती है। कार्यपालिका तो केवल नीति-निर्देश देकर अपना दायित्वपूर्ण कर लेती है और सारा कार्य नौकरशाही पर छोड़ देती है।

राजनीतिक कार्यपालिका के लोक सेवको पर इस तरह निर्भर रहने के अनेक कारण हैं। प्रथम मन्त्रीगण प्रशासकीय ज्ञान से अनभिज्ञ है द्वितीय मन्त्रियो का कार्यकाल लोक सेवको की तुलना मे कम है। इस अल्पकाल मे भी अस्थिरता सदैव बनी रहती है। नेतृत्व के लिए विभिन्न प्रत्याशियो मे अनावश्यक होड लगी रहती है। लोक सेवको का कार्यकाल लम्बा होता है। उनके शासनकाल मे कई नेतृत्व परिवर्तन होते हैं। वह प्रशासन की हर बात से परिचित होते हैं काफी अनुभवी होते है। उपयुक्त अवसर मिलते रहने से विभागीय दावपेचो से परिचित होते है। विशेषज्ञता स्थायित्व अनुभव के कारण लोक-सेवक कार्यपालिका शक्ति के वास्तविक सचालक बन जाते है। वस्तुत लोकसेवक सर्वेसर्वा और मत्री हस्ताक्षरकर्त्ता मात्र रह जाते हैं।

(4) एफ एम मार्क्स ने प्रशासकीय राज्य को नवीन नाम 'गैरिजन स्टेट' दिया है। राज्य की तुलना एक किले से की है और नौकरशाही उसकी सेना है जो बाहरी प्रभाव को अपने मे नहीं आने देती है। नौकरशाह सर्वोच्च पदाधिकारी हैं। वे समाज से अलग रहकर, बाह्य प्रभावो से बचकर कार्य करने की प्रवृत्ति रखते हैं। उनका पृथक वर्ग है। वह अपने को दूसरो से अधिक श्रेष्ठ एव सभ्य समझने लगते हैं। वे सामान्य जनता मे घुलमिल नही पाते हैं। वे नीति निर्धारण निर्णय और सरकार का सचालन करते हैं। सेना भी उन्हीं के निर्देशानुसार कार्य करती है। इस व्यवस्था में नौकरशाही का प्रधान अपने नियत्रणाधीन क्षेत्र पर स्वामी रहित व्यक्ति की तरह कार्य करता है। उसके सारे अधीनस्थो की सेना भी उसी के प्रति वफादार रहती है।

भारतीय नौकरशाही के अधीन देश की स्थिति का वर्णन स्वर्गीय पंडित जवाहर लाल नेहरू ने इस प्रकार किया था – "वाइसराय जिस ढग से बात करता है, वह तरीका न तो इग्लैण्ड का कोई प्रधानमत्री अपना सकता है और न ही अमेरिका का राष्ट्रपति। एक मात्र सम्भव समानान्तर हिटलर का हो सकता है और केवल वाइसराय ही नहीं बल्कि उसकी परिषद् के ब्रिटिश सदस्य गवर्नर और यहाँ तक छोटे-छोटे अधिकारी भी जो विभागो के सचिव या मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य कर रहे हैं वे एक उच्च और अप्राप्य ऊँचाई से बात करते हैं। वे न केवल अपने इस विश्वास में सुरक्षित हैं कि वे जो कुछ चाहते हैं, करते हैं सही है और वही सही रूप में स्वीकार भी किया जाना चाहिए चाहे दूसरे लोग कुछ भी सोचते रहें क्योंकि सत्ता और गौरव तो उन्हें ही प्राप्त हुआ है।"

नौकरशाही के कारण सरकार के कार्य अलग-अलग विभागों, खण्डो और उपखण्डों में विभक्त हो जाते हैं। प्रत्येक विभाग, खण्ड और उपखण्ड अपने को स्वतत्र और पृथक इकाई मानता है और यह भूल जाता है कि वह बडे समग्र का एक भाग है।

(5) प्रशासकीय राज्य मे प्रत्येक स्थान पर नौकरशाही सरचना मे अधिकारी और अधीनस्थ दो प्रमुख वर्ग होते हैं। शीर्षस्थ नौकरशाह अपने अधीनस्थो के मालिक होते है। प्रत्येक व्यक्तिगत अधिकारी इस बात से भली-भाँति परिचित होता है कि उसकी उन्नति पूर्णत उसके उच्च स्तरीय अधिकारी की प्रसन्नता पर निर्भर करती है। ऐसी स्थिति मे कोई भी अधिकारी अपने अधीनस्थो पर निर्भर रहने या उनका सहयोग प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगा। वह सदैव उच्च स्तरीय अधिकारी की चमचागिरी या चापलूसी करता है। नौकरशाही की पदसोपानीय सरचना मे हर अधिकारी अपने उच्च स्तरीय अधिकारी पर निर्भर करता है। अतत प्रत्येक विभाग का शीर्षस्थ अधिकारी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विभाग के नेता की प्रसन्नता पर निर्भर करता है। उसे प्रसन्न करने के लिए उसके इर्द-गिर्द घूमता रहता है।

(6) प्रशासकीय राज्य मे सरकार का सगठन सरचनात्मक विशिष्टीकरण पर आधारित है। सरकार का सगठन एव कार्यप्रणाली विशिष्टीकरण के आधार पर सबसे पहले सरकार के तीनो अगो का निर्माण भी उनकी विशिष्टता के आधार पर है। व्यवस्थापिका जन इच्छा हेतु कानून निर्मात्री है। कार्यपालिका कानूनो का क्रियान्वयन करती है और न्यायपालिका न्याय करती है। इसी भाँति प्रशासकीय क्रिया भी नीति निर्माण निदेशन नियत्रण और निष्पादन मे विभाजित है। दायित्वो का वितरण तकनीकी और प्रशासनिक योग्यतानुसार किया जाता है। अत सरकारी कार्यों का सम्पादन केन्द्र राज्य और स्थानीय स्तर पर किया जाता है। विभाजन से तात्पर्य पूर्ण विभाजन से नही है। यह विभाजन कार्य सम्पादन हेतु शरीर के विभिन्न अगो की भाँति है। जिस तरह शरीर के विभिन्न अग अलग-अलग कार्य करते हुए एक शरीर से जुडे हुए होकर उसका सहयोग करते हैं। ठीक उसी तरह विशेषीकरण के आधार पर सरकारी सगठन और कार्यप्रणाली मे विभाजन किया गया है। ऐसा करने से प्रशासन मे कार्यकुशलता और निपुणता बढ़ती है। प्रत्येक व्यक्ति का कार्य निश्चित होता है। वह अपना उत्तरदायित्व समझते हुए कार्य करता है। परस्पर द्वेष मतभेद क्रोध भाई-भतीजेवाद जैसे तत्वो का कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता है।

(7) प्रशासकीय राज्य मे नौकरशाही का पृथक साम्राज्य है फिर भी नौकरशाही लोक कल्याणकारी कार्यों जन सम्पर्क के कार्यों और जन आकाक्षाओ के अनुरूप कार्य करने मे व्यस्त है। सरकारी नीतियो का क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व प्रशासन पर है। जनता अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यो के लिए राजनेताओ की अपेक्षा प्रशासन के अधिक निकट हैं। लोक सेवको से उसका अधिक काम पडता है। जनता अपने कार्यो की पूर्ति के लिए नौकरशाही की ओर देखती है। नौकरशाही मे सामाजिक परिवर्तनो को पहचानने की समझ है। वह इन कार्यों में सकारात्मक भूमिका निभाती है, क्योकि प्रशासकीय राज्य मे राज्य कल्याणकारी सस्था के रूप मे है।

(8) प्रशासकीय राज्य मे दायित्वों की निरन्तर वृद्धि के कारण कर्मचारियो की सख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। नये-नये विभाग खुलते रहते हैं और नित्य नवीन

सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। पहले की अपेक्षा कर्मचारियो की संख्या दस गुना अधिक हो गई है। संख्या मे वृद्धि के बावजूद प्रशासकीय राज्य मे प्रशासकीय अकुशलता और शिथिलता पनप रही है और यह प्रशासकीय राज्य की एक विशेषता बन गई है। प्रशासनिक कर्मचारियो के लिए भर्ती वेतन पदोन्नति सेवा शर्तो के सम्बन्ध मे नियम बनाये गये है। नियमो के अन्तर्गत कर्मचारियो को अनेक सुविधाएँ भी प्रदान की गई हैं। परिणामस्वरूप कर्मचारियो मे कर्त्तव्यहीनता अकर्मण्यता और अकुशलता पनप रही है। कर्मचारियो मे अधिक से अधिक अधिकारो की माग करना हडताल प्रदर्शन उत्तरदायित्व को टालना, जानबूझकर विलम्बकारी कदम उठाना, कर्त्तव्य विमुखता जैसी प्रवृत्तिया बढने के कारण प्रशासकीय अकुशलता और शिथिलता स्वत आ जाती है।

(9) प्रशासकीय राज्य में नियमो को अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रशासन द्वारा जो कार्य किया जाता है नियमों के अन्तर्गत किया जाता है। इसमे लोचशीलता का अभाव होता है। नौकरशाही केवल नैत्यिक कार्य करती है और यथास्थिति बनाये रखने के लिए ही प्रयत्न करती है। प्रशासन के कार्य गोपनीय होते है। प्रशासन के कार्यों पर खुलकर जनसाधारण मे चर्चा नही की जाती है।

(10) प्रशासकीय राज्य अन्य राज्यो—अहस्तक्षेपवादी और पुलिस— की अपेक्षा अधिक जनकल्याणकारी कार्य करता है। इसकी भूमिका मानव कल्याण के लिए सकारात्मक है। यह कल्याणकारी प्रणाली मे अधिक विश्वास करता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रशासकीय राज्य ऐसा राज्य है, जिसमे स्थायी प्रशासन अधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण होता है। स्थायी प्रशासन का महत्त्व सरकार के तीनो अगो — व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के समान और उनका स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। लोक प्रशासक अपने ज्ञान, अनुभव और योग्यता के कारण नीति क्रियान्वयन के साथ-साथ नीति निर्माण और न्यायिक कार्यों में भी सहयोग करते हैं। किसी सरकार का स्थायित्व भी प्रशासन की कुशलता पर निर्भर करता है।

प्रशासकीय राज्य कोई ऐसा विशिष्ट राज्य या अलग राज्य नहीं है। शासन व्यवस्था का चाहे जो भी रूप हो— समाजवादी साम्यवादी पूँजीवादी, निरकुश या लोक कल्याणकारी प्रशासकीय राज्य सर्वत्र विद्यमान है। एफ एम मार्क्स का कहना है—"प्रशासकीय राज्य का अर्थ केवल व्यवस्थापन एव न्याय के कार्यो तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह एक ऐसा राज्य है जिसमें प्रशासकीय सगठन एव क्रियाएँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होती हैं। काइडेन ने अपने लेख 'दि एसेंस ऑफ दी एडमिनिस्ट्रेटिव स्टेट' में प्रशासकीय राज्य की आठ विशेषताएँ बताई हैं —

1 राज्य के कार्यों में वृद्धि
2 सामाजिक विकास के नये चरण
3 सामाजिक और आर्थिक समस्याओ के समाधान हेतु राज्य का उत्तरदायित्व

4 आर्थिक प्रबन्ध शिक्षा तथा सामाजिक क्षेत्रो मे राज्य का एकाधिकारवादी कार्य
5 नौकरशाही प्रवृति का विस्तार
6 समाज की संरचना म बदलाव
7 द्विघटक मिश्रित अर्थ व्यवस्था का उदय प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियम बनाने की गतिविधिया
8 संरचनाओ का रूपान्तरण।

प्रशासकीय राज्य के गुण

प्रशासकीय राज्य में निम्नलिखित गुण विद्यमान हैं –

(1) प्रशासकीय राज्य लोकहितकारी राज्य है। अपने नागरिकों के अधिकतम सुख और विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है। प्रशासकीय राज्य का लक्ष्य ही अपने नागरिकों की सेवा करना है। अपने नागरिको की आवश्यकताओ के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। यह एक यथार्थवादी राज्य है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था को व्यावहारिक बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(2) प्रशासकीय राज्य नियमो व कानूनों के आधार पर शासन करता है। प्रशासको को सेवा से पूर्व ही कानूनों एव नियमों के अनुसार कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। प्रशासक मनमाने ढग से कार्य नहीं कर सकता है।

(3) विशेषज्ञों द्वारा शासक के रूप में प्रशासकीय राज्य प्रशासन से सम्बन्धित हर बात से परिचित होते हैं। उनका प्रशासनिक प्रशिक्षण एव अनुभव उन्हें प्रशासनिक विशेषज्ञ बनाता है। वे अपने पद पर स्वामी के रूप में कार्य करते हैं।

(4) प्रशासकीय राज्य स्थायी होता है। इसमें निरन्तरता भी आसान होती है। राज्य में राजनीतिक अस्थिरता के कारण नित्यप्रति परिवर्तन होते रहते हैं। उस परिवर्तनीय वातावरण के बीच भी प्रशासन स्थिर रहता है। यह प्रशासकीय राज्य का ही गुण है। नौकरशाही रूढ़िवादी प्रकृति की होने के कारण आमूल परिवर्तनों में विश्वास नहीं करती है। वह सुधार की दिशा में फूँक-फूँक कर कदम उठाती है। अत प्रशासन ही इन देशों में स्थिरता बनाए रखने का माध्यम है।

(5) प्रशासकीय राज्य औद्योगिक समाज की प्रशासनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। आज विश्व के सभी राज्य औद्योगिक राज्य बन गए हैं, जो कृषि प्रधान राज्य की तुलना में अधिक जटिल और तकनीकी हैं। इस जटिल राज्य की समस्याओं का समाधान केवल प्रशासकीय राज्य ही कर सकता है।

(6) प्रशासकीय राज्य जनता की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करते हुए सरकार समाज अथवा अन्य सगठनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है। लोक प्रशासक इन सगठनों में सम्पर्क सूत्र बनाए रखने म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(7) सुनियोजित अर्थव्यवस्था केवल प्रशासकीय राज्य मे ही सम्भव है। प्रशासक जनता के निकट होने के कारण जनता के विचारो से भली-भाँति परिचित होते है। अत विकास की सम्भावनाओ आवश्यकताओ और समस्याओ का पता आसानी से लगा लेते है तथा उनके ज्ञान, योग्यता ओर अनुभव का लाभ उठाकर दीर्घकालीन और वार्षिक विकास की योजनाएँ बनाई जा सकती है जो कि राजनेताओ के लिए सम्भव नही है। प्रशासन द्वारा निर्मित नीतियो को समयानुसार कानून के अन्तर्गत क्रियान्वित किया जाता है।

(8) प्रशासकीय राज्य मे मितव्ययता और कुशलता सम्भव है। योग्य अनुभवी प्रशासक प्रशासनिक कार्यों को कुशलतापूर्वक और कम खर्च कर पूरा करने मे अपना सहयोग प्रदान करते है।

(9) प्रशासकीय राज्य मे कार्यात्मक पहलुओ मे विशेषीकरण और तकनीक का अधिकाधिक लाभ उठाया जा सकता है। कार्यकुशलता और व्यावहारिकता पर अधिक जोर दिया जाता है। नये-नये तरीकों और प्रयोगों को अपनाकर प्रशासन को और अधिक कुशल बनाया जा रहा है।

(10) प्रशासकीय राज्य मे विशेष हित गौण और सामान्य हितो को अधिक महत्त्व दिया जाता है। उच्च स्तरीय प्रशासक व्यवहार करने से पहले कई बातो पर विश्वास करते है। जैसे– राजनीतिक हवा का ध्यान लोकहित के विरोधी दावो सेवित व्यक्तियो की मागो, सगठनात्मक आवश्यकताओ व्यक्तिगत मूल्य की प्राथमिकताओ के मध्य सतुलन स्थापित करना आदि। विरोध की स्थिति उत्पन्न होने पर प्रशासक सघर्ष की स्थिति को टालने का प्रयास करते है।

प्रशासकीय राज्य के दोष

प्रशासकीय राज्य के उक्त लाभो को प्राप्त करने के लिए स्थायी प्रशासन अथवा नौकरशाही में ईमानदार कर्त्तव्यपरायण और आदर्शवादी प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। जब नौकरशाही इन गुणो से पथभ्रष्ट होकर सेवाभाव रहित होकर कार्य करती है तो प्रशासकीय राज्य मे कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रशासकीय राज्य के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं–

(1) प्रशासकीय राज्य लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के विरुद्ध है। लोकतन्त्र मे सत्ता के विकेन्द्रीकरण को स्वीकार किया जाता है। साथ ही शक्ति पृथक्करण के आधार पर *व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका का गठन किया जाता है। इन तीनों अगो* मे शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया जाता है। प्रशासकीय राज्य में केन्द्रीकरण को स्वीकार किया जाता है। यह नौकरशाही राज्य होता है। जनप्रतिनिधियो के स्थान पर प्रशासक अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। प्रशासक नीति निर्माण नीति क्रियान्वयन और कई विवादों मे न्याय करने का कार्य भी करने लगते हैं। प्रशासन और न्यायिक शक्तियों का एक व्यक्ति के पास होना स्वतन्त्रता के लिए घातक है। कार्यपालिका की बढती हुई शक्तियों को लार्ड हीवर्ट ने 'नई निरकुशता' से सम्बोधित किया है। रेम्जेम्योर के अनुसार नौकरशाही की

शक्तियाँ लोकतत्र के आवरण के नीचे फलती-फूलती हैं। रेम्जम्योर ने नौकरशाही की तुलना अग्नि से की है जो सेवक के रूप मे बहुमूल्य सिद्ध हो सकती है लेकिन मालिक या स्वामी बन जाने पर घातक बन जाती है।

(2) प्रशासकीय राज्य के पास अनगिनत कार्यों का भार होता है। उन सभी कार्यों को करने के लिए पर्याप्त दक्षता विशेषज्ञो और साधनो का अभाव होता है। फलत असन्तुलित विकास की सम्भावनाएँ बढ जाती है।

(3) प्रशासकीय राज्य मे लालफीताशाही अधिक पाई जाती है। जिसका बडा कारण यह है कि कार्यकुशलता की दृष्टि से प्रशासनिक विभागो मे पदसोपान स्थापित किये जाते है। कार्य प्रगति का क्रम नियत्रण का क्षेत्राधिकार आदेश की एकता निश्चित व्यवस्था निदेश एव पर्यवेक्षण का अधिकार आदि लालफीताशाही को जन्म देता है। प्रक्रिया की औपचारिकता मे अधिक विश्वास किया जाता है। निर्णय लेने मे देरी होती है।

(4) प्रशासकीय राज्य मे कानून एव नियमो के अनुसार कार्य किया जाता है। कानून और नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है। परिणामस्वरूप कार्य की सम्पन्नता मे बाधा आती है। कार्यकुशलता और जनमत की उपेक्षा कर दी जाती है। जनसाधारण इससे असतुष्ट रहता है। ऐसी स्थिति मे जन सहयोग की कल्पना नही की जा सकती है।

(5) प्रशासकीय राज्य मे स्थायी प्रशासन अथवा नौकरशाही शक्ति के भूखे होते हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति हूवर का मत था कि नौकरशाही मे आत्मस्थिरता आत्म-विस्तार और अधिक शक्ति की माँग– ये तीन प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो कभी सन्तुष्ट नही होती है। नौकरशाह सदैव शक्ति सघर्ष मे रत रहते है। जनहित की बात को पूर्णरूपेण भुला देते है। स्थायी प्रशासन के सदस्य लोकतत्र के नाम पर अपने विभागो का विस्तार करने मे व्यस्त रहते हैं। कार्यकुशलता की परवाह नही करते हैं। मत्रियो के उत्तरदायित्व के नाम पर सारी शक्तियाँ स्वय के हाथो मे केन्द्रित कर ली है।

(6) प्रशासकीय राज्य में स्थायी प्रशासन अथवा नौकरशाही में श्रेष्ठता की भावना पाई जाती है। प्रशासकों को कार्य सम्पादन हेतु कुछ अधिकार एव शक्तियाँ प्रत्यायोजित की जाती हैं। इन शक्तियों के कारण प्रशासक अपने को जनसाधारण से श्रेष्ठ समझने लगते हैं। सदैव अभिमान के मद में रहते हैं और जनता के प्रति हीन भावना रखते हैं। शासक और शासितो के बीच गहरी खाई पैदा हो जाती है।

(7) प्रशासकीय राज्य में नौकरशाही निरकुश हो जाती है। नौकरशाही की शक्तियो मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है और उस पर नियत्रक शक्तियाँ शिथिल पड जाती हैं। निरकुश नौकरशाही की मान्यता है कि कार्यपालिका का कार्य शासन करना है और शासन करने के लिये उसे विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। स्थायी प्रशासन मे विशेषज्ञ लोक सेवक होते है। उन्ही के मार्गदर्शन एव पथप्रदर्शन में ही कार्यपालिका शासन कर सकती हैं। उसका जब चाहे जैसा चाहें कानूनों का वास्ता देकर कार्य करवाया जा सकता है।

(8) प्रशासकीय राज्य मे जनता अपनी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये राज्य पर निर्भर करती है। जनता अपनी छोटी से छोटी सेवाओ या कार्यों की अपेक्षा राज्य से करती है । राज्य द्वारा सभी आकाक्षाओ का पूरा किया जाना सम्भव नही हो पाता है। प्रशासकीय राज्य मे जनता द्वारा कोई आवश्यक पहल नही की जाती है । राज्य मे लोचशीलता का अभाव रहता हे । परिणामस्वरूप राज्य जनता को पूर्ण सतुष्टि नही दे पाता हे ।

आज सभी व्यवस्थाओ ने यह स्वीकार कर लिया है कि प्रशासकीय राज्य नि सन्देह नौकरशाही राज्य है। आधुनिक राज्य नोकरशाही के अभाव में अस्तित्वहीन है। जनता की असीमित आकाक्षाओ और राज्य के उद्देश्यो की पूर्ति के लिये नोकरशाही की आवश्यकता है । औद्योगिक और नगरीय सभ्यता के कारण सार्वजनिक क्षेत्रों के विकास मे सरकार को बहुत अधिक और जटिल कार्यभार वहन करना पड रहा है। इसकी पूर्ति कुशल प्रशासकीय राज्य मे ही सम्भव है।

उक्त विवेचन से पता चलता है कि प्रशासकीय राज्य मे केन्द्रीकरण शक्ति नौकरशाही का प्रेम लालफीताशाही आदि कुछ बुराइयाँ हैं। इन बुराइयो को दूर करने के प्रयास करने चाहिए। नीति प्रणाली इस प्रकार विकसित होनी चाहिए कि नौकरशाही अपनी मनमानी न कर सके। निर्वाचित प्रतिनिधि यदि अपने कर्त्तव्यो के प्रति जागरूक हैं तो स्थायी प्रशासन तत्र अपनी मनमानी नही कर सकता है।

प्रत्यायोजित विधि निर्माण की मात्रा मे कमी की जानी चाहिए। राज्य कार्यों का विकेन्द्रीकरण प्रशासकीय राज्य की बुराइयों को दूर करने हेतु महत्त्वपूर्ण कदम हैं।

भारतः एक प्रशासकीय राज्य

यहाँ यह कहना असगत नहीं होगा कि भारत एक लोकतत्रात्मक राज्य है। सम्पूर्ण सम्प्रभुता जनता मे निहित है। भारत को स्वतत्र राष्ट्र बने लगभग 55 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। लोककल्याणकारी राज्य होने के कारण जनता को अधिकतम सुविधाएँ प्रदान करना इसका लक्ष्य है। राज्य के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है और निरन्तर वृद्धि हो रही है। जनता अपनी सभी आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए राज्य की ओर देखती है। शासन का कार्य शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाकर तीन अगों– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका मे बाटा गया है। तीनों के पृथक-पृथक कार्य हैं। परन्तु कार्यपालिका का कार्य एव महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। कार्यपालिका नीति निर्माण नीति क्रियान्वयन और कानूनो की व्याख्या और न्याय का कार्य करती है। भारत मे औद्योगीकरण एव शहरीकरण के कारण कई जटिल कार्य राज्य को करने होते हैं। उनके लिए विशिष्टता की आवश्यकता होती है। कार्यपालिका के पास स्थायी प्रशासन अथवा नौकरशाही है जो योग्य अनुभवी एव विशेषज्ञता युक्त है तथा कार्य निष्पादन में वही कार्यपालिका की सहायता करता है।

भारत में नित्य नये-नये विभाग सस्थाएँ और अभिकरण स्थापित किए जाते हैं।

भारत मे निरकुश नौकरशाही है। प्रशासकीय राज्य के सभी दोष भारत मे विद्यमान हैं जैसे– केन्द्रीयकरण लालफीताशाही प्रशासको का शक्ति प्रेम नियमो के अनुसार कार्य देरी प्रत्यायोजन व्यवस्था। भारत मे विज्ञान और तकनीकी विकास के साथ विशेषीकरण मे वृद्धि हो रही है। अब व्यवस्थापिका सभी विषयो पर कानून बनाने मे असमर्थ है। नीति निर्माण के बहुत सारे कार्य कार्यपालिका को प्रदत्त किए गए हैं। राजनीतिक कार्यपालिका ने विशेषीकरण की आवश्यकता को देखते हुए नौकरशाही को प्रदत्त कर दिया है। ऐसे में नीति निर्माण और नीति क्रियान्वयन दोनो का उत्तरदायित्व नौकरशाही पर आ पड़ा है। प्रशासनिक न्यायाधिकरणो की सख्या में वृद्धि के साथ-साथ प्रशासक न्याय कार्य भी करने लगे हैं। प्रशासक वर्ग और जनता के बीच किसी प्रकार का रिश्ता दिखाई नही देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत मे लोकतान्त्रिक शासन न होकर प्रशासनिक अधिकारियों का शासन है। निस्सन्देह भारत एक प्रशासकीय राज्य है। प्रशासकीय राज्य होने के कारण भारत मे अनुत्तरदायित्व निरकुशता और भ्रष्टाचार मे वृद्धि हुई है।

सदर्भ एव टिप्पणियाँ

1 हरमन फाइनर — दि थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस ऑफ मॉडर्न गवर्नमेन्ट

2 वाल्डो — एडमिनिस्ट्रेटिव स्टेट

3 एफ एम मार्क्स — थ्योरी ऑफ स्टेट

4 काइडेन — दि एसेस ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव स्टेट (एक लेख)

❑❑❑

अध्याय–5

सरकार का संगठन : व्यवस्थापिका

राज्य के चार प्रमुख तत्वों में से एक तत्व सरकार है। राज्य एक अमूर्त संस्था है और उसका मूर्त रूप सरकार है। राज्य एक सैद्धान्तिक अवधारणा है और उसका व्यवहारिक संगठित स्वरूप सरकार है। डा. गार्नर के शब्दों में "राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस संगठन द्वारा की जाती है उसका नाम सरकार है।"

एनसाइक्लोपिडिया ऑफ ब्रिटेनिका में वर्णित है कि– "सरकार सामाजिक जीवन के उस पहलू से सम्बन्धित है जो सहमति और नियंत्रण शक्ति एवं प्राधिकार पर केन्द्रित है।" इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपिडिया ऑफ सोशल साइंसेज के अनुसार "सरकार व्यक्तियों के समूह से बनी होती है जो शक्ति के प्रयोग में एक निश्चित नेतृत्व के माध्यम से हिस्सा लेती है।"

सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों संस्थाओं और साधनों से होता है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा अभिव्यक्त एवं क्रियान्वित की जाती है। सरकार का प्रकार भले कैसा ही हो उसे मुख्य रूप से तीन कार्य निष्पादन करने पड़ते हैं– विधि का निर्माण विधि को लागू करना तथा न्याय करना। प्राचीन काल में एक ही निरकुंश शासन द्वारा सरकार के ये तीन कार्य किये जाते थे। किन्तु राजनीतिक विकास के साथ प्रशासन की जटिलताएं बढ़ती गई और तब यह असम्भव-सा हो गया कि एक ही व्यक्ति सरकार के इन कार्यों को स्वयं ही कर सके। प्रजातंत्र की स्थापना के साथ-साथ यह उचित माना गया कि सरकार की तीन शक्तियों को विभक्त किया जाय। इस मान्यता के अनुसार सरकार के विधि निर्माण कार्य हेतु व्यवस्थापिका विधि क्रियान्वयन हेतु कार्यपालिका और न्याय हेतु न्यायपालिका का गठन हुआ।

वर्तमान राज्य में सरकारों के तीन अंग होते हैं– (1) व्यवस्थापिका (2) कार्यपालिका (3) न्यायपालिका जो सरकार के तीनों कार्यों के सम्पादन के लिये उत्तरदायी हैं। व्यवस्थापिका विधि निर्माण का कार्य करती है। कार्यपालिका विधि क्रियान्वित करती है। न्यायपालिका विधि का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है।

शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त

यह स्पष्ट हो चुका है कि कार्यों के आधार पर सरकार को तीन भागों में विभक्त किया गया है इसी को कार्य-विभाजन कहते हैं। वर्तमान युग में विशाल राज्यों में यह

सम्भव नही है कि एक ही व्यक्ति सरकार के तीनों अगो– व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्यों को सुचारू रूप से सम्पादित कर सके। कोई भी व्यक्ति कितना ही सक्षम एव योग्य क्यो न हो अकेला विधि निर्माण विधि क्रियान्वयन और विवादास्पद विषयो का निर्णय करने का कार्य नही कर सकता है। प्राचीन काल में आचार्य चाणक्य ने इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया था– "राज्य के बहुत सारे कार्य होते हैं और बहुत से स्थानो पर होते है। अत अकेला एक राजा इन सभी कार्यों को स्वय नही कर सकता है। राजा को राज्य कार्य सम्भालने के लिये सहायक तो नियुक्त करने ही होगे पर यह भी सम्भव है कि ये सहायक राजा की इच्छानुसार ही कार्य करें और राज्य की विधि निर्माण विधि क्रियान्वयन और न्याय करने की शक्तियाँ एक राजा के हाथो मे ही केन्द्रित रहे।

प्राचीनकालीन राजतत्रों की यही दशा थी। लोकतत्र के विकास के साथ-साथ इस अवधारणा का प्रारम्भ हुआ कि सरकार के तीन अगो की शक्तियाँ किसी एक स्थान पर केन्द्रित नही होनी चाहिए। इन तीनो अगो या विभाग को एक-दूसरे से सर्वथा पृथक एव स्वतत्र किए जाने के सिद्धान्त को शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त कहा जाता है। मॉण्टेस्क्यू ने इस बात पर विशेष बल दिया कि सरकार के प्रत्येक अग को अपने-अपने कार्य क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए। किसी भी अग को दूसरे अग में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और न ही प्रभावित करना चाहिए। प्रत्येक अग अपने क्षेत्र में स्वतत्र होना चाहिए।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का इतिहास

अठारहवीं शताब्दी मे फ्रेंच विचारक मॉण्टेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रबल रूप से प्रतिपादन किया था पर माण्टेस्क्यू से पूर्व भी कई लेखकों ने शक्ति पृथक्करण के बारे मे अप्रत्यक्ष रूप से थोडा सा सकेत दिया है। परन्तु उन लेखको ने इस सिद्धान्त की इतनी स्पष्ट व्याख्या नहीं की थी जितनी मॉण्टेस्क्यू ने की थी। अरस्तु ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' में सरकार के तीन अगों का वर्णन किया है–जनपद सभा शासक और न्याय विभाग। परन्तु उसने इन अगो के पारस्परिक सम्बन्धो के बारे मे विस्तार से चर्चा नही की। रोमन लेखक पोलिबियस और सिसरोन ने भी अरस्तु का अनुसरण कर सरकार के तीन अगों– (1) सीनेट (2) कौंसिल (3) ट्रिब्यून– का प्रतिपादन किया था और रोमन रिपब्लिक शासन की सफलता का प्रमुख कारण तीन अगो में नियत्रण और सन्तुलन (Checks and Balances) की व्यवस्था को माना है। मध्यकाल में कुछ विचारको ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इन विचारकों मे सर्वप्रथम पड्डुआ का मारसिलियो (Marsiglio of Pedua) था। जिसने यह प्रतिपादित किया कि – राज्य का स्वरूप एक शरीर के समान है। जिसके दो मुख्य अग हैं– व्यवस्थापन विभाग और शासन विभाग। ये दोनो अग एक-दूसरे पर आश्रित होते हुए भी एक दूसरे से पृथक है।

सोलहवी शताब्दी में बेदा ने न्यायपालिका की स्वतत्रता पर विशेष जोर दिया। उसके विचारानुसार कार्यपालिका और न्यायपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथ मे

निहित नहीं होनी चाहिए। दोनों शक्तियों को एक व्यक्ति को सौंप देने से अत्याचारी शासन स्थापित होने की सम्भावना है। इंग्लैंड में शानदार क्रान्ति (Glonons Revolution) के नेताओं का दृढ विश्वास था कि कानून बनाने और कानून लागू करने की शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित नहीं होनी चाहिए ताकि अत्याचारी शासन स्थापित न हो। इस काल और समझौता सिद्धान्त के महान समर्थक जॉन लॉक ने अपनी पुस्तक 'सिविल गवर्नमेंट' में कार्यपालिका और विधानपालिका में शक्तियों के पृथक्करण की पुरजोर सिफारिश की है।

मॉण्टेक्यू के विचार

फ्रैंच लेखक मॉण्टेक्यू ने अपने सिद्धान्त की सुन्दर व्याख्या अपनी पुस्तक "स्प्रिट ऑफ दी लॉज" (1748) में की थी। इस समय फ्रांस में लुई चौदहवें का शासन था, जो प्राय कहा करता था कि मैं राज्य हूँ, मेरी इच्छा ही कानून है। ऐसे राजा के शासन में जनता को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। इस समय तक इंगलैंड में राज्य क्रान्ति हो चुकी थी और वहाँ का शासन अनेक अंशों में संवैधानिक और लोकतांत्रिक हो चुका था। मॉण्टेक्यू ने इंग्लैण्ड की यात्रा की। वह वहाँ अठारह माह तक रहे। इस काल में उन्होंने इंग्लैण्ड की शासन व्यवस्था का समीप से और गम्भीरता से अध्ययन किया। उन्होंने अनुभव किया कि इंग्लैण्ड में जनता की स्वतंत्रता भली-भाँति सुरक्षित है, और इसका कारण है वहां शासन व्यवस्था में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का भली-भाँति अनुसरण किया जाना। संसद वहां पर कानून निर्मात्री संस्था है। राजा और उसके मंत्री कानून को क्रियान्वित करते हैं– और न्याय विभाग संसद और राजा के हस्तक्षेप से स्वतंत्र है।

इंग्लैण्ड से प्रेरणा प्राप्त कर मॉण्टेक्यू ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को फ्रांस की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये आवश्यक बताया। उसने कहा कि सरकार के ये तीनों अंग एक-दूसरे से स्वतंत्र हों और अपना-अपना कार्य करें। एक ही व्यक्ति के हाथों में सरकार के तीनों अंगों की शक्तियों को केन्द्रित करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि इससे लोगों की स्वतंत्रता समाप्त हो जाएगी। उसने अपने देश में भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा विधान मण्डल या संसद को शक्तिशाली बनाने पर विशेष जोर दिया।

माण्टेक्यू ने लिखा है कि "यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियों का एक ही हाथों में केन्द्रीयकरण हो जाए तो स्वतंत्रता नहीं रह सकती है क्योंकि इससे इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राजा या सीनेट अत्याचारी कानून बनाए और उनको अत्याचारी ढंग से लागू करे। यदि न्यायपालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से अलग न किया गया तो कोई स्वतंत्रता नहीं रह सकती है अगर न्यायपालिका को व्यवस्थापिका के साथ मिला दिया गया तो न्यायाधीश कानून निर्माता हो जाएगा। यदि न्यायपालिका को कार्यपालिका के साथ मिला दिया गया तो यह सम्भव है कि न्यायाधीश हिंसात्मक और अत्याचारपूर्ण व्यवहार करे। यदि एक ही व्यक्ति या समुदाय चाहे वह लोगों

का हो या सामन्तो का हो तीनों कार्य करने लगे अर्थात कानून बनाए उसको लागू करे और मुकदमो का फैसला करे तो स्वतत्रता बिल्कुल नष्ट हो जाएगी और राज्य अपनी मनमानी करने लगेगा।"

मॉण्टेक्यू का विचार था कि सरकार के तीनो अगा का एक ही हाथ में केन्द्रीयकरण होने से निरकुश शासन की स्थापना हा सकती है—जैसा कि [illegible] म था। अत वह लागो की स्वतत्रता को सुरक्षित रखने हेतु व्यवस्थापिका और न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियत्रण से मुक्त रख सकता था।

मॉण्टेक्यू के इन विचारो का निष्कर्ष निम्न प्रकार है—

(1) यदि व्यवस्थापन और शासन विभाग पृथक न हों और राज्य के ये दोनों कार्य एक ही व्यक्ति या व्यक्ति समूह के हाथों में रहें ता मनमाने कानून बनेंगे और उनका प्रयोग भी मनमाने ढग से किया जाएगा।

(2) यदि व्यवस्थापन और न्याय विभाग पृथक् न हों तो कानूनों की व्याख्या मनमाने ढग से की जाएगी।

(3) यदि शासन और न्याय विभाग सयुक्त हों तो शासन विभाग पर कोई अकुश नहीं रह जाएगा क्योकि शासक वर्ग के कार्यों को अनुचित करार देने वाली कोई सत्ता नहीं रह जाएगी।

(4) यदि व्यवस्थापन शासन और न्याय— तीनों विभाग एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के हाथों में हो जाए तब तो स्वतत्रता की सत्ता ही सम्भव नहीं हो सकती।

(5) राज्य की तीन शक्तियो को पृथक कर देने से सरकार की स्वेच्छाचारिता पर अकुश स्थापित हो जाता है प्रत्येक शक्ति एक-दूसरे के मनमाने कार्यों पर नियत्रण लगा सकती है और राज्य सस्था के तीना अगों मे सतुलन स्थापित हो जाता है।

उक्त विचार मॉण्टेक्यू ने फ्रास में व्यक्त किये थे। ठीक उसी प्रकार के विचारों का समर्थन करते हुए ब्लैकस्टोन ने अपनी पुस्तक " इग्लैण्ड में कानूनों की व्याख्या " में लिखा "जब किसी कानून बनाने और उसे लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति —समूह के हाथों में आ जाता है तो लोगों की स्वतत्रता नष्ट हो जाती है। ऐसी सम्भावना हो सकती है, कि शासक अत्याचारी कानून बनाए और उनको अत्याचारी ढग से लागू करे क्योंकि उसके पास वे सभी शक्तिया होती हैं जो वह कानून निर्माता की हैसियत से अपने आपको देना उचित समझता है। यदि न्याय शक्ति को विधानमण्डल के साथ मिला दिया गया ता लोगो का जीवन स्वतत्रता और सम्पत्ति स्वेच्छाचारी न्यायाधीशों के हाथों में आ जाएगी जो निर्णय अपने मत के अनुसार देते हों, न कि कानून के आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार जिन्हें कानून निर्माता तो बेशक छोड दे पर जज नहीं छोडते। यदि न्यायपालिका को कार्यपालिका के साथ में मिला दिया जाए तो उनका सगठन व्यवस्थापिका से अधिक शक्तिशाली हो जायेगा।"

मॉण्टेक्यू आर ब्लेकस्टोन जेसे विचारको के कारण शक्ति पृथक्करण सिद्धात लोकप्रिय हुआ। अमेरिका के प्रसिद्ध संविधान निर्माता मेडिसन ने कहा है कि – "विधानपालिका कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की सभी शक्तियो का एक ही हाथो मे केन्द्रीयकरण होना अत्याचार की परिभाषा है चाहे वह एक व्यक्ति हो थोडे हो या अधिक, चाहे वंशानुगत हो या स्वत नियुक्त हो अथवा निर्वाचित हो।"

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का व्यवहारिक प्रभाव

इस सिद्धान्त का फ्रांस और अमरिका पर विशेष प्रभाव पडा। फ्रन्च क्रांति के लिए इस सिद्धान्त ने पृष्ठभूमि तैयार की थी। फ्रांस मे 1789 ई मे क्रान्ति के पश्चात मानव अधिकारों की घोषणा हुई। सन् 1791 ई के संविधान द्वारा फ्रांस मे शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। व्यवस्थापिका कार्यपालिका तथा न्यायपालिका तीनो को एक-दूसरे से पृथक और स्वतत्र रखा गया। यद्यपि नेपोलियन के समय मे इस सिद्धान्त को कम महत्त्व दिया गया परन्तु यह सिद्धान्त पूर्णत फ्रांस मे मरा नही और अब भी लोगो के मन पर इस सिद्धान्त का थोडा बहुत प्रभाव अवश्य है।

अमेरिका के संविधान निर्माताओ पर इस सिद्धान्त का विशेष प्रभाव पडा। डाक्टर फाइनर ने लिखा है–"हम नही कह सकते कि अमेरिकी संविधान के निर्माताओ ने संविधान मे शक्ति पृथक्करण मॉण्टेक्यू के सिद्धान्त से प्रभावित होकर लिया था या उनका उद्देश्य था कि नागरिको की स्वतत्रता और सम्पत्ति की रक्षा के लिए शक्ति पृथक्करण का आश्रय लेना चाहिए।" मेडिसन तो बार-बार कहा करता था कि– "हम निरन्तर मॉण्टेक्यू की अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं।

फ्रांस और अमेरिका के अतिरिक्त इस सिद्धान्त का मैक्सिको अर्जेण्टाइना ब्राजील आस्ट्रेलिया और चिली राज्यो पर काफी प्रभाव पडा और उन्होने इस सिद्धान्त के गुणो को थोडा या अधिक किसी न किसी रूप मे अपना लिया। स्वतत्र भारत के संविधान मे शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को पूर्णत नही अपनाया गया है। जिन राज्यो मे ब्रिटिश शासन पद्धति की भाँति संसदात्मक पद्धति लागू है। शासन और व्यवस्थापन विभाग एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहते हैं।

व्यवस्थापिका (Legislature)

व्यवस्थापिका सरकार का महत्त्वपूर्ण अग है। इसे विधायिका या विधानपालिका नाम से भी जाना जाता है। गहराई से देखने पर स्पष्ट होता है कि व्यवस्थापिका सरकार की आधारशिला है। कार्यपालिका और न्यायपालिका की तुलना मे इसके कार्य और उत्तरदायी दोनो ही अधिक है। इसका प्रमुख कार्य जैसा कि पहले बताया जा चुका है कानूनो का निर्माण करना है जिनके द्वारा फिर कार्यपालिका शासन करती है, अथवा जिनकी व्याख्या न्यायपालिका द्वारा की जाती है। शासन का आधार कानूनो द्वारा बनता है और कानूनों का निर्माण व्यवस्थापिका करती है। यह रूप व्यवस्थापिका के महत्त्व को सिद्ध करता है। विशेष रूप से लोकतत्र मे व्यवस्थापिका की भूमिका बहुत महत्त्व रखती है। वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व होता है।

व्यवस्थापिका एक निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा सौंपी गई सम्प्रभुता का उपयोग करती है क्योंकि लोकतंत्र में निर्वाचन के माध्यम से जनता अपनी सम्प्रभुता की शक्ति अपने द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को सौंप देती है। इस कारण व्यवस्थापिका को जनमत का आइना कहा जाता है। निर्वाचित प्रतिनिधि जनमत का प्रतिनिधित्व करते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित विधियों में सम्प्रभुता निहित होती है। अतः इसमें राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है और उन्हें राज्य सम्प्रभुता का सम्बल प्राप्त होता है। कार्यपालिका उन्हें क्रियान्वित करती है। वर्तमान लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका को आधुनिक लोकतंत्र शासन का बुद्धिमान सलाहकार अथवा विज्ञ-मण्डल (Brain Trust) कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

व्यवस्थापिका को भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। ब्रिटेन भारत कनाडा और आस्ट्रेलिया में इसे संसद कहा जाता है। अमेरिका में इसे कांग्रेस जापान में डायट फ्रांस में राष्ट्रीय सभा स्वीट्जरलैंड में संघीय सभा और सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत नाम दिया गया है। इसी प्रकार व्यवस्थापिका का महत्त्व किसी भी देश में प्रचलित शासन के प्रकार पर भी निर्भर करता है। इंग्लैण्ड और भारत में संसदीय शासन व्यवस्था है। यहाँ व्यवस्थापिका का महत्त्व अन्य देशों की व्यवस्थापिका की तुलना में अधिक प्रभावी है। इन देशों में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर अंकुश रखती है। नाम मात्र की कार्यपालिका पर महाभियोग चला सकती है। वास्तविक कार्यपालिका का गठन करती है। वास्तविक कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रसादपर्यन्त बनी रह सकती है। वास्तविक कार्यपालिका को अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा समाप्त कर सकती है। अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका के कार्य एवं शक्तियाँ निश्चित एवं मर्यादित होते हैं। कार्यपालिका निकाय पर उसका प्रत्यक्ष एवं प्रभावी नियंत्रण नहीं होता है। निरंकुश शासन में व्यवस्थापिका शासक या अधिनायक के हाथ की कठपुतली मात्र होती है।

व्यवस्थापिका का गठन

संगठन की दृष्टि से व्यवस्थापिका के दो प्रकार हैं— एकसदनात्मक तथा द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका। जिन राज्यों में व्यवस्थापिका का एक सदन होता है एक सदनात्मक व्यवस्थापिका कहलाती है उसे एक सदनीय प्रणाली भी कहते हैं। जहाँ व्यवस्थापिका के दो सदन हैं उसे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका या द्विसदनात्मक प्रणाली कहा जाता है। आधुनिक राज्यों में द्विसदनात्मक प्रणाली वाली व्यवस्थापिका को स्वीकार किया गया है। लोकतंत्र के विकास के साथ-साथ व्यवस्थापिका में संगठन एवं शक्तियों का विकास हुआ।

आज दुनिया के कुछ छोटे-छोटे राज्यों को छोड़कर सभी महत्त्वपूर्ण राज्यों ने द्विसदनात्मक प्रणाली वाली व्यवस्थापिका को स्वीकार कर लिया है। आधुनिक शासन तंत्र का यह एक विवादास्पद विषय रहा है कि व्यवस्थापिका एक सदनीय हो अथवा

द्विसदनीय। कुछ विचारकों का यह मानना है कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका श्रेष्ठ है ता कुछ विचारक एक सदनात्मक व्यवस्थापिका को श्रेष्ठ मानते हैं।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में प्रथम सदन को निचला सदन (Lower House) तथा दूसरे सदन को उच्च सदन (Upper House) के नाम स सम्बोधित किया जाता है। प्रथम सदन प्राय प्रत्यक्ष रीति से चुना हुआ सदन रहता है। जिसके सदस्य प्रत्यक्षत जनता द्वारा चुने हुए जनता के प्रतिनिधि कहलाते हैं। दूसरा सदन प्राय अप्रत्यक्ष रीति से गठित किया जाता है जिसमे विशेष हितों का अथवा सघ मे सम्मिलित इकाई राज्यो का प्रतिनिधित्व रहता है। इस व्यवस्था के कुछ अपवाद भी हैं। जैसे– स्वीडन और नीदरलैंड मे जनता द्वारा निर्वाचित सदन को द्वितीय सदन और अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदन को प्रथम सदन कहा जाता है। अत प्रोफेसर के सी व्हीयर का सुझाव है कि इस उलझन से बचने के लिए सदनो को प्रथम और द्वितीय कहने की अपेक्षा निम्न सदन और 'उच्च सदन' कहना सुविधाजनक होगा।"

1 एक सदनात्मक व्यवस्थापिका (Unicameral System)–जिस व्यवस्थापिका मे एक सदन होता है एक सदनात्मक व्यवस्थापिका है। अठारहवीं शताब्दी के अतिम काल तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे एक सदनात्मक व्यवस्थापिका का समर्थन किया गया है। फ्रास मे मॉण्टेक्यू, ह्यूगोरस, एबेसीज तथा डीलोनी जैसे विद्वानों एव क्रातिकारियो की यह मान्यता थी कि समाज मे जनता की शक्ति सम्प्रभु सत्ता है और इसका प्रतिनिधित्व एक सदन द्वारा किया जा सकता है। आज भी यूरोप के कुछ देशों यूनान, बल्गारिया में एक सदनात्मक व्यवस्थापिका है। इस व्यवस्था के समर्थको का कहना है, कि कानून जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। यह कार्य एक सदन द्वारा किया जा सकता है एक से अधिक द्वारा नहीं, क्योकि इच्छा एक होती है, अनेक नहीं। एक सदनात्मक व्यवस्था को इस कारण से भी पसन्द किया जाता है कि दूसरा सदन खर्चीला और अनुपयोगी माना गया है। व्यवस्थापिका एक सदनात्मक ही होनी चाहिए। इस पक्ष में पक्षधरों द्वारा निम्निलिखित तर्क प्रस्तुत किए गए हैं –

(1) इस व्यवस्था द्वारा व्यवस्थापिका विभाग मे एकता एव एकरूपता स्थापित रहती है। व्यवस्थापिका मे एकरूपता आवश्यक है, इस युक्ति को फ्रास और अमेरिका के राजनीतिक विचारकों ने बहुत महत्त्व दिया था। व्यवस्थापन का उद्देश्य यह होता है कि जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व किया जाए और उसे मूर्त रूप दिया जाए। जनता की इच्छा विभक्त नहीं हो सकती है। अत जनता की इच्छा को मूर्त रूप देने एव अभिव्यक्त करने के लिए एक सदन होना चाहिए। यदि दो सदन होंगे तो उनमें मतभेद और परस्पर विरोध अवश्यम्भावी है। इस दशा में जनता की इच्छा को सुचारु रूप से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकेगा। इस तथ्य को लार्ड ब्राइस ने इस प्रकार स्पष्ट किया–"यदि दूसरा सदन वही बात कहे, जो पहला सदन कहता है तो उसकी सत्ता निरर्थक है। यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करता है तो उसका परिणाम अहितकर होगा। लार्ड ब्राइस आगे

कहते है– यह बात ठीक वैसी ही होगी जैसी लतीफ उमर ने सिकन्दरिया के विशालकाय पुस्तकालय म सग्रहीत पुस्तको क सन्दर्भ म कही थी –"यदि यह पुस्तक कुशन क अनुकूल हैं तो इनकी कोई आवश्यकता नही है। यदि यह कुशन के विपरीत है तो इन्हें नष्ट किया ही जाना चाहिए।"

(2) एक सदनात्मक व्यवस्था लोकमत का प्रतिनिधित्व करती है। जिसमे जनता की इच्छा अविभाज्य होती है इसलिए उसकी अभिव्यक्ति एक ही सदन में होती है। फ्रासीसी विचारक एबेसीज ने लिखा है "यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि सहमत होता है तो व्यर्थ है।" एबसीज ने आगे कहा है कि "जहाँ दो सदन होते हैं वहाँ विरोध और विभाजन अनिवार्य होगा और दोनों की इच्छा निष्क्रियता के कारण शक्तिहीन हो जायेगी।" अत जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली विधि निर्मात्री सस्था भी आवश्यक रूप से एक सदनात्मक ही होनी चाहिए। प्रो लास्की ने भी एक सदनात्मक व्यवस्था का समर्थन कुछ इसी प्रकार किया है "यदि पहले सदन के साथ दूसरा सदन निर्वाचित हो तो केवल पुनरावृत्ति ही होगी यदि उसका गठन अलग-अलग किया गया है तो वह उचित नीति निर्माण मे बाधक ही होगी।"

(3) इस व्यवस्था के समर्थको का यह मानना है कि दूसरा सदन सघीय राज्यों में अनावश्यक है क्योकि दूसरे सदन में पहल सदन की भॉति मत दलीय आधार पर पडते हैं न कि राज्य या प्रान्तों के आधार पर। दोनो सदनों का चुनाव दलीय आधार पर होता है। राष्ट्रीय हिता क विरुद्ध प्रान्तों (राज्यो) के हिता की रक्षा भी व्यवहार में दूसरा सदन नहीं कर पाता ह। इसलिए प्रो लास्की ने कहा है कि– "यह गलत है कि सघ की रक्षा के लिए दूसरा सदन प्रभावशाली गारण्टी है।" प्राय यह स्वीकार किया जाता है कि केन्द्र के विरुद्ध प्रान्तीय हितो की रक्षा शक्तियो के बटवारे और न्यायिक पुनरीक्षण द्वारा अधिक हो सकती है। अत एक सदनात्मक व्यवस्थापिका ही होनी चाहिए।

(4) इस व्यवस्था के पक्षधरो का मानना है कि दूसरा सदन पहले सदन की निरकुशता को नहीं रोकता है। पहला सदन दूसरे सदन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। इसका प्रत्यक्ष चुनाव होता है दूसरे का अप्रत्यक्ष। अत दूसरे सदन के लिए सम्भव नहीं है कि पहले सदन पर नियत्रण रख सके। दोनों सदनों में दलीय आधार पर चुनाव होता है। दोनों सदनो मे वही दल होते हैं अत दूसरे सदन द्वारा पहले सदन को रोकने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अत दूसरा सदन अनुपयोगी है। इसके स्थान पर एक सदनात्मक व्यवस्थापिका ही होनी चाहिए।

(5) इस व्यवस्था के समर्थको का मानना है कि दूसरे सदन की बनावट और शक्तियो को निश्चित करने में भी कठिनाइयों का सामना करना पडता है। पहला सदन पूर्ण रूपेण लोकतात्रिक है। प्रश्न उठता है कि दूसरे सदन की सरचना कुछ इस प्रकार की हो कि वह पहले सदन से भिन्न हो साथ ही लोकतात्रिक भी। उदाहरणार्थ– इग्लैण्ड में लार्ड सभा पूर्णरूपेण एक पैतृक सदन है। प्रो लास्की के अनुसार ऐसी व्यवस्था

लोकतंत्र के लिए अनुपयुक्त है। कनाडा में द्वितीय सदन के सदस्य जीवन भर के लिए गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होते हैं। यह व्यवस्था भी लोकतंत्र के विरुद्ध है।

भारतवर्ष में भी राज्य सभा का चुनाव अप्रत्यक्ष होता है। सदस्यों का चुनाव सीधा मतदाताओं द्वारा न होकर विधानसभाओं द्वारा होता है। दूसरी कठिनाई शक्तियों के दोनों सदनों में विभाजन के सन्दर्भ में उपस्थित होती है। अमेरिका में दूसरे सदन की शक्तियाँ पहले सदन की अपेक्षा काफी बढ़ गई हैं अत पहला सदन लोकतंत्र के अनुरूप नहीं रह गया है। भारतवर्ष में साधारण विधेयक पर दोनों सदनों को समान शक्तियाँ प्राप्त है पर धन सम्बन्धी मामलों में राज्य सभा को कम शक्तियाँ प्राप्त है या यू कहा जा सकता है कि नही के बराबर हैं। कई बार साधारण विधेयक पर दोनो में गतिरोध भी उत्पन्न हो जाता है। दोनों सदनों में झगड़े बढ़ते हैं। अत एक सदनात्मक व्यवस्थापिका होनी चाहिए।

(6) इस व्यवस्था के समर्थकों का कहना है कि विशेष हितों को प्रतिनिधित्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे सदन की संरचना में विशेष हितों के प्रतिनिधित्व को विशेष स्थान दिया जाता है। फलत दूसरे सदन में पूँजीपति और रूढ़िवादी लोग प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रगति के मार्ग में बाधक होते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्थापिका की स्थापना हेतु केवल एक सदनात्मक व्यवस्थापिका होनी चाहिए।

(7) इस व्यवस्था के पक्षधर कहते हैं कि विवेकपूर्ण पुनर्विचार हेतु दूसरे सदन का गठन व्यर्थ है। लास्की के अनुसार– उच्च सदन के माध्यम से जल्दबाजी में किए हुए कार्यों पर रोक लगाने की बात व्यर्थ है। सच्ची रुकावट तो जनता की जागरूकता और सरकार की सतर्कता पर निर्भर है। यही नहीं अब विधेयकों को पारित करके कानून बनाने की व्यवस्था इतनी जटिल है और उसमें इतना अधिक समय लग जाता है कि इसकी कोई आवश्यकता नही रह जाती है कि द्वितीय सदन दुबारा उस पर विचार करे और तब वह पारित हो। अत एक सदनात्मक व्यवस्थापिका ही होनी चाहिए।

(8) दूसरे सदन की स्थापना से खर्चे में वृद्धि हो जाती है। दोनों सदनों के सदस्यों को वेतन-भत्ता आदि देने से राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है। प्रो लास्की ने लिखा है कि– "आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक सदनात्मक व्यवस्थापिका में ही हो सकती है क्योंकि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में काम की पुनरावृत्ति होती है, समय नष्ट होता है और राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।"

(9) इस व्यवस्था के पक्षधर कहते हैं कि द्वितीय सदन के गठन से कानून निर्माण में विलम्ब होता है। कानूनों का उस समय निर्माण नहीं किया जा सकता है जब उनकी आवश्यकता होती है। अत एक सदनात्मक व्यवस्था में ही इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध हो सकती है।

(10) एक सदनात्मक व्यवस्था का प्रबल पक्षधर अमरिकन प्रसिद्ध नेता बेन्जामिन फ्रेंकलिन कहा करते थ कि– "द्विसदनात्मक व्यवस्था ठीक उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार कि वह गाडी जिसमे दानों ओर घाडे जात दिए गए हों और व अपनी-अपनी ओर गाडी को खीचे तथा परिणाम यह हो कि उसकी प्रगति किसी ओर भी न हो सके। अत व्यवस्थापन के सुचारू सचालन क लिए आवश्यक है कि व्यवस्थापिका एक सदनीय हो।

एक सदनात्मक व्यवस्था क विपक्ष मे निम्नलिखित युक्तियॉं दी जाती हैं–

(1) एकसदनीय व्यवस्थापिका म व्यवस्थापन कार्य शीघ्रतापूर्वक होने क कारण अविचारपूर्वक होता है। यह राष्ट्र के सामष्टिक हित की दृष्टि से हानिकारक होगा।

(2) एक सदनीय व्यवस्थापिका म जो भी सदन होता है उसकी व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तिया असीमित एव अनियन्त्रित हाती हैं। यह जानकर कि उसकी शक्ति पर अन्य कोई सदन किसी प्रकार का नियत्रण करने वाला नहीं है। जो सदन अस्तित्व मे हाता है वह अपनी शक्तियों का प्रयाग उतन उत्तरदायित्व की भावना के साथ नहीं करता जितना कि वह तब करता जब कोई अन्य सदन उसके कार्यों का सिंहावलोकन करने आलोचना करने और नियत्रण करने हेतु होता है। अत एक सदन तक व्यवस्थापिका उसी प्रकार उदण्ड तथा भ्रष्ट हो सकती है जिस प्रकार एक निरकुश शासक की। इस सन्दर्भ में लेकी ने कहा है– "किसी निरकुश शासनकर्ता की भॉंति वह (एक सदनीय व्यवस्थापिका) भी अनियत्रित शक्ति की प्राप्ति से उत्पन्न सर्वशक्ति सम्पन्न लोकतत्रात्मक सदन है जिसम उत्तरदायित्व का अभाव हाता है और अपने नीति-निर्माण के वास्तविक कार्य स भी दूर होता है।"

2 **द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका (Bi-cameral legislature)**–जिस राज्य की व्यवस्थापिका म दो सदन नीति निर्माता होते हैं उसे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका कहते हैं। ससार के अधिकाश राज्यो मे यही व्यवस्था अपनायी गयी है। इग्लैड भारत अमेरिका आस्ट्रेलिया जापान, स्विटजरलेड कनाडा में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान है। भारतवर्ष में लोकसभा और राज्यसभा इग्लैण्ड मे लार्ड सभा और कॉमन सभा अमेरिका में सीनेट और प्रतिनिधि सभा आदि दो सदनीय व्यवस्थापिकाएँ हैं।

सघात्मक शासन का विकास सविधाना मे लाकप्रिय शासन को सीमित करने की इच्छा समाज के विशेष हितो को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की इच्छा और निम्न सदन द्वारा जल्दी में किए गए कार्यो पर प्रतिबन्ध आदि अनेक कारणो ने द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना म सहायता की है। फ्रास की राज्यक्राति के समय से इस प्रश्न पर गम्भीर मतभेद रहे हैं कि व्यवस्थापिका का गठन एकसदनात्मक हो या द्विसदनात्मक।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं–

(1) दूसरा सदन पहले सदन की निरकुशता को रोकता है। द्विसदनात्मक

व्यवस्थापिका के समर्थको का मानना है, कि "शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट कर देती है और निरकुश सत्ता उसे पूर्णतया नष्ट कर देती है।" एक सदनीय व्यवस्था मे बहुमत वाला शासक दल निरकुश बन जाता है। मनचाहे कानूनो का निर्माण करता है, न्यायपालिका की शक्तियो को सीमित करता है क्योकि एक सदन व्यवस्थापिका मे जोशीले उग्रवादी और समाज मे एकदम परिवर्तन लाने वाले लोग भरे रहते हे। सदन जनसख्या के आधार पर गठित किया जाता है। जल्दी मे जो बात स्वीकृत करता है दूसरा सदन उस पर पुन विचार करता है। उसे दोहराने और उसमे सशोधन करने का अवसर दूसरे सदन को मिलता है। कहावत है एक की राय की अपेक्षा दो की राय सदा हितकर होती है।

ब्लशली ने ठीक ही कहा था – "दो ऑखो की अपेक्षा चार ऑखे हमेशा अधिक अच्छा देखती हैं। खासकर जब किसी विषय पर अनेक पहलुओ से विचार करने की आवश्यकता हो तो दो सदनो में उस पर अच्छी तरह से विचार किया जा सकता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने दूसरे सदन की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए लिखा है, "यदि एकमात्र सदन के बहुमत पर उसकी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की रुकावट न हो और उसे यह विचार करने की आवश्यकता न हो कि उसके कार्यो में किसी दूसरी सत्ता की स्वीकृति की आवश्यकता होगी तो वह सरलता से स्वेच्छाचारी और उदण्ड हो जाएगा।" जज स्टोरी ने भी कहा है कि व्यवस्थापिका के अत्याचारों से बचने का यही तरीका है कि– "उसके कार्यो को अलग-अलग कर दिया जाए हित के विरुद्ध हित महत्त्वकाक्षा के विरुद्ध महत्त्वाकाक्षा तथा सस्था के गठबधन और प्रभुत्व की इच्छा के विरुद्ध दूसरे का वैसे ही गठबधन तथा उसकी प्रभुत्व की इच्छा को खडा कर दिया जाए।" "ब्राइस ने ठीक ही कहा है– "द्वितीय सदन की आवश्यकता इसलिए है कि किसी भी परिषद की यह नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वह घृणापूर्ण अत्याचारपूर्ण एव दूषित हो जाती है। अत इन प्रवृत्तियों पर रुकावट लाने के लिए समान सत्ता वाली एक दूसरी परिषद् की आवश्यकता है।" डाक्टर गार्नर ने द्वितीय सदन को न्यायोचित बताते हुए लिखा है कि–"दो सदनीय सिद्धान्त न केवल विधानमण्डलो की अपने उतावलेपन और भावुकता से रक्षा करता है बल्कि यह व्यक्ति को एक सदन की निरकुशता से भी बचाता है।"

(2) विशिष्ट हितो एव विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिए भी दूसरे सदन की आवश्यकता है। प्रत्येक राज्य मे अनेक वर्ग तथा हित विद्यमान हैं। शाति स्थापना के लिए उन सभी वर्गों और हितों में सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है। एक सदनात्मक व्यवस्थापिका मे लोकतन्त्रात्मक तत्वा अथवा साधारण जनता को प्रतिनिधित्व मिल जाता है। अल्पसख्यक वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। इसी प्रकार समाज में ऐसे अनेक योग्य व्यक्ति है जा चुनावों की गहमागहमी से दूर रहना चाहते हैं। दो सदन होंगे तो दूसरे सदन मे अल्पसख्यक वर्ग, विशिष्ट हितो तथा योग्य व्यक्तियो को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। कई देशो म विद्वानों साहित्यकारों, सेना के अवकाश प्राप्त सेनापतियों

तथा राजनीतिज्ञों को व्यवस्थापिका (ससद) के दूसरे सदन मे प्रतिनिधित्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत मे राष्ट्रपति को राज्यसभा मे ऐसे बारह सदस्य मनोनीत करन का अधिकार है जिन्होने कला विज्ञान साहित्य और समाज सेवा मे विशेष अनुभव प्राप्त कर लिया है। कनाडा की सीनेट मे गवर्नर जनरल अवकाश प्राप्त राजनीतिज्ञो को प्रतिनिधित्व दे देता है। इग्लैड म भी महारानी प्रधानमत्री की सिफारिश पर ऊँचे साहित्यकारों बडे-बडे अवकाश प्राप्त राजनीतिज्ञों और सेनापतियों को प्रतिनिधित्व दे देती है।

(3) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के समर्थकों का विश्वास है कि व्यवस्थापिका की शक्तियो को एक सदन में केन्द्रित करने की अपेक्षा दो सदनो मे विभाजित करना जरूरी है, क्योंकि एक सदन की शक्तियाँ अत्याचारी हो सकती है।

(4) सघ शासन हेतु द्वितीय सदन आवश्यक है। सघ शासन राज्य की इकाइयो से मिलकर बना है। अत राज्य की इकाइयों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए भी दूसरा सदन आवश्यक है। भारत मे राज्यसभा मे राज्यो को प्रतिनिधित्व दिया गया है। अमेरिका में प्रत्येक राज्य सीनेट मे प्रतिनिधि चुनकर भेजता है। स्विटरजलैंड मे कौसिल ऑफ स्टेटस में प्रत्येक पूर्ण केन्टन राज्य दो प्रतिनिधि और आधा केन्टन एक प्रतिनिधि भेजता है।

(5) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में लोकमत का अच्छी तरह प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। इसका कारण है कि जनसाधारण द्वारा निर्वाचित सदन अधिकाश देशों में चार या पाच वर्ष के लिए चुना जाता हैं। दूसरा सदन स्थायी होता है उसके 1/3 सदस्य प्रति दो वर्ष बाद सेवानिवृत्त होते रहते हैं। अत हर दो वर्ष बाद जनता के दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करने वाले लोगो का समावेश होता रहता है। इस प्रकार एक सदन पूँजीवाद का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरे सदन में विशिष्ट योग्य और सुधारवादी लोगों का समावेश है। दोनों प्रकार के तत्वो के मेल से लोकतत्र अधिक अच्छी तरह चलता है। द्विसदनात्मक व्यवस्था मे न तो शीघ्र परिवर्तन होते हैं और न ही पूर्णतया रुकते हैं। इस व्यवस्था मे धीरे-धीरे ठीक ढग से देश की प्रगति होती रहती है।

(6) ऐतिहासिक अनुभवों से भी द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का पक्ष स्पष्ट होता है। मैरियट ने कहा कि– ऐतिहासिक अनुभव अधिकतर दूसरे सदन के पक्ष मे है। इग्लैंड में गृहयुद्ध के पश्चात् क्रोमवेल के समय लार्ड सभा को समाप्त कर दिया गया परन्तु बाद मे दूसरे सदन को पुन जीवित करना पडा। अमेरिका मे स्वतत्रता के पश्चात् सघ (कन्फेडरेशन) स्थापित किया गया जो 1777 ई से 1787 ई तक चलता रहा। इसमे केवल एक सदन था। यह अनुभव वहाँ उपयुक्त साबित नही हुआ और बेन्जामिन फ्रैंकलिन के अतिरिक्त सब राजनीतिज्ञो ने दो सदनीय प्रणाली स्थापित करने का जोरदार समर्थन किया। अन्त मे 1787 ई मे वहाँ नया सविधान बना तो दो सदनीय प्रणाली स्थापित की

गई, जो अब तक वहा चल रही है। फ्रास म क्रांति के पश्चात् एकसदनीय विधानमण्डल स्थापित किया गया जो वहा पर 1791 ई स 1793 ई तक चलता रहा। सन् 1793 ई मे वहा द्विसदनीय व्यवस्थापिका स्थापित की गई जो 1881 ई तक चली। बाद म थोडे समय को छोडकर फ्रास में शेष समय द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका ही रही जो अब तक है। फ्रास मे एक सदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रयोग असफल रहा और अब वहाँ दुबारा एक सदन व्यवस्थापिका स्थापित करने की कोई बात ही नहीं करता है। इटली मैक्सिको बोलीविया इक्वेडर तथा पीरू (दक्षिणी अमेरिका) म भी एक सदनीय व्यवस्थापिका ठीक नहीं बैठी और इसके स्थान पर द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अपनायी गयी। यही कारण है कि विश्व के अधिकाश प्रगतिशील देशा मे चाहे साम्यवादी हो अथवा लोकतत्रात्मक, द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका ही है। कनाडा आस्ट्रेलिया सयुक्त राज्य अमेरिका ब्राजील, भारत जापान इगलैण्ड फ्रास जर्मनी इटली रूस इत्यादी म व्यवस्थापिका के दो सदन है।

(7) द्विसदनात्मक व्यवस्था क फ्लाधर गेटिल का कथन है, कि दोनों सदन एक दूसरे पर नियत्रण रखकर कार्यकारिणी का अधिक स्वतत्रता प्रदान करते है और अन्त में इसस लोकहित में बढोतरी होती है। कई बार मत्रियों को अपनी ठीक नीति के लिए भी पहल सदन म काफी समर्थन नही मिलता है। यदि उनकी अपनी नीति के लिए पर्याप्त समर्थन दूसर सदन में मिल जाय तो उनकी स्थिति काफी दृढ हो जाती है, और उनकी निर्भरता पहले सदन पर बहुत अधिक नही रहती है।

इसके अतिरिक्त भारत तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है। वहाँ पर एक सदन आरोप लगाता है, और दूसरा उनकी जाच करता है। यदि एक ही सदन हो तो राष्ट्रपति क विरुद्ध लगाए गए आरोपों की जाच कहा की जाएगी। दूसरा यह भी सत्य है कि राष्ट्रपति एक सदन होने पर उनकी दया पर निर्भर करेगा।

(8) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका इसलिए भी आवश्यक है कि दूसरा सदन विधेयको की त्रुटिया और अशुद्धिया को दूर करता है। दूसरे सदन म बहुत अनुभवी, प्रौढ और बुद्धिमान व्यक्ति रहत है। य बहुत शातिपूर्वक पहले सदन द्वारा पास किए गए विधेयक या प्रस्ताव की छान-बीन करत हैं। यदि कोई त्रुटि या कानूनी अशुद्धि रह जाती है तो उसे दूर करते है।

द्विसदनात्मक व्यवस्था की आवश्यकता के साथ-साथ कुछ विचारको न इसका विरोध भी किया है। विरोध में प्रस्तुत प्रमुख तर्क निम्नलिखित है–

(1) द्विसदनात्मक व्यवस्था लोकतत्र विरोधी है। अगर दूसर सदन का गठन केवल विशिष्ट वर्गों या हितो–जागीरदारो कुलीन श्रेणी या पूँजीपतियो को प्रतिनिधित्व देने के लिए किया गया है तो लोकमत एक हो सकता है। जनता के मत की अभिव्यक्ति हेतु

दा सदनो म विभाजन निरर्थक है। दूसरे सदन का उपयोग केवल जनता की इच्छा का क्रिया रूप मे परिणत हाने से रोकने के लिए किया जा सकता है।

(2) दूसरा सदन अनावश्यक है। लोकतत्र मे जनता की इच्छा अविभाज्य होने के कारण एक ही सदन म अभिव्यक्त होती है। फ्रासीसी विचारक एबसीज ने लिखा है– "विधि जनता की इच्छा है। जनता की एक विषय पर एक ही इच्छा हो सकती है। अत जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली सस्था भी एक हानी चाहिए। जहाँ दो सदन होंगे वहाँ विरोध और विभाजन की सम्भावना अवश्य हागी और निष्क्रियता के कारण लोक इच्छा भी निष्प्राण हो जाएगी।

(3) दो सदन रखने स खर्च में व्यर्थ वृद्धि हाती है।

(4) दूसरे सदन की सरचना पहले सदन से किस प्रकार भिन्न हो यह निर्धारित करना भी कठिन है। अगर दूसरे सदन म जागीरदार पूँजीपतियो और कुलीनों को स्थान दिया जाता है तो यह लोकतत्र के विरुद्ध है। यदि पहले सदन की भाँति जनता द्वारा गठित किया जाता है तो दोहराव होगा और उसी मत को अभिव्यक्त करेगा जिसे पहले ने व्यक्त किया है अत द्विसदन व्यर्थ है।

(5) एक सदन द्वारा जल्दबाजी मे किए गए कार्यों पर रोक लगाने के लिए भी दूसरा सदन जरूरी नही है। कानून बनाने की प्रक्रिया जटिल है। एक सदन होने पर भी कोई कानून एक दिन या थाडे समय में स्वीकृत नही होता है। प्राय सर्वत्र यह व्यवस्था है कि प्रस्तावित कानून के मसविदे को तीन बार पेश किया जाए और उस पर भली-भाँति विचार-विमर्श किया जाए। व्यवस्थापिका मे अनेक दलो के प्रतिनिधि होते हैं। वह प्रस्ताव के पक्ष-विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करते है। बहुधा प्रस्ताविक विधेयक को प्रवर समिति को भेजा जाता है ताकि विशेषज्ञ उस पर सभी पहलुओं से विचार कर सक। अनेक बार प्रस्तावित विधेयक को जनता की सहमति के लिए भी भेज देते हैं। ऐसी स्थिति मे यह नहीं कहा जा सकता है कि एक सदनात्मक व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक जल्दी में पास किया गया है।

द्वितीय सदन की सरचना

विश्व के अधिकाश राज्यों मे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है। ससार के वर्तमान लोकतत्रात्मक राज्यो में द्वितीय सदन का गठन जिन सिद्धान्तो पर आधारित है। उनका सक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित रूप मे करना बहुत उपयोगी है –

1 निर्वाचन द्वारा–सयुक्त राज्य अमेरिका ब्राजील आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड स्वीडन, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि अनेक राज्यों मे द्वितीय सदन के सदस्यो की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाती है। इन राज्यों में व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में सदस्य निर्वाचित होते हैं।

2. वशानुगत रूप से–ग्रेट-ब्रिटेन की लार्डसभा इसका सर्वोत्तम उदाहरण है जिसके सदस्य प्राय वशानुगत होते है। ब्रिटेन में लार्ड वशक्रम से चले आते हैं। उन्हें

इस सदन का सदस्य बनने का अधिकार होता है। सन् 1926 से पहले हंगरी के द्वितीय सदन के सदस्य वशानुगत ही होते थे। ऐसी ही व्यवस्था पुराने आस्ट्रिया, जर्मनी और उसके अन्तर्गत विविध राज्यो मे भी थी। सन् 1914–18 के विश्वयुद्ध के बाद इन देशो मे लोकतत्र के नये सविधानो की स्थापना के साथ ही इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

3 नियुक्ति द्वारा–अनेक राज्यो मे द्वितीय सदन के सदस्य सर्वांश या प्रधान रूप से सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। जिन देशो में मत्रिमण्डलीय पद्धति प्रचलित है उनम यह नियुक्तियाँ मत्रिपरिषद द्वारा की जाती हैं। जहाँ किसी वशानुगत राजा का शासन है यहा राजा द्वारा नियुक्तियाँ की जाती हैं।

4 परोक्ष निर्वाचन द्वारा–कुछ राज्यो मे द्वितीय सदन के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष जनता द्वारा न करके अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। फ्रास और डेनमार्क इसके उदाहरण हैं। फ्रास मे द्वितीय सदन के सदस्यों का चुनाव विविध नगरो एव जिलो की स्थानीय कौंसिलो द्वारा होता है।

5 निर्वाचन और नामाकन द्वारा–भारतीय गणराज्य के नये सविधान के अनुसार द्वितीय सदन (राज्यसभा) की सरचना के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है। इसके बहुसख्यक सदस्य अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा नियुक्त होंगे और बारह सदस्यों को राष्ट्रपति नामाकन द्वारा मनोनीत करते हैं। ये सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला एव समाज सेवा का विशेष ज्ञान एव क्रियात्मक अनुभव रखते हैं। भारतीय सघ के जिन घटक राज्यों मे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था है, वहाँ भी कुछ सदस्यो के नामाकन वहाँ के राज्य द्वारा किया जाता है।

व्यवस्थापिका के कार्य एवं भूमिका

व्यवस्थापिका का कार्य-क्षेत्र मूलत प्रत्येक राज्य की शासन पद्धति पर निर्भर करता है। विश्व के राज्यों मे शासन पद्धति भिन्न-भिन्न होती है। अत प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापिका के कार्यों में भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। एकतत्रात्मक शासन पद्धति वाले राज्यो मे व्यवस्थापिका के कार्य नगण्य हैं। सन् 1917 से पूर्व जब रूस में जार का निरकुश शासन था। वहाँ पर ससद (ड्यूमा) विद्यमान थी पर उसकी शक्ति बहुत कम थी। ब्रिटिश शासनकाल में भारत की केन्द्रीय सरकार और विभिन्न प्रान्तों की सरकारों मे अनेक विधान मण्डल थे पर उनकी शक्ति बहुत कम थी। उस समय भारत की राजशक्ति वायसराय और उसकी कार्यकारिणी के पास थी। विधानमण्डलों की शक्ति उसके सामने कुछ भी नहीं थी।

सक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि निरकुश राजतत्र में व्यवस्थापिका का कार्य केवल परामर्श देना होता है। सभी तानाशाह हिटलर और मुसोलिनी की भाँति व्यवस्थापिका के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। व्यवस्थापिका की शक्ति और महत्ता का परिचय केवल लोकतत्रात्मक शासन व्यवस्था म ही दिखाई पड़ता है। लोकतत्रात्मक शासन के

दो स्वरूप–संसदात्मक शासन और अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में भी व्यवस्थापिका का महत्त्व पृथक्-पृथक् है। संसदात्मक शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका कार्यपालिका को अपने सीधे नियंत्रण में रखती है। कोई भी कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक उसे व्यवस्थापिका या विधानसभा का विश्वास प्राप्त हो।

इंग्लैण्ड और भारत दोनो देशो मे संसदात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण कार्यपालिका व्यवस्थापिका या विधानमण्डल के विश्वास पर्यन्त ही बनी रह सकती है। विधानमण्डल कभी भी अविश्वास प्रस्ताव पारित कर कार्यपालिका को समाप्त कर सकता है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था मे शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त अपनाया जाता है। अत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनो का क्षेत्र पृथक-पृथक है तथा संविधान द्वारा क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है। कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका या विधानमण्डल का कोई नियंत्रण नहीं होता है। यह एक कारण है कि ऐसे राज्यो मे व्यवस्थापिका का महत्त्व अपेक्षाकृत कम होता है। अत स्पष्ट है कि व्यवस्थापिका के कार्य सर्वत्र एक जैसे नही होते हैं। लोकतन्त्रात्मक राज्य की व्यवस्थापिकाओ के कार्य प्राय निम्नलिखित है –

1. कानून बनाना (Law making)–व्यवस्थापिका का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कानून बनाना होता है। साधारण विधेयक संसद के सदस्यो और मंत्रियों के द्वारा पेश किये जा सकते हैं, परन्तु धन-विधेयक केवल मंत्रियो के द्वारा ही लोकसभा मे पेश किए जा सकते हैं। विधानमण्डल के सदस्य बहुमत से किसी विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। विधानमण्डल या व्यवस्थापिका के सदस्यो को भाषण और आलोचना करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। संक्षेप मे कह सकते है कि व्यवस्थापिका सभी कानूनो का प्रारूप तैयार करती है उन पर बहस करती है फिर उन्हे स्वीकृति प्रदान कर कानून का रूप प्रदान करती है। व्यवस्थापिका को जनमत का दर्पण भी कहते है क्योकि व्यवस्थापिका में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। किसी कानून के लिए वही जनता की इच्छानुसार प्रस्ताव तैयार करते हैं उन्हे स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करते हैं और अन्त मे कानून का रूप प्रदान करते हैं।

2. शासन पर नियंत्रण–व्यवस्थापिका शासन या कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। नियंत्रण अधिक है या कम यह सरकारो के प्रकार पर निर्भर करता है। अध्यक्षात्मक शासन मे सरकार के तीन अगो की संरचना शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर की जाती है। अत व्यवस्थापिका का शासन या कार्यपालिका पर किसी प्रकार का नियंत्रण नही होता है और न ही शासन। कार्यपालिका व्यवस्थपिका के प्रति उत्तरदायी होती है। फिर भी व्यवस्थापिका शासन या कार्यपालिका पर नियंत्रण के विभिन्न उपाय अपनाती है। अमेरिका में सीनेट नियुक्तियो पर प्रभावकारी नियंत्रण रखती है। राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है। महाभियोग प्रस्ताव प्रस्तुत करना और सिद्ध करने का कार्य व्यवस्थापिका का है। इसके अतिरिक्त मंत्रियो के भ्रष्ट व्यवहारों की जाच भी सीनेट ही करती है। इसके विपरीत संसदात्मक सरकारो मे शासन या कार्यपालिका

गठन, व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है। व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव पारित कर शासन या कार्यपालिका का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। दूसरे कार्यपालिका या शासन व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है। वह केवल उन्हीं नीतियों के क्रियान्वयन का कार्य करती है जिन्हे व्यवस्थापिका ने पारित किया है। व्यवस्थापिका को पूरा अधिकार है कि वह शासन या कार्यपालिका के किसी भी विभाग की कार्यवाही की जानकारी शासन या कार्यपालिका से पूरक प्रश्न पूछ कर कर सकती है। सम्बन्धित विभागीय मंत्री अपने उत्तरों द्वारा व्यवस्थापिका के सदस्यों को सतुष्ट करने के लिये बाध्य है। व्यवस्थापिका मंत्रियों के किसी अन्य कार्य की जाच पड़ताल करने के लिए जाच-समिति भी नियुक्त कर सकती है।

3 वित्तीय कार्य–व्यवस्थापिका का सरकार की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर नियत्रण रहता है तथा पैसा भी व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बिना न कोष में जमा कराया जा सकता है और न खर्च किया जा सकता है। यह प्रत्येक वर्ष अनुमानित आय-व्यय (बजट) को स्वीकृत करती है वह राष्ट्रीय बजट को पारित करती है, जिसके द्वारा नये कर लगाये जाते हैं और पुराने करों की दरें घटायी-बढ़ायी जाती हैं या उन्हें समाप्त किया जाता है। बजट तैयार करने उसे व्यवस्थापिका मे प्रस्तुत करने का कार्य कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। व्यवस्थापिकाएँ देश के व्यय पर भी विभिन्न माध्यमों (समितियों) द्वारा नियंत्रण रखती है। भारतवर्ष में अनुमान समिति, लेखा समिति और उद्यम समितियाँ इसी कार्य हेतु गठित की जाती हैं। इन समितियों म सदस्य व्यवस्थापिका में से (जनता के प्रतिनिधि) ही लिए जाते हैं।

4 विमर्शात्मक कार्य–व्यवस्थापिका का विमर्शात्मक कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस कार्य के अन्तर्गत व्यवस्थापिका के सदस्य जो जनता के प्रतिनिधि हैं, जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। विभिन्न लोककल्याणकारी, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा से सम्बन्धित विषयों पर आपस में विचार-विमर्श कर किसी नतीजे पर पहुचते हैं। विचार-विमर्श का क्षेत्र व्यापक होता है। राष्ट्र की सरकारें या उसकी विभिन्न संस्थाएँ योजना आयोग संघलोक सेवा आयोग वित आयोग, समाज कल्याण मण्डल नियंत्रक एवं महालेखापाल न्यायपालिका और स्वय व्यवस्थापिका के सदनों के कार्यों एवं स्थिति पर विचार-विमर्श व्यवस्थापिका में ही किया जाता है। आम बोलचाल की भाषा म व्यवस्थापिका कानून निर्माण और विमर्शात्मक कार्यों में भेद नहीं किया जाता है। परन्तु दोनों ही व्यवस्थापिका के अलग-अलग कार्य हैं।

5 न्यायिक कार्य–अनेक राज्यों म व्यवस्थापिका न्यायिक कार्य भी करती है। फ्रास में राष्ट्रपति पर जब कोई महाभियोग चलाया जाए तो उसके निर्णय के लिए कौंसिल न्यायालय का कार्य करती है। एस ही यदि किसी मत्री पर किसी गम्भीर अपराध का आरोप किया जाता है तो उसका निर्णय भी कौंसिल द्वारा किया जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका में भी राष्ट्रपति पर महाभियोग का आरोप होने पर सीनेट उसका निर्णय करती है। ब्रिटेन

में लार्ड सभा को न्याय सम्बन्धी और भी अधिक अधिकार प्राप्त है। वहाँ लार्ड सभा अपील न्यायालय के रूप म कार्य करती है। भारत म भी संसद को राष्ट्रपति पर लगाए गए महाभियोग के आरोपो की जाच का अधिकार है। भारत चीन सोवियत संघ इग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका म सघीय या उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशो को हटाने का अधिकार व्यवस्थापिका को है।

6 निर्वाचन सम्बन्धी कार्य–अनेक राज्यो मे व्यवस्थापिका निर्वाचन सम्बधी कार्य करती है। भारतवर्ष म राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित की गई राष्ट्रीय सभा म केन्द्रीय संसद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य और राज्यो की विधानसभा के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित हैं। फ्रास म राष्ट्रपति के निर्वाचन मे वहा की पार्लियामेण्ट या व्यवस्थापिका के दोनों सदनो के सदस्य भाग लेत हैं। प्रथम महायुद्ध 1914–18 के बाद यूरोप मे कई लोकतात्रिक राज्य कायम हुए जैसे– आस्ट्रिया चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड। इन नवगठित लोकतात्रिक राज्यो में भी राष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु यही व्यवस्था रखी गई। स्विटजरलैंड म कार्य समिति (मत्रिपरिषद) न्यायाधीशो का निर्वाचन और प्रधान सेनापति का निर्वाचन संसद (व्यवस्थापिका) द्वारा किया जाता है।

7. लोकमत को प्रकट करना–लोकतात्रिक राज्य मे व्यवस्थापिका का एक कार्य लोकमत प्रकट करना है। जनता को शासन या सरकार से जो शिकायते हो उन्हे व्यवस्थापिका (संसद) के सम्मुख रखें और शासन विभाग क मार्गदर्शन के लिए लोकमत के अनुसार विविध प्रस्तावो को स्वीकार करे।

8 संविधान में संशोधन–परिस्थितियाँ सदैव एकसी नहीं होती है। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करना अनिवार्य होता है। इस हेतु संविधान में संशोधन करना पडता है। संविधान संशोधन का अधिकार सभी राज्यो मे व्यवस्थापिकाओं को है। हा, संविधान संशोधन की प्रक्रिया अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। भारतवर्ष मे संसद, संविधान म वर्णित व्यवस्थाओ के अनुसार दोनों सदनों के 2/3 बहुमत से संशोधन कर सकती है। इग्लैण्ड में संसद साधारण बहुमत से ही संविधान में संशोधन कर सकती है। अमेरिका में संशोधन की प्रक्रिया भारत और इग्लैण्ड की अपेक्षा अधिक जटिल है।

9. नियत्रण मण्डल–अनेक राज्यो में कई महत्त्वपूर्ण उद्यम शासन ने अपने हाथ मे लिए हैं। सार्वजनिक क्षेत्रों म शासन के कार्यो का विस्तार हो रहा है। इन उद्यमो के कार्यों पर अन्तिम निर्णय और नियत्रण व्यवस्थापिका का होता है। ऐसी व्यवस्था में व्यवस्थापिका नियत्रण मण्डल के रूप मे कार्य करती है।

10. जाँच पड़ताल–व्यवस्थापिका द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण समस्या की जानकारी मिलने पर, समस्या की जाच हेतु समितियों या आयोगों की नियुक्ति की जाती है।

11 मतदाताओं और कार्यपालिका के बीच मध्यस्थता–संसदात्मक सरकार में व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों में से वरिष्ठ और प्रभावशाली व्यक्ति कार्यपालिका मे

स्थान पाते है। कार्यपालिका का गठन पॉच वर्ष के लिये होता है अत कार्यपालिका के साथ जनता का सीधा सम्पर्क समाप्त हो जाता है। व्यवस्थापिका जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाला स्थान है। जनता कार्यपालिका तक अपनी इच्छा पहुँचाने के लिए व्यवस्थापिका का सहारा लेती है और व्यवस्थापिका मतदाता/जनता की इच्छा को कार्यपालिका के समक्ष रखने के लिए सेतु का कार्य करती है।

12 अभाव **अभियोगों की अभिव्यक्ति का जन मच**–जनता के अभावो की अभिव्यक्ति के लिये व्यवस्थापिका एक मच है। व्यवस्थापिका के सदस्य जनता के प्रतिनिधि है। जनता अपनी क्षेत्रीय समस्याओ अभावो कष्टो प्रशासनिक शिकायतो को अपने क्षेत्रीय प्रतिनिधि के सम्मुख रखती हे। क्षेत्रीय प्रतिनिधि उन्हे व्यवस्थापिका मच पर रखता है। जनता यह आशा करती है कि उसके द्वारा निर्वाचित सदस्य व्यवस्थापिका मच पर समस्या का समाधान करवाने म अवश्य सफल होगा। साथ ही कार्यपालिका से अपेक्षा करता है कि वह जनहित मे उठाई समस्या का यथासम्भव समाधान करने का कार्य करे। व्यवस्थापिका के इस कार्य पर जोर देते हुए डब्ल्यू.एस.रोब्सन ने लिखा है– "नागरिको के अभावो अभियोगो की सुनवाई और निराकरण करना किसी भी व्यवस्थापिका का अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण दायित्व है।"

आधुनिक समय में व्यवस्थापिका की शक्तियों का पतन इसलिए अनुभव किया जाने लगा है क्योकि व्यवस्थापिकाओं का पतन हो रहा है। सन् 1925 मे लार्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'माडर्न गवर्नमेंट्स' मे व्यवस्थापिका के पतन के साथ ही 'व्यवस्थापिकाओ के रोग विज्ञान' (Pathology of Legislature) भी समझाया है। इस पुस्तक मे ब्राइस ने उन कारणो का वर्णन किया है जिनसे व्यवस्थापिकाओ का पतन हुआ। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि ससदों का युग समाप्त हो गया है उसका स्थान नौकरशाही ने ले लिया है। मत्रिमण्डल (कार्यपालिका) की तानाशाही स्थापित हो गई है।

के सी व्हीयर ने अपनी पुस्तक 'लेजिस्लेचर' मे एक अध्याय 'व्यवस्थापिकाओ का पतन' जोडा है। व्हीयर ने केवल व्यवस्थापिकाओ के पतन का केवल उल्लेख ही नहीं वरन् व्यवस्थापिकाओं के अनेक पहलुओ का अध्ययन एव विश्लेषण भी किया है। व्हीयर ने कई प्रश्न उठाए हैं–

(1) क्या व्यवस्थापिकाओ की शक्तियों का पतन हुआ है?
(2) क्या व्यवस्थापिकाओ के प्रति जन सम्मान की भावना नही रही है?
(3) क्या व्यवस्थापिकाओ की कार्य क्षमता में कमी आ गई है ?
(4) क्या व्यवस्थापिकाओं म जनता की अभिरुचि नहीं रही है ?
(5) क्या जनप्रतिनिधियो के व्यवहार स्तर म गिरावट आई है ?
(6) क्या व्यवस्थापिकाओ के शिष्टाचार में कमी आई है ?

के सी व्हीयर ने आगे लिखा है– "व्यवस्थापिकाओ ने अपनी शक्तियों कार्यकुशलता व सम्मान को बनाए रखा हो या उनमे वृद्धि कर ली हो किन्तु उसका अन्य संस्थाओ

की सापेक्षता मे उक्त सभी पहलुओं से पतन हुआ है क्योंकि अन्य संस्थाओं ने अपनी शक्तियां बढ़ाकर अपना पतन सुधार लिया है।"

यदि वर्तमान शताब्दी मे व्यवस्थापिकाओ का सामान्य सर्वेक्षण कराया जाता है तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि व्यवस्थापिकाओ की कार्यक्षमता कार्यप्रणाली शक्तियो एव गरिमा का पतन ही हुआ है। पतन का एक कारण यह है कि आज सर्वत्र राजनीतिक संस्थाओ का विकास हुआ है। इस कारण कार्यपालिका के कार्य एव शक्तियों मे अभिवृद्धि हो गई है। इस व्यवस्था के लिए राष्ट्रों में विश्वयुद्ध की आकाक्षाओं आर्थिक सकटो समाजवादी एव लोककल्याणकारी व्यवस्थाओं की नीतियो अतरराष्ट्रीय तनावो का निरन्तर बने रहना आदि कारण उत्तरदायी हैं। केवल कार्यपालिका के कार्य एव शक्तियो मे वृद्धि व्यवस्थापिका के कार्य एव शक्तियों के पतन का कारण नही है। व्यवस्थापिका के कार्यों मे पहले की अपेक्षा काफी वृद्धि हुई है। व्यवस्थापिका विचारार्थ प्रस्तुत विषयों की संख्या में वृद्धि हुई है। अब पहले की तुलना में विषय पर विचार के लिए अधिक समय लग जाता है। विचार प्रक्रिया में भी परिवर्तन हुआ है। व्यवस्थापिकाओ की उक्त वृद्धि होने पर भी लगभग सभी विद्वानों का मानना है कि व्यवस्थापिकाएँ कार्यपालिकाओं की तुलना में कमजोर हुई हैं। साथ ही अपनी शक्तियों के वास्तविक प्रयोग की दशा मे भी अक्षम होती जा रही हैं।

व्यवस्थापिकाओ के पतन के सामान्य कारण

व्यवस्थापिकाओ के पतन के सामान्य कारण निम्नलिखित हैं–

1 **कार्यपालिका के कार्यो में वृद्धि** — आज कार्यपालिका सौपे गए परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त कई कार्य करती है जो उसके कार्य एव शक्तियों में वृद्धि मे सहायक हैं। आर्थिक नियोजन और योजनाओं का क्रियान्वयन एव सचालन का कार्य कार्यपालिका का है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका मे प्रस्ताव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रखने लगे हैं। अध्ययनो से पता चलता है कि ससदीय शासन व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से और अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में अप्रत्यक्ष रूप से 95% विधेयक कार्यपालिका द्वारा व्यवस्थापिका में रखे जाते हैं।

2 **समयाभाव और कार्यभार में वृद्धि**— लोककल्याणकारी राज्य से बीसवीं शताब्दी मे जनता की सरकार से अपेक्षाओं में पर्याप्त वृद्धि हुई है। ऐसे में सरकारो को पहले की तुलना मे जनता के अधिक कार्य करने पड़ते हैं। लोककल्याणकारी राज्य के सदर्भ में वॉरेन हेस्टिंग ने लिखा था "व्यक्ति के जन्म के तुरन्त बाद से मृत्युपर्यन्त तक के सभी कार्य इस व्यवस्था में राज्य को करने पड़ते हैं।" लोककल्याणकारी राज्य की जनता जन्म के पूर्व से लेकर मृत्युपर्यन्त तक सभी कार्यों की अपेक्षा सरकार से करती है। व्यवस्थापिकाओ को जनता की अपेक्षाओ की पूर्ति तथा विकास कार्यों के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था स्वीकार करनी होती है। वित्तीय व्यवस्था पर व्यवस्थापिका का

एकाधिकार होने से उसकी बिना स्वीकृति के कोई भी पैसा न तो कोष में जमा करा सकते हैं न ही खर्च कर सकते है। व्यवस्थापिका के सत्र वर्ष मे दो ही हैं। एक मे केवल बजट पारा किया जाता है, एक सत्र मे सभी कानूनो का निर्माण असम्भव है। व्यवस्थापिका सत्राधिवशनो का समय भी धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। व्यवस्थापिका के सत्राधिवशनो मे प्रतिनिधि विधि निर्माण कार्य मे अब रचनात्मक प्रवृत्ति भी कम रखने लग हैं। कभी-कभी तो सत्राधिवेशन मे कोरम की पूर्ति भी नहीं होती है। कोरम की पूर्ति न होने पर पीठासीन अधिकारी को सदन की बैठक स्थगित करनी पडती है। परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका के विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य कार्यपालिका को करने पडते है। ऐसी स्थिति मे कार्यपालिका विधि क्रियान्वयन संस्था के साथ-साथ विधि निर्मात्री संस्था भी हो गई है।

3 **प्रशासन में जटिलता, विशेषीकरण और तकनीक का विकास**–आज का युग विज्ञान और तकनीक का युग है। आज प्रशासनिक समस्याएँ भी जटिल हो गई हैं। शासन की नीतियाँ मनुष्य जीवन के सभी पहलुओ से जुडी हैं। विधायकों का प्रारूप तैयार करने से लेकर समिति स्तर तक व्यवस्थापिकाओ से विज्ञान और तकनीक की प्रगति से प्रभावित और अनेक तकनीकी मामलो पर विधि निर्माण कार्य की अपेक्षा की जाती है। व्यवस्थापिका के सदस्यों के लिए कोई योग्यता निर्धारित नहीं होती है। कोई भी शिक्षित, अशिक्षित व्यक्ति व्यवस्थापिका का सदस्य हो सकता है। ऐसे मे सदस्यो के तकनीकी रूप से योग्य और सक्षम होने के बारे मे सोचा नहीं जा सकता है और न ही जटिल और तकनीकी मामलो में उनका विशेष योगदान हो सकता है। परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका जटिल और तकनीकी विषयो पर कानून निर्माण का प्रारम्भिक कार्य मंत्रि-परिषद या मंत्रियों की अध्यक्षता मे गठित विशेषज्ञ समितियों पर छोड दिया जाता है। उसके बाद सम्बन्धित विषय व्यवस्थापिका मे अनुमोदन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। अगर व्यवस्थापिका में प्रस्तुत उक्त विषय पर कोई सदस्य अपने विचार व्यक्त करना चाहता है, या संशोधन प्रस्तुत करना चाहता है, तो उसे यह कह कर चुप करा दिया जाता है कि इस विषय पर विशेषज्ञों सलाहकारों और सम्बन्धित विभागो द्वारा सूक्ष्म विचार एवं छानबीन हो चुकी है। ऐसी स्थिति मे व्यवस्थापिका का विधि-निर्माण शक्ति क्षेत्र सीमित हो गया है।

4 **प्रत्यायोजित व्यवस्थापन प्रथा**–प्रत्यायोजित व्यवस्थापन व्यवस्था के विकास के कारण कार्यपालिका आंशिक रूप से विधि निर्माण की शक्ति का प्रयोग करने लगी है। इस प्रथा का वर्णन करते हुए के सी व्हीयर ने लिखा है कि "एक क्षेत्र मे कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका कार्य का एक बहुत बडा भाग अपने हाथ में लिया है और यह क्षेत्र है–कानून या नियम बनाने का। व्यवस्थापिका प्रत्यायोजन शक्ति का उपयोग करते हुए अपने मूल कार्यों को कार्यपालिका पर छोडती जा रही है। व्यवस्थापिका द्वारा प्रत्यायोजन के पीछे कई कारण हैं। जिनमें प्रमुख है– व्यवस्थापन कार्यभार मे निरन्तर वृद्धि कार्यपालिका

मे नौकरशाही के रूप मे विशषज्ञों का होना उनके द्वारा निरन्तर विशेषज्ञ सहायता का प्राप्त होना और संकटपूर्ण स्थितियों में आकस्मिक तत्काल सहायता आदि।

आधुनिक व्यवस्थापिकाएँ प्रस्तावित कानून के मुख्य प्रावधानों का निर्माण विधि के रूप म करती है। कानूनों को लागू करने के सदर्भ में सभी नियम तथा उपनियम बनाने की शक्ति कार्यपालिका को प्रत्यायोजित कर देती है। फलत व्यवस्थापिकाएँ इस शक्ति का उपयोग कर महत्त्वपूर्ण कानूनो के निर्माण का कार्य भी करती हैं। आज प्रत्यायोजन व्यवस्थापन प्रथा द्वारा कार्यपालिका व्यवस्थापिका की तरह की संस्था हो गई है।

5 वृहत् अनुशासित राजनीतिक दल– व्यवस्थापिका का चुनाव दलीय पद्धति द्वारा किया जाता है। राजनीतिक दलों ने व्यवस्थापिका की शक्तियाँ छीन कर कार्यपालिका को सौंप दी है। संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका की संरचना व्यवस्थापिका के सदस्यों में से की जाती है। व्यवस्थापिका में जिस दल का बहुमत होता है उसी दल की कार्यपालिका गठित होती है। कार्यपालिका में दल के वरिष्ठतम अनुभवी और योग्य व्यक्तियों को स्थान मिलता है। स्पष्ट है एक ही राजनैतिक दल को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में बहुमत मिला है।

भारत में एक ओर कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री के पास वास्तविक कार्यपालिका की शक्तिया हैं। दूसरी तरफ वह अपने राजनीतिक दल का अध्यक्ष भी है जिसका व्यवस्थापिका में बहुमत है। अत वह वास्तविक कार्यपालिका का अध्यक्ष होने के नाते अपने दल की नीतिया को क्रियान्वित करता है। दूसरी तरफ व्यवस्थापिका मे दलीय समर्थन के कारण जैसी चाहे नीति निर्मित करा सकता है। इसी कारण, यह अनुभव किया जा रहा है कि संसदीय प्रणाली प्रधानमंत्री प्रणाली में धीरे-धीरे परिवर्तित हो रही है। ऐसे राज्यों में कार्यपालिका राजनीतिक दलों के समर्थन के आधार पर व्यवस्थापिका की समग्र शक्तियों का प्रयोग करने लगी है और व्यवस्थापिका का उन पर नियत्रण नहीं रह पाता है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि व्यवस्थापिकाए कार्यपालिका के हाथ की कठपुतली मात्र रह गई है।

6 अन्तरराष्ट्रीय जगत और कार्यपालिका – "जैसे-जैसे कोई राष्ट्र अन्तरराष्ट्रीय जगत के मामलों में उलझता जाता है, वैसे-वैसे उस राष्ट्र की कार्यपालिका शक्तिशाली होती जाती है।" यह विचार राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य वुडरो विलसन ने वर्षों पूर्व कार्यपालिका की महत्ता का वर्णन करते हुए व्यक्त किये थे आज यह अक्षरश सत्य है। वस्तुत अन्तरराष्ट्रीय जगत के सम्बन्धों में व्यवस्थापिका यदा-कदा ही भूमिका निभा सकती है। कार्यपालिका दूसरे देशों के साथ सधियों, समझौतों आदि का कार्य करती है। विदेशी राज्य से कार्यपालिका का समझौता हो जाने पर व्यवस्थापिका द्वारा उसका अनुमोदन कर दिया जाता है। अन्तरराष्ट्रीय जगत में व्यवस्थापिका की शक्ति नगण्य मात्र है।

7 कार्यपालिका का सेना पर पूर्ण नियत्रण– देश का मुख्य कार्यपालक देश की जल, थल और नभ सेना का सर्वोच्च सेनापति होता है। देश की सैन्य शक्ति सचालन मे मुख्य कार्यपालक स्वतत्र होता है। युद्ध या सैनिक सकटो के समय तुरन्त निर्णय की आवश्यकता होती है। यह तत्परता व्यवस्थापिका के पास नहीं है। व्यवस्थापिका मे निर्णय हेतु एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरना होता है। अत ऐसे समय कार्यपालिका सर्वेसर्वा हो जाती है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने वियतनाम युद्ध का सचालन करते समय कई बार कांग्रेस (वहा की व्यवस्थापिका) की अवहलना की थी। कार्यपालिका की इस शक्ति से आणविक व अन्य अस्त्र-शस्त्रो के विकास मे वृद्धि ही हुई है।

8 सकारात्मक राज्य का उदय– आज विश्व के सभी देश लोककल्याणकारी देश हैं। विभिन्न सरकारें अपने-अपने तरीको से वहा की जनता का कल्याण करने म लगी हुई हैं। समाज का बहुमुखी विकास करना सरकार की जिम्मेदारी हो गई है और वह जनता के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध कराने मे लगी है वह व्यवस्था करती है ताकि जनता को हर चीज तुरन्त व सही समय पर मिल सके। अत बीसवी शताब्दी की सरकारे सकारात्मक कार्य करने लगी हैं। सकारात्मक राज्य मे जनता कार्यपालिका से हर कार्य की अपक्षा करती है। हर प्रकार के अभाव अभियोगो के समाधान कार्यपालिका से चाहती है, क्योकि व्यवस्थापिका इस उत्तरदायित्व को वहन नहीं कर सकती है।

9 सचार साधनों का विकास– रेडियो टेलीविजन जैसे सचार साधनो के विकास ने कार्यपालिका की छवि महत्त्वपूर्ण बना दी है। कार्यपालिका अध्यक्ष को जनता अच्छी तरह पहचानने लगी है, क्योकि कार्यपालिका व्यवस्थापिका की परवाह किए बिना सीधा जनता से सम्पर्क स्थापित कर सकती है, और करती भी है। अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन भारतीय प्रधानमत्री स्वर्गीय श्रीमती इन्दिरा गाधी और फ्रास के राष्ट्रपति डिगॉल ने टेलीविजन का उपयोग जनमत को अपने पक्ष मे करने के लिए तथा उसे महत्त्वपूर्ण समझते हुये पर्याप्त उपयोग किया।

10 व्यवस्थापिका की कार्य पद्धति का निर्धारण कार्यपालिका द्वारा– व्यवस्थापिका का सत्र आहूत किए जाने का निर्धारण कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका व्यवस्थापिका की कार्य पद्धति और कार्यसूची का भी निर्धारण करती है। भारतवर्ष में कार्यपालिका की अहम् भूमिका के कारण राज्यों की व्यवस्थापिकाओं क अधिवेशनो की अवधि मे निरन्तर कमी हा रही है।

11 कार्यपालिका में निम्न सदन को भग करने की विशेष शक्ति– सभी ससदात्मक शासन प्रणाली अपनाने वाले देशो म कार्यपालिका व्यवस्थापिका के लोकप्रिय निम्न सदन को भग करने का परामर्श और आदेश दे सकती है। राष्ट्रपति नाममात्र का सर्वोच्च अध्यक्ष है जो कार्यपालिका के परामर्श स निम्न सदन को भग करने का आदेश देता है। प्रधानमत्री वास्तविक अध्यक्ष होने के नात भग करने की सिफारिश दे सकते हैं। कार्यपालिका अपन इस विशेषाधिकार द्वारा व्यवस्थापिका से उचित अनुचित सभी विषयो

पर समर्थन प्राप्त करती रहती है। कार्यपालिका के इस विशेषाधिकार के सम्बन्ध मे विद्वानों ने कहा है कि–कार्यपालिका इस विशेषाधिकार की तलवार के बल से व्यवस्थापिका पर अपना प्रभुत्व रखने की स्थिति मे आ गई है।

12 **व्यवस्थापिका के प्रतिभाशाली सदस्यों की कार्यपालिका में मौजदूगी–** ससदात्मक शासन में कार्यपालिका का गठन व्यवस्थापिका के निर्वाचित प्रतिनिधि सदस्यों विशेषकर बहुमत दल के सदस्यो मे से किया जाता है। बहुमत दल का नेता प्रधानमत्री होता है। प्रधानमत्री अपनी मत्रिपरिषद् का चयन करते हैं और व्यवस्थापिका में दल के सर्वाधिक योग्य प्रतिभाशाली और प्रभावकारी सदस्यों को मत्रिपरिषद् में सम्मिलित करते हैं। ऐसा करने से व्यवस्थापिका में दल का सदन मे नेतृत्व करने हेतु योग्य प्रतिभावान और प्रभावकारी व्यक्तियों का अभाव हो जाता है। अत व्यवस्थापिका मे दल के शेष सदस्य कार्यपालिका की ओर निहारते हैं और नेतृत्व प्राप्त करते हैं। ऐसे में व्यवस्थापिका की स्थिति अत्यन्त हास्यास्पद हो जाती है।

13 **प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की स्थापना–** आज कार्यपालिका अपने मूल कार्य (विधि क्रियान्वयन) के साथ-साथ प्रत्यायोजित व्यवस्था के अन्तर्गत विधि निर्माण का कार्य करती है। प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की स्थापना के साथ कार्यपालिका के पास न्यायिक शक्तियाँ भी आ गई हैं। कार्यपालिका अब शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को ताक पर रख सरकार के तीन अगों का कार्य करने के कारण अधिक शक्तिशाली और निरकुश हो गई है। व्यवस्थापिका द्वारा अपने मूल कार्य (विधि निर्माण) को सही तरीके से करना असम्भव होता जा रहा है।

14 **जानकारी प्राप्त करने के अधिकार में कमी–** अब तक भारतवर्ष में व्यवस्थापिका को सदस्यों किसी भी राजनीतिक दल या प्रशासनिक जानकारी प्राप्त करने का अनन्य अधिकार प्राप्त था। जाच आयोग सशोधन अधिनियम के माध्यम के रूप में यह अधिकार कार्यपालिका के पास आ गया है। ससद में जॉच आयोग के प्रतिवेदन का प्रस्तुतीकरण होना या न होना कार्यपालिका पर निर्भर करता है। कार्यपालिका का यह कार्य ससद सदस्यों के जानकारी प्राप्त करने के मूलभूत अधिकारों में कटौती माना गया है। यह स्थिति व्यवस्थापिका की स्थिति को दयनीय बनाने में सहायक है।

व्यवस्थापिका पतन का मूल्यांकन

व्यवस्थापिका के उक्त कारणो की चर्चा से यह निष्कर्ष नही निकलता कि व्यवस्थापिका का युग समाप्त हो गया है। व्यवस्थापिका एक ऐसा मच है जहाँ पर जनता की सम्प्रभुता औपचारिक रूप से व्यवस्थापिका के पास एक निश्चित अवधि के लिए प्रदान की जाती है। लोकतान्त्रिक राज्य में सामाजिक और आर्थिक स्थितियों ने व्यवस्थापिका के स्वरूप को बदल दिया है। व्यवस्थापिका के सदस्य वर्तमान जटिल परिस्थितियो में समस्याओं की जटिलताओ को नहीं समझते हैं, और न वे कानून का निर्माण करते हैं। कानून प्रशासक बनाते हैं और व्यवस्थापिका ता हा या ना करने वाली सस्था मात्र है।

निरसन्देह, कार्यपालिका का महत्त्व एव शक्तियां बढती हुई प्रतीत हो रही हैं किन्तु व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियत्रण रखती है। व्यवस्थापिका का यह अधिकार आज बहुत महत्त्वपूर्ण और सार्थक है। यदि व्यवस्थापिका के सदस्य इस अधिकार का उपयोग करते हैं तो कार्यपालिका को शक्तियों का अधाधुध प्रयोग कर निरकुश होने से रोका जा सकता है। आज भी व्यवस्थापिकाएँ एकता का केन्द्र एव राष्ट्रीयता का प्रतीक हैं तथा शिकायतो को प्रस्तुत करने का मच हैं। अत यह कहना गलत होगा कि आज व्यवस्थापिकाओं का युग समाप्त हो गया है तथा वह महत्त्वहीन हो गई हैं।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 गार्नर राज्य विज्ञान और शासन लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1965
2 अरस्तु पॉलिटिक्स अध्याय 14
3 देखिये दि डीफेन्सर पेनसिज (1324)
4 देखिये हिज डी ला रिपब्लिक बी के 1, अध्याय 10(1576)
5 लास्की ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स
6 माण्टेक्यू पॉलिटिक्स
7 लिप्सन दि ग्रेट इश्यू ऑफ पॉलिटिक्स
8 ब्लैकस्टोन कमेन्ट्रीज ऑन दी लॉज ऑफ इग्लैंड (1765)
9 फाइनर थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ माडर्न गवर्नमेंट
10 मेडिसन दि फेडरलिस्ट न XL VIII
11 जॉन स्टुअर्ट मिल रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेंट, अध्याय 13
12 स्टोरी कमैण्टरीज वाल्यूम 1st, सेक्शन 558
13 गार्नर पोलिटिकल साइस एण्ड गवर्नमेंट
14 लार्ड ब्राइस माडर्न डेमोक्रेसिस
15 के सी व्हीयर लेजिस्लेचर न्यूयार्क ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1963, पृ स 221

□□□

अध्याय–6

सरकार का संगठन : कार्यपालिका

सरकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग कार्यपालिका है। यह व्यवस्थापिका की तरह ही महत्त्वपूर्ण है। व्यवस्थापिका जो कानून बनाती है उन्हें क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका का है। कार्यपालिका राज्य की इच्छा को कार्यरूप मे परिणत करती है। प्राचीन काल में राजतन्त्र थे। शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त प्रचलन मे नहीं था। अतः राजा या शासक वर्ग ही नीति निर्माता नीतियों का क्रियान्वयन और उल्लंघन होने पर न्यायकर्त्ता के रूप में दण्ड की व्यवस्था करता था। कालान्तर में लोकतन्त्रात्मक राज्यो के स्वरूप और शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के लागू हो जाने के साथ ही नीति निर्माण के लिए कार्य व्यवस्थापिका नीति क्रियान्वयन हेतु कार्यपालिका और न्याय हेतु न्यायपालिका का गठन हुआ। डॉ फाइनर के विचारानुसार– शासन के अन्य अंगों व्यवस्थापिका और न्यायपालिका द्वारा अपने-अपने हिस्से की शक्ति को लेने के पश्चात् जो शक्ति शेष बचती है वह कार्यपालिका की शक्ति कहलाती है। अतः कार्यपालिका शासन की अवशिष्ट शक्ति है।" गिलक्राइस्ट ने कार्यपालिका की व्याख्या की है– कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप मे अभिव्यक्त जनता की इच्छा को कार्य रूप में परिणत करता है। यह वह धुरी है, जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासनिक तंत्र घूमता है।

व्यापक अर्थ मे कार्यपालिका शब्द से उन सारे छोटे-मोटे सरकारी अफसरों का बोध होता है जिनका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों को लागू करना है। इसमे राष्ट्रपति से लेकर साधारण पटवारी व चौकीदार आ जाते हैं। कार्यपालिका का अर्थ बताते हुए डा गार्नर ने कहा है– " व्यापक सामूहिक अर्थ मे कार्यपालिका में वे सभी राज्य कर्मचारी तथा संस्थाएँ आ जाती हैं जिनका सम्बन्ध राज्य की इच्छा को क्रियान्वित करने से है जो कानून के रूप मे प्रकट की गई है। डा गार्नर ने जो परिभाषा दी है वह बहुत व्यापक है। इसके अनुसार राज्याध्यक्ष, मन्त्रिपरिषद् तथा अन्य सभी राज्यकर्मचारी कार्यपालिका में शामिल है जिसका सम्बन्ध कानून लागू करने से है। किन्तु संकुचित अर्थ मे इससे राज्य के सर्वोच्च शासक और मन्त्रिपरिषद् का बोध होता है। राज्य कर्मचारी इसमे शामिल नहीं किया जायेगा। उदाहरण के लिये जब भारत की कार्यपालिका की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य राष्ट्रपति प्रधानमंत्री और मन्त्रिमण्डल से होता है।

कार्यपालिका को व्यापक और संकुचित अर्थ के आधार पर विद्वानो ने दो भागो मे बाटा है—(1) राजनीतिक कार्यपालिका और (2) स्थाई लोक सेवाएँ। राजनीतिक कार्यपालिका प्रशासन से सम्बन्धित नीति तैयार करती है। स्थायी लोक सेवाएँ प्रशासनिक नीति तैयार करने और नीतियो के क्रियान्वयन मे राजनीतिक कार्यपालिका की सहायता करती हैं। इस अध्याय मे कार्यपालिका शब्द का प्रयोग सकुचित अर्थ मे करते हुये केवल राजनीतिक कार्यपालिका का ही वर्णन किया जायेगा।

अनुभव बताता है कि किसी विषय पर विचार करने के लिए अनेक मनुष्यो का होना अच्छा है, परन्तु कार्य करने का भार एक ही व्यक्ति पर रखना उचित है। बहुत सारे रसोइये रसोई को बिगाड देते है। कार्यपालिका को क्रियान्वयन का कार्य करना है। कार्यपालिका के सगठन के लिए यही लोकोक्ति सही उतरती है। अत प्रशासन कार्य का उत्तरदायित्व थोडे से व्यक्तियो को सौंपा गया है।

प्रशासनिक सरचना एक पिरामिड की भाँति होनी चाहिये। प्रशासन का अधिकारी एक व्यक्ति हो नीचे कर्मचारी उससे अधिक जिससे उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सके और आज्ञापालन भी सही ढग से हो। कार्यपालिका की सफलता के लिए गोपनीयता, कार्यक्षमता शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता और कर्मठता जैसे गुणो का होना आवश्यक है। यही कारण हे कि कार्यपालिका की शक्ति अनेक समान व्यक्तियो के हाथों मे न देकर प्राय एक अथवा थोडे से व्यक्तियो के हाथो मे सौंपी गई हे।

कार्यपालिका के प्रकार

विश्व स्तर पर अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि विभिन्न देशो मे कार्यपालिका के कई प्रकार प्रचलित हैं। उनका मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित हो सकता है—

1 नाम मात्र की एव वास्तविक कार्यपालिका
2 राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका
3 एकल और बहुल कार्यपालिका
4 वशानुगत और निर्वाचित कार्यपालिका
5 उत्तरदायी और अनुत्तरदायी कार्यपालिका।

1 नाम मात्र की एव वास्तविक कार्यपालिका—कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारो मे से एक नाम मात्र एव वास्तविक कार्यपालिका है। यह विभेद केवल ससदात्मक शासन वाले देशों मे किया जाता है। इग्लैण्ड और भारत इस प्रणाली के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। ससदीय प्रणाली वाले देशों मे कार्यपालिका के सदस्यों का चयन व्यवस्थापिका के सदस्यों मे से किया जाता है। व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल अपना नेता चयनित करता है। जिसको राज्याध्यक्ष द्वारा प्रधानमत्री पद के लिए आमन्त्रित किया जाता है। इस

व्यवस्था मे दो कार्यपालिकाओ की सत्ता होती है– प्रथम राज्याध्यक्ष और द्वितीय शासनाध्यक्ष। राज्याध्यक्ष का पद सवैधानिक गरिमापूर्ण है। राज्य के सारे कार्य उसी के नाम से सम्पादित किये जाते हैं। इंग्लैण्ड मे राज्याध्यक्ष वशानुगत है तो भारत मे राज्याध्यक्ष का पद चयनित है। राज्याध्यक्ष के सारे औपचारिक कार्यों के पीछे वास्तविक शक्ति शासनाध्यक्ष (प्रधानमन्त्री) की है। इसलिए प्रधानमत्री वास्तविक कार्यपालिका है। प्रधानमत्री व्यवस्थापिका मे बहुमत दल के नेता के रूप मे व्यवस्थापिका हेतु अपने दल के सदस्य साथियो मे से मत्रिपरिषद् का गठन करता है तथा मत्रिपरिषद् का प्रधान होता है। यह कार्यपालिका (प्रधानमत्री और मत्रिपरिषद) सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के लोकप्रिय निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। सविधान द्वारा ससदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका को सम्पूर्ण देश की शासन सचालन सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। अध्यक्ष अपनी शक्तियो का प्रयोग स्वय नहीं करते हैं अपितु व्यवहार मे उन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमत्री की अध्यक्षता मे मत्रिपरिषद् करती है तो राज्याध्यक्ष नाममात्र की कार्यपालिका प्रधानमत्री मत्रिपरिषद सहित वास्तविक कार्यपालिका कहलाती है। नाम मात्र के अध्यक्ष के लिए कहा जाता है वह केवल राज्य करता है शासन नही ।

2 **राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका**–व्यापक अर्थ मे कार्यपालिका मे व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनो को क्रियान्वित करने में लगे हुए राज्याध्यक्ष प्रधानमत्री मत्रिपरिषद् और सभी उच्च और निम्न कर्मचारी सम्मिलित हैं। इस व्यवस्था का अध्ययन करने पर कार्यपालिका के दो प्रकार दिखाई देते हैं- प्रथम राजनीतिक कार्यपालिका और द्वितीय स्थायी कर्मचारी। राजनीतिक कार्यपालिका मे जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। इनका कार्यकाल निर्वाचन पर निर्भर करता है। दूसरी तरफ स्थायी कर्मचारी योग्यता के आधार पर चयनित किये जाते हैं जो सेवानिवृत्ति सम्बधी निश्चित आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं। स्थायी कर्मचारियो का कार्य राजनीतिक कार्यपालिका को कार्य निष्पादन मे सहयोग प्रदान करना है। भारत वर्ष में स्थायी कर्मचारियों मे–अखिल भारतीय सेवाओ के प्रथम श्रेणी द्वितीय श्रेणी तृतीय श्रेणी और चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आते हैं। राजनीतिक कार्यपालिका मे प्रधानमत्री एव मत्रिपरिषद् है। ससदात्मक व्यवस्था मे स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी है। राजनीतिक कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है। राज्य की सरकार का केन्द्र स्थल यह राजनीतिक शासक ही होता है। अध्यक्षात्मक प्रणाली वाले राज्यो मे यह पद राष्ट्रपति का और ससदात्मक व्यवस्था वाले राज्यों में प्रधानमत्री और मत्रिपरिषद् का होता है।

3 **एकल और बहुल कार्यपालिका**–एकल कार्यपालिका मे कार्यकारिणी की समग्र शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में निहित रहती हैं। इसके विपरीत कार्यकारिणी शक्तियाँ एक से अधिक व्यक्तियो की समिति मे निहित हैं तो उसे बहुल कार्यपालिका कहते हैं।

प्राचीन काल मे राजा के पास सारी कार्यकारिणी शक्तियॉ हुआ करती थी। अत राजा को हम एकल कार्यपालिका का उदाहरण मान सकते हैं। आधुनिक समय मे अमेरिका का राष्ट्रपति एकल कार्यपालिका का उदाहरण है। इस प्रकार की कार्यपालिका म गुटवन्दी का अभाव रहता है। सकटकाल मे यह शीघ्र निर्णय के लिये अच्छी कार्यपालिका तथा शासन नीति की एकरूपता बनाये रखने मे सहायक है। एकल कार्यपालिका के लाभो को देखते हुए स्टोरी ने कहा है– "कार्यपालिका को एकल और व्यवस्थापिका को वहुसख्यात्मक होना चाहिए।

इसके विपरीत वहुल कार्यपालिका मे शासन की शक्ति एक से अधिक व्यक्तियों की समिति मे निहित रहती है। प्राचीन काल मे रोम तथा स्पार्टा मे वहुल कार्यपालिका द्वारा शासन किया जाता था। अठारहवी शताब्दी मे विशेषत 1795 मे फ्रास मे पाँच सदस्यीय डाइरेक्टरी का शासन बहुल कार्यपालिका का ही उदाहरण है। स्विट्जरलैंड की सघीय परिषद् (कार्यपालिका) वहुल कार्यपालिका है जिसके सात सदस्य हैं। इन सातों की शक्तियाँ एक-दूसरे के समान मानी जाती है। देश की शासन शक्ति इन सातो सदस्यो मे निहित है। यह सामूहिक कार्यपालिका का सर्वोत्तम उदाहरण है।

वहुल कार्यपालिका मे शक्तियो का दुरुपयोग नहीं होता है। यह निरकुशता के विरुद्ध एक अच्छी व्यवस्था है। इस व्यवस्था मे निर्णय एक व्यक्ति का न होकर पूरे समूह का होता है। *यह सर्वमान्य और सर्वविदित सिद्धान्त है, कि एक व्यक्ति के निर्णय की अपेक्षा* समूह का निर्णय अधिक बुद्धिमतापूर्ण होता है। अत वहुल कार्यपालिका के निर्णय श्रेष्ठ, निरकुशता अथवा अत्याचार रहित, नागरिकों की स्वतत्रता आदि गुणों से परिपूर्ण होते हैं। परन्तु आज की परिस्थितियों में अधिकाश विचारको का मानना है कि बहुल कार्यपालिका अधिक सफल कार्यपालिका नहीं है। इस व्यवस्था मे शासन का उत्तरदायित्व समूह मे विभक्त रहता है। समूह का एक विषय पर एकमत हो पाना कठिन होता है। अत शासन कार्यों के निर्णय मे देरी तथा एकता का अभाव रहता है। परस्पर फूट और कलह की सम्भावना सदैव वनी रहती है।

कई परिस्थितियो में वाह्य आक्रमण, अराजकता से समाज की रक्षा, विकास योजनाओ का क्रियान्वयन, दृढ शासन तथा सामान्य न्याय की रक्षा, आदि सशक्त कार्यपालिका की आवश्यकता होती है। इन सशक्त गुणों का वहुल कार्यपालिका में अभाव है। फिर भी स्विट्जरलैंड मे यह व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। इसके प्रमुख कारण यहाँ की जनता मे व्यापक राजनीतिक चेतना, उनका समुचित शिक्षण तथा देश की श्रेष्ठ परम्पराएँ हैं न कि वहुल कार्यपालिका के गुण।

4. वशानुगत तथा निर्वाचित कार्यपालिका–एक समय था जव राजतत्र राज्यों का वोलवाला था। तव कार्यपालिकाये वशानुगत हुआ करती थीं, आज लोकतत्रात्मक

व्यवस्था मे वशानुगत कार्यपालिका का स्थान निर्वाचित कार्यपालिका न ले लिया है। परन्तु, राजतत्र मे जहाँ राज्य का अध्यक्ष जन्म अथवा उत्तराधिकार के आधार पर नियुक्त किया जाता है और मृत्युपर्यन्त अपने राज्य का अध्यक्ष रहता है। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र या उसका उत्तराधिकारी राज्य का अध्यक्ष होता है। ऐसी कार्यपालिका को वशानुगत प्रणाली कहते हैं। इगलैण्ड नेपाल स्वीडन और जापान म इस प्रकार की कार्यपालिका के उदाहरण हैं। इसके विपरीत कार्यपालिका का गठन निर्वाचन से होता है। निर्वाचित कायपालिका का समय निश्चित रहता है। निश्चित समय हेतु कार्यपालिका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कर ली जाती है। भारत का राष्ट्रपति अमेरिका का राष्ट्रपति फ्रास का राष्ट्रपति निर्वाचित कार्यपालिका के उदाहरण हैं। सभी देशो में कार्यपालिका के निर्वाचन की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है।

5 **उत्तरदायी और अनुत्तरदायी कार्यपालिका**–कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों में ससदीय प्रणाली का प्रमुख स्थान है। इस व्यवस्था मे कार्यपालिका का गठन व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यो में से किया जाता है। कार्यपालिका सामूहिक रूप से अपने निचले सदन के प्रति उत्तरदायी रहती है। कार्यपालिका को जब तक व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है शासन करती है या सत्तारूढ रहती है। उस निश्चित अवधि से पूर्व वह व्यवस्थापिका का विश्वास खो देती है तो कार्यपालिका अपदस्थ हो जाती है। उसके स्थान पर नई सरकार या कार्यपालिका निर्वाचित कर ली जाती है जिसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त हो। इस प्रकार की कार्यपालिका को अस्थायी कार्यपालिका कहा जाता है। भारत और इग्लैण्ड मे उत्तरदायी कार्यपालिका है।

अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का गठन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। कार्यपालिका का गठन व्यवस्थापिका के सदस्यों मे से नही किया जाता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है। कार्यपालिका निश्चित अवधि तक कार्य करने के लिए स्वतत्र है। व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका को विश्वास खोने और पाने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। इस व्यवस्था मे नाममात्र और वास्तविक दो शासक न होकर एक ही वास्तविक राज्याध्यक्ष होता है। वह अपनी मत्रिपरिषद् का गठन स्वय करता है। जिसकी सहायता से शासन सम्बन्धी कार्यों का सचालन करता है तो इस अनुत्तरदायी कार्यपालिका कहते हैं अमेरिका इसका प्रमुख उदाहरण है। वहाँ राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका है। वह और उसके द्वारा गठित कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही है। सक्षेप मे अनुत्तरदायी कार्यपालिका की विशेषताएँ– स्वतत्रता कार्यकाल की निश्चितता स्थायीपन और उत्तरदायित्व का अभाव है।

कार्यपालिका का कार्यकाल

कार्यपालिका का कार्यकाल उस देश की शासन पद्धति पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ यदि किसी राज्य में राजतंत्र है तो वहाँ पर कार्यपालिका का कार्यकाल राजा के सत्तारूढ होने से लेकर मृत्युपर्यन्त तक है। इस काल मे वह षड्यन्त्र अथवा किसी अन्य कारण से अपदस्थ नहीं किया जा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन पद्धति में राष्ट्रपति निर्वाचित होने के बाद संविधान द्वारा निर्धारित अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। क्योंकि इस शासन पद्धति मे राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है। व्यवस्थापिका द्वारा उसे अपदस्थ भी नहीं किया जा सकता है। वह केवल पद के दुरुपयोग और देशद्रोह के अपराध मे महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है, अन्यथा वह निश्चित अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। अमेरिका का राष्ट्रपति इसका प्रमुख उदाहरण है। संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित होता है। इस व्यवस्था मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का कार्यकाल संविधान मे समान रखा गया है परन्तु कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है। व्यवस्थापिका में विश्वास खो देने पर कार्यपालिका अपदस्थ कर दी जाती है। नई विश्वास प्राप्त कार्यपालिका का गठन कर लिया जाता है। संविधान द्वारा कार्यपालिका का कार्यकाल निर्धारित होने पर भी उसे पदासीन रहने का अधिकार तभी तक है जब तक व्यवस्थापिका मे विश्वास प्राप्त है।

कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित करते समय संविधान निर्माताओ द्वारा इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है, कि कार्यपालिका को अपनी नीतियो और दल के कार्यक्रमो के क्रियान्वयन का पर्याप्त अवसर मिल जाय। इस आशय से भारत और ब्रिटेन म प्रधानमंत्री का कार्यकाल पाच वर्ष और अमेरिका के राष्ट्रपति का कार्यकाल चार वर्ष निर्धारित किया गया है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है उक्त राजनैतिक कार्यपालिका के अतिरिक्त कार्यपालिका का दूसरा भाग भी है जिसे स्थायी प्रशासनिक कार्यपालिका कहते हैं। जिन्हें सिविल कर्मचारी प्रशासकीय/स्थायी कर्मचारी और नौकरशाही आदि नामो से पुकारते हैं। स्थायी कर्मचारी वर्ग की निरन्तरता राजनैतिक कार्यपालिका के परिवर्तन के बाद भी बनी रहती है। इनकी नियुक्ति हेतु निश्चित आयु और योग्यता का प्रावधान है। साथ ही ये कर्मचारी निर्धारित आयु तक सेवा में रहते हैं। अलग-अलग देशों में स्थायी कर्मचारियों की आयु अलग-अलग है। वस्तुत यही प्रशासक वर्ग/कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नीतियों का क्रियान्वयन करते हैं, न कि राजनैतिक कार्यपालिका। इसी भूमिका के कारण स्थायी कार्यपालिका (सेवावर्गीय अधिकारी) को प्रशासन का मेरुदण्ड कहा गया है।

कार्यपालिका के कार्य

कार्यपालिका का प्रमुख कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित नीतियों का क्रियान्वयन है। इस दृष्टि से कार्यपालिका के अनेक कार्य होते हैं। लोकतन्त्रात्मक राज्यो में व्यवस्थापिका द्वारा मानव जीवन के विभिन्न पहलुओ से सम्बन्धित नीतियों का निर्माण हाता है। कार्यपालिका उन सभी का क्रियान्वयन करती है। कार्यपालिका के कार्य कूटनीतिक प्रशासनिक सैनिक विधायी एव न्यायिक क्षेत्रों से सम्बन्धित माने गए हैं। गेटल-वेयर गोर्फ जैसे लेखको का मत भी इसी प्रकार का है।

लोकतान्त्रिक देशो मे कार्यपालिका निम्नलिखित कार्य करती है—

1 प्रशासकीय कार्य–यह सर्वविदित है कि कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नीतिया के क्रियान्वयन और देश मे शाति और व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व है। इस दायित्व निर्वाह के लिए कार्यपालिका अनेक प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करती है। प्रशासनिक कार्यों के उचित सचालन के लिए कार्यपालिका अनेक प्रकार के लोकसेवको की नियुक्ति करती है। इन लोकसेवको की सेवाओ का वर्गीकरण भर्ती-प्रकिया भर्ती अभिकरण प्रशिक्षण पदोन्नति वेतन सरचना सेवा शर्तों का निर्धारण अनुशासनात्मक कार्यवाही और सेवानिवृत्ति आदि लागो सम्बन्धी नियम-उपनियम बनाने का कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त देश की आन्तरिक शाति, सरकारी विभागो का पर्यवेक्षण कर्मचारियो की पदच्युति नागरिक जीवन का नियन्त्रण और अनेक सामाजिक सेवाओ द्वारा जनता को सतुष्ट करना कार्यपालिका के प्रमुख कार्य हैं।

2 राजनयिक या कूटनीतिक कार्य–देश का विश्व के अन्य देशो के साथ वैदेशिक सम्बन्ध सचालन का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर है। इसके लिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार विदेश नीति का निर्माण एव निर्धारण राजदूतो की नियुक्तियाँ, विदेशी राज्यों को मान्यता, देश मे उनके दूतावास स्थापित करने की अनुमति अन्तरराष्ट्रीय सस्थाओं में भागीदारी व्यापारिक, सास्कृतिक शैक्षणिक व अन्य प्रकार की सधियो और समझौते करके राष्ट्रीय हितो की वैदेशिक जगत मे रक्षा तथा अभिवृद्धि आदि सम्मिलित हैं। उक्त वर्णित सभी कार्य कार्यपालिका के राजनयिक या कूटनीतिक कार्य माने जाते हैं।

विदेश मत्री जो मत्रि-परिषद् का सदस्य होता है राजनयिक कार्यों के निर्वहन के लिए उत्तरदायी होता है। राजनयिक कार्यों का सचालन एक जटिल एव सवेदनशील कार्य है। इसके लिए विशेषज्ञता गोपनीयता और कूटनीतिक चातुर्य की आवश्यकता है। यह सभी गुण विद्यमान होने से राजनयिक कार्यों का उत्तरदायित्व कार्यपालिका को सौंपा गया है।

3 वित्तीय कार्य–प्रशासन के लिए वित्त रक्त का कार्य करता है। प्रतिवर्ष प्रतिदिन सभी देशो की सरकारें विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए काफी मात्रा में धन खर्च करती है। सरकारें इस धनराशि का सग्रह करों द्वारा करती है। करो का सग्रह एव

कार्यों हेतु धन की स्वीकृति का अधिकार व्यवस्थापिका के पास है। पहले भी कहा है कि व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बिना न तो पैसा खर्च किया जा सकता है और न ही कोष मे जमा कराया जा सकता है। कार्यपालिका प्रति वर्ष आय-व्यय का प्रस्ताव अपने प्रशासनिक विभागो की सहायता से तैयार कराती है। उसमे संचित निधि से होने वाले खर्चों को संलग्न करती है और आय-व्यय विधेयक व्यवस्थापिका मे प्रस्तुत करती है। आय के साधनो को जुटाना भी कार्यपालिका का ही कार्य है। इस कार्य के लिए सरकार के पास एक पृथक वित्त विभाग है। जिसका प्रमुख कार्य आय-व्यय पर नियत्रण रखना है। नियत्रण के लिए वित्त विभाग खर्च किए गए धन की गणना परीक्षण (आडिट) का कार्य करवाता है।

यह सत्य है कि आय-व्यय पर अंतिम स्वीकृति व्यवस्थापिका प्रदान करती है। कार्यपालिका वित्त विभाग के माध्यम से वित्तीय कार्य सम्पादित करती है। आय-व्यय की *रूपरेखा तैयार करना, कर का स्वरूप निश्चित करना, एव किसी विभाग को खर्च करने* के लिए धनराशि का निर्धारण आय के उपभाग की प्राथमिकताओं का निर्धारण वित्त विभाग का ही कार्य है।

4 विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य–आधुनिक राज्यो मे कार्यपालिका को विधि निर्माण का कार्य भी करना पडता है। अलग-अलग शासन पद्धति वाले राज्यो मे कार्यपालिका के कार्य पृथक्-पृथक है। संसदीय शासन प्रणाली वाले राज्यों में व्यवस्थापिका (संसद) का अधिवेशन बुलाना, उसका स्वागत करना, संसद भग करना आदि कार्य कार्यपालिका करती है। संसद म प्रस्तुत किए जाने वाले विषयो पर विचार, उन्हे प्रस्तुत होने देना या नहीं, विधेयको की रूपरेखा, विधेयको को पारित करवाकर कानून का रूप प्रदान कराना आदि भी कार्यपालिका का ही उत्तरदायित्व है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रस्तावो पर अंतिम हस्ताक्षर कार्यपालिका के होने पर ही वह प्रस्ताव कानून बनता है अन्यथा वह व्यवस्थापिका द्वारा प्रस्तावित प्रस्ताव ही रहता है।

संसदात्मक शासन व्यवस्था मे कार्यपालिका व्यवस्थापिका को नेतृत्व प्रदान करती है। *अध्यक्षात्मक शासन पद्धति वाले राज्य म कार्यपालिका के पास व्यापक और* प्रत्यक्ष विधि निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ नहीं है फिर भी कुछ विधि निर्माण के कार्य *कार्यपालिका करती है। अमेरिका का राष्ट्रपति वहाँ की व्यवस्थापिका (कांग्रेस) को संदेश* भेजता है। संदेशो के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से विधि निर्माण कार्य अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करता है। कांग्रेस द्वारा पारित विधेयक अंतिम स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की शासन पद्धति वाले देशो मे कार्यपालिका विधि निर्माण का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका संकटकाल अथवा विशिष्ट परिस्थितियों मे अध्यादेश जारी करती है।

5 न्यायिक कार्य–सभी देशों मे कार्यपालिका को कुछ न कुछ न्यायिक कार्य भी करने पडते हैं। सामान्यत कार्यपालिका को सौपे गए न्यायिक कार्य राज्याध्यक्ष द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। न्यायालय द्वारा दडित व्यक्ति को क्षमादान दड मे कमी या स्थगन कार्यपालिका का कार्य है। भारत और अमेरिका मे राज्याध्यक्ष न्यायाधीशो की नियुक्ति करते हैं तथा व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशो के विरुद्ध महाभियोग प्रस्ताव पारित हो जाने पर उनकी पदच्युति करते हैं। इसी तरह जिन देशो में प्रशासनिक प्राधिकरणो (ट्रिब्यूनलो) की स्थापना का प्रावधान है कार्यपालिका उनका गठन करती है। उनमे अर्द्धन्यायिक कार्य भी करती है।

6 सुरक्षा एव सैनिक कार्य–आधुनिक राज्यों मे विचारधाराओ मे टकराव के कारण देश और नागरिकों की सुरक्षा एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न होता है। सामान्यत सभी राज्यो मे कार्यपालिका प्रमुख राज्य की सेनाओ का प्रमुख होता है। इसी पर देश की सुरक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व होता है। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए जल थल वायु सेनाओ और सुरक्षा बलो की व्यवस्था की जाती है। सभी प्रकार के सेनाध्यक्षों की नियुक्ति पदोन्नति पदावनति और पदच्युति कार्यपालिका के आदेश द्वारा ही की जाती है। देश मे युद्ध और शाति की घोषणा करने का सवैधानिक अधिकार भी कार्यपालिका को ही है। भारतवर्ष और इग्लैण्ड मे इस शक्ति का प्रयोग भारत के राष्ट्रपति और इग्लैण्ड के राजा द्वारा किया जाता है। व्यवहार मे दोनो देशो मे ससदात्मक सरकारें हैं इस कारण वास्तविक कार्यपालिका का प्रयोग प्रधानमत्री और मत्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। अमेरिका में शाति और युद्ध की घोषणा राष्ट्रपति सीनेट की अनुमति पर करता है। सैद्धान्तिक रूप से अधिकतर देशो मे युद्ध की घोषणा करने का अधिकार व्यवस्थापिका को दिया जाता है किन्तु एक बार युद्ध आरम्भ हो जाने पर युद्ध का सचालन कार्यपालिका के हाथों में आ जाता है। युद्धकाल में कार्यपालिका को असाधारण शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और वह तानाशाह-सा व्यवहार करने लगती है। इसमे कोई अतिशयोक्ति नही है कि देश की आतरिक शाति एव बाह्य सुरक्षा का अतिम दायित्व कार्यपालिका का है और इस दायित्व की पूर्ति हेतु कार्यपालिका सैनिक कार्यों का सम्पादन करती है।

7 राजनीतिक कार्य–कार्यपालिका अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था का सचालन करती है उसे नेतृत्व प्रदान करती है। इस कार्य के लिए वह अपने दल के वरिष्ठ नेताओ के साथ विचार विमर्श के बाद कोई निर्णय करती है निर्णय की क्रियान्विति का प्रयास करती है। वही निर्णय के सदर्भ में जनसमर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। कार्यपालिका ही देश की राजनीतिक व्यवस्था को एकता के सूत्र मे बाधने का कार्य करती है। कार्यपालिका का राजनीतिक नेतृत्व देश के प्रशासन पर नियत्रण रखता है तथा किसी निर्णय हेतु आवश्यक सूचनाएँ एव आकड़े सग्रह करता है।

8 **अन्य कार्य**–उक्त कार्यों के अतिरिक्त भी कार्यपालिका के कई कार्य-उपाधियो का वितरण राष्ट्रीय आयोजन विदेशियों को नागरिकता का अधिकार प्रदान करना आदि करने होते हैं। नीतियो का क्रियान्वयन भी कार्यपालिका का उत्तरदायित्व है। जनता कार्य से सतुष्ट होती है न कि केवल अच्छी नीति निर्मित करने से। व्यवस्थापिका के जनता के प्रति उत्तरदायित्व निर्वहन म कार्यपालिका का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अत कार्यपालिका से यह आशा की जाती है कि वह मतदाताओं के प्रति अपने दायित्व का सही-सही निर्वाह करे। इसलिए कार्यपालिका को शक्तियाँ भी प्रदान की गई है। उक्त वर्णित सभी कार्यों के कारण आज कार्यपालिका की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हा गई है।

कार्यपालिका शक्तियो मे अभिवृद्धि के कारण

कार्यपालिका की शक्तियो म दिनोदिन वृद्धि होती जा रही है। वृद्धि के अनेक कारण एव प्रवृत्तियाँ हैं। आज की कार्यपालिकाएँ हॉब्स के समझौता सिद्धान्त मे वर्णित कार्यपालिका का मूर्त रूप हैं। लॉक और रूसो न अपने सिद्धान्तो में सीमित कार्यपालिका तथा लोकप्रिय कार्यपालिका के सिद्धान्त क्रमश प्रतिपादित किए थे। कार्यपालिका की शक्तियों मे अभिवृद्धि के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1 **व्यवस्थापिका की अक्षमता एव समयाभाव**–व्यवस्थापिका के सदस्यों का निर्वाचन योग्यता के आधार पर नहीं होता है। वह समस्याओं की जटिलताओं को समझने में अक्षम होते हैं। वह कानून का प्रस्ताव भी स्वय तैयार नहीं करते हैं। कानून का प्रस्ताव प्रशासको द्वारा तैयार किया जाता है। मन्त्रियो द्वारा व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किया जाता है। व्यवस्थापिका केवल हाँ या ना कर अपनी 'सहमति' 'असहमति' ही प्रकट करती है। कार्यपालिका के राजनीतिक नेतृत्व एव शक्ति के कारण व्यवस्थापिका 'न' भी नही कर सकती है। दूसरा, व्यवस्थापिका के पास समयाभाव है क्योंकि व्यवस्थापिका के सामान्यत दो सत्र होते हैं– एक सत्र 'बजट सत्र' है जिसमे केवल आय-व्यय पर ही व्यवस्थापिका में विचार होता है। दूसरे सत्र में सम्पूर्ण विषयो पर एक ही समय पर विचार-विमर्श का कार्य सम्भव नहीं हो पाता है। अत व्यवस्थापिका का अधिकार कार्यपालिका को प्रत्यायोजित कर दिया जाता है।

कार्यपालिका के पास पर्याप्त समय है, विशेषज्ञ हैं। फलत कार्यपालिका इस कार्य को करने मे सक्षम है। अब व्यवस्थापिका केवल एक 'रबर स्टाम्प' मात्र हो गई है। कार्यपालिका के कार्यो मे पर्याप्त वृद्धि हो गई है। वह नीति क्रियान्वयन के साथ-साथ नीति-निर्माण का कार्य भी करने लगी है। इस व्यवस्था को चित्रित करते हुए रेम्जोम्योर ने लिखा है "मन्त्रिमडल की तानाशाही ने ससद की शक्ति एव सम्मान को बहुत कम कर दिया है।"

2 **केन्द्रीयकरण**–देश की शासन व्यवस्था चाहे सघात्मक हो या एकात्मक। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि हर स्थान पर प्रशासन, राजनीतिक व्यवस्था अथवा सरकार के विभिन्न अग, सर्वत्र केन्द्रीयकरण पर जोर दिया जा रहा है। एकात्मक शासन मे

केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त लागू होता है। परन्तु सघात्मक राज्यो– भारत इग्लैण्ड अमेरिका– मे भी केन्द्रीयकरण पर जोर दिया जा रहा है। सघात्मक शासन मे राज्यों में पृथक व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका का गठन किया जाता है। वहाँ भी राज्यो की स्थिति केन्द्रीय अभिकर्त्ता जैसी ही है। राष्ट्रीय हितो को ध्यान में रखते हुए कार्यपालिका राज्यो मे समय-समय पर निर्देश जारी करती है। राष्ट्रीय दलो के माध्यम से भी कार्यपालिका देश को सघटित करती है। शासन व्यवस्था में केन्द्र को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यह सब कार्यपालिका की केन्द्रीयकरण प्रवृत्ति का ही परिणाम है। इस प्रवृत्ति के कारण कार्यपालिका के कार्यों मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

3 **राजनीतिक दलों का सरक्षण**–आज सभी देशों मे चुनाव दलीय व्यवस्था के आधार पर होते हैं। प्रत्येक देश में कार्यपालिका दलीय नेतृत्व प्रदान करती है तथा दल के प्रमुख वक्ता के रूप में कार्य करती है। दल सदैव कार्यपालिका दल के समर्थन में लोकमत तैयार करने मे सहयोग करता है तथा दलीय नीतियो एव कार्यों को लोकप्रिय बनाने मे व्यस्त रहता है। राजनीतिक दलो मे कठोर अनुशासन पाया जाता है। दलीय सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्यवाही करने पर दोषी व्यक्ति को दल से तुरन्त निष्कासित किया जाता है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपने नेता के नेतृत्व मे कार्य करते हैं। दलीय व्यवस्था द्वारा एक ओर कार्यपालिका को जनसमर्थन प्राप्त होता है दूसरी ओर दलीय सरक्षण द्वारा अनौपचारिक दृढता प्राप्त कर कार्यपालिका कार्य करती है।

4 **राष्ट्रीय एव गृह सकट**–वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए विश्व के सभी राष्ट्र यह अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान युग आन्तरिक और बाह्य दोनो क्षेत्रो में सकट का युग है। आज सभी राष्ट्रो का अपने पड़ौसी राष्ट्रो के साथ निकटतम सम्बन्ध है। परस्पर सम्बन्ध अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के हो सकते हैं। जब राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध बिगड़ते हैं तो वे युद्ध का रूप धारण कर लेते हैं, जैसे– भारत-पाक चीन-वियतनाम युद्ध भारत-चीन सम्बन्ध आदि। सम्बन्धों की कटुता के कारण युद्ध की स्थिति बनती है और युद्ध बाह्य क्षेत्र मे सकट उत्पन्न करता है। इसी प्रकार से सभी राष्ट्रों में कोई न कोई गृह कलह का कारण बन जाता है। राष्ट्र की आन्तरिक शाति के लिए सकट उत्पन्न हो जाता है। जैसे भारत की आन्तरिक शाति को भग करने में प्राकृतिक विपदाएँ– बाढ़ सूखा अकाल और बेरोजगारी आरक्षण आदि। अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी आन्तरिक सकट या गृह सकट नीग्रो तथा गोरो के सामन्जस्य के कारण बना रहता है। स्पष्ट है सकट चाहे बाह्य हो या आन्तरिक, शक्ति का केन्द्रीयकरण कार्यपालिका मे हो जाता है तभी वह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

5 **विभागीयकरण की प्रवृत्ति**–लोककल्याणकारी राज्य में प्रत्येक नागरिक की यह आकाक्षा होती है कि राज्य उसके सभी कार्यों को सम्पादित करे। राज्य का उद्देश्य होता है वह नागरिकों के लिए अधिक से अधिक लाभकारी कार्य करे। अत आज सभी

सरकारें जनता की आकाक्षाओं को पूरा करने के लिए कृषि उद्योग व्यवसाय आदि क्षेत्रो मे कार्य कर रही है। विभिन्न समस्याओ के समाधान के लिए राष्ट्रीयकरण, आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप ओर नियोजन आदि कार्य भी राज्य को करने पडते हैं। कार्य के सही सम्पादन हेतु एक कार्य के लिए एक विभाग की स्थापना का सिद्धान्त अपनाया जाता है। दिन प्रतिदिन नवीन विभागो की स्थापना की जाती है। कार्य वृद्धि एव विभागीकरण की बढती प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप कार्यपालिका की शक्तियो मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। लिप्सन ने लिखा है– "राज्य के कार्यों मे प्रत्येक वृद्धि मे कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति मे वृद्धि की है।"

6 **एकल नेतृत्व का महत्व**–कहावत है एक व्यक्ति एक ही समय दो नावो में सवारी या एक व्यक्ति दो मालिको की सेवा एक ही समय में नहीं कर सकता है। यही उक्ति राष्ट्र या देश के सदर्भ मे भी लागू होती है। राष्ट्रीय नेतृत्व प्रदान करने वाला एक ही व्यक्ति हो सकता राजनीतिक नेतृत्व भी एक व्यक्ति प्रदान कर सकता है। कार्यपालिका का सवैधानिक अध्यक्ष एक व्यक्ति होता है, चाहे वह वास्तविक अध्यक्ष है या नाममात्र का अध्यक्ष। राजनीतिक नेतृत्व अमेरिका में राष्ट्रपति, भारत और इग्लैण्ड मे प्रधानमत्री द्वारा प्रदान किया जाता है। प्रशासन में भी एक व्यक्ति को विभागाध्यक्ष बनाया जाता है। मत्री मत्रालय का राजनीतिक अध्यक्ष है और विभागाध्यक्ष प्रशासनिक अधिकारी होता है। कार्यपालिका का एकल नेतृत्व राष्ट्र गौरव एव प्रतिष्ठा का सफल नेतृत्व करता है। राष्ट्र के सभी कार्य उसी के नाम से किये जाते है। अत कार्यपालिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है।

7 **सचार साधन एवं प्रचार**–आज सभी देशो मे सचार साधनों का विकास हो चुका है। टेलीविजन और रेडियो जैसे इलक्ट्राय माध्यमो के अतिरिक्त समाचार पत्र, टेलीफोन, ई-मेल, फैक्स आदि के योगदान से कार्यपालिका के महत्त्व में अभिवृद्धि हुई है। सभी सचार के विभाग कार्यपालिका के अधीन हैं। कार्यपालिका इन सचार माध्यमों द्वारा अपने तथा अपने दल के कार्यो का प्रचार करती रहती है। इन प्रचार कार्यक्रमों द्वारा वह जनमत को प्रभावित करती रहती है। जिसका परिणाम राष्ट्र के आगामी चुनावों के लिये भूमिका तैयार करना है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका सचार साधनों द्वारा अधिकाश कार्यों की देखरेख कर स्वय निर्देश दे सकती है।

8. **कार्यपालिका के हस्तक्षेप का वृहतर क्षेत्र**–शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त अपनाते हुए सरकार के कार्यों के आधार पर तीन अगों में विभाजन किया गया है और कार्यपालिका को नीति क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। आज कार्यपालिकाएँ नीति क्रियान्वयन के साथ-साथ नीति निर्माण और न्यायिक कार्य भी करने लगी हैं। प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की स्थापना न्यायाधीशो की नियुक्ति पदच्युत सम्बन्धी आदेश जारी करना अपराधी की सजा कम करना क्षमादान या सजा को मृत्युदण्ड से आजीवन

कारावास में बदलना आदि उसके न्यायिक कार्यों मे गिने जाते हैं। नीति निर्माण में प्रस्ताव तैयार करना व्यवस्थापिका मे प्रस्तुतीकरण बहुमत प्राप्त करना और अन्त मे हस्ताक्षर द्वारा अधिनियम बनाना आदि कार्यों में कार्यपालिका के हस्तक्षेप के बृहत्तर क्षेत्र से पर्याप्त वृद्धि हुई है। फलत कार्यपालिका का महत्त्व व्यापक हो गया है।

9 सविधान की सरचनात्मक व्यवस्था एव सविधान सशोधन–चाहे शासन का सविधान सघात्मक हो या ससदात्मक सर्वत्र कार्यपालिका को सविधान मे श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। सवैधानिक अध्यक्ष सदैव कार्यपालक होता है। उसी के नाम से देश का शासन चलता है। कार्यपालिका का सम्बन्ध दिन-प्रति-दिन के प्रशासन और नागरिकों के कार्यों से जुड़ा होता है। कार्यपालिका आवश्यकतानुसार और अपनी इच्छानुसार सविधान में सशोधन कर सकती है। सशोधन प्रस्ताव तैयार करती है उसे व्यवस्थापिका से पारित कराती है। तत्पश्चात् अतिम हस्ताक्षर सशोधन विधेयक पर करती है। सविधान की सरचना के अन्तर्गत प्राप्त श्रेष्ठता और सविधान सशोधन के अधिकार द्वारा कार्यपालिका के महत्त्व में वृद्धि हुई है।

कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध

लोकतत्रात्मक देशों में जनता के पास देश की प्रभुता है। इस प्रभुता का उपभोग वह व्यवस्थापिका में अपने प्रतिनिधि निर्वाचित कर करती है। स्पष्ट है व्यवस्थापिका में जनता द्वारा प्राप्त प्रभुता निहित है। व्यवस्थापिका इस प्रभुता को ध्यान में रखते हुए नीति निर्माण करती है। कार्यपालिका का स्वरूप व्यवस्थापिका की तुलना में लघु और सीमित है। कार्यपालिका अप्रत्यक्ष रूप से जनता की प्रभुता को ध्यान में रखते हुए नीति का क्रियान्वयन करती है। लास्की का कथन है कि "कार्यपालिका और न्यायपालिका की सीमाएँ व्यवस्थापिका द्वारा घोषित की गई इच्छा में निहित होती है।"

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त में माटेस्क्यू ने सरकार के कार्यों के आधार पर तीन पृथक्-पृथक् अगों का वर्णन किया है। नीति निर्माण के लिए व्यवस्थापिका नीति क्रियान्वयन के लिए कार्यपालिका और न्याय के लिए न्यायपालिका। सरकार का स्वरूप चाहे ससदात्मक हो या सघात्मक। सरकार के अगों में पृथकता सम्भव नहीं है। यही कारण हैं कि वे एक दूसरे पर काफी सीमा तक निर्भर हैं।

ऑग ने कहा है "कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियत्रण होना उत्तरदायी सरकार की प्रथम शर्त है। इस उत्तरदायित्व के अभाव में लोकतत्र सफल नहीं हो सकता है।" फाइनर ने इस विषय में लिखा है, "शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त शासन को निद्रित करने व ऐंठन वाली स्थिति में डाल देता है।" इसी प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी कहा है कि "सरकारी विभागो की पूर्ण स्वतत्रता का अनिवार्य अर्थ होगा निरन्तर गतिरोध। प्रत्येक विभाग अपनी ही शक्तियो की रक्षा में लगा रहेगा और अन्य किसी को सहयोग प्रदान नहीं करेगा। इसके फलस्वरूप कुशलता में होने वाली क्षति स्वतत्रता के लाभों से कहीं अधिक होगी।"

आधुनिक सरकारो के गठन के आलोचनात्मक अध्ययनो से पता चलता है कि सरकार के अग मिले-जुले रूप मे कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ यद्यपि कार्यपालिका का मुख्य कार्य प्रशासन का सचालन है तथापि कानून बनाने में भी उसका इस दृष्टि से योग है कि वह अनेक सरकारी विधेयको की रूपरेखा तैयार कर व्यवस्थापिका से पारित करवाती है। ससदात्मक सरकारो मे यह बात विशेष रूप से पाई जाती है, पर सभी ससदात्मक सरकारो मे स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है। अमेरिका मे भी अनेक विधेयक राष्ट्रपति की इच्छा या आदेश से तैयार किये जाते हैं और उसके द्वारा काग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते है। कई देशो मे कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। अध्यादेश कानून की भाँति ही होता है , भारत मे ऐसा ही है।

ससदात्मक शासन व्यवस्था मे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका सम्बन्ध

ससदात्मक शासन व्यवस्था का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका मे घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। इन दोनो के सम्बन्धो को निम्नलिखित रूप मे देखा जा सकता है–

(1) इस व्यवस्था मे कार्यपालिका का निर्माण ही व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यो में से किया जाता है। मन्त्रि-परिषद् (कार्यपालिका) के सदस्यों का व्यवस्थापिका का सदस्य होना आवश्यक शर्त है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति मन्त्रिपरिषद मे स्थान प्राप्त करता है जो व्यवस्थापिका के किसी भी निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता है या व्यवस्थापिका का निर्वाचित सदस्य नही है तो ससदीय व्यवस्था मे उसकी छ माह की अवधि पूर्ण होने से पूर्व व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य शर्त है। व्यवस्थापिका का सदस्य न चयनित हो सकने की स्थिति मे मन्त्रिपरिषद् में उसकी सदस्यता समाप्त मानी जाती है।

(2) मन्त्रिपरिषद् (कार्यपालिका) के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होने के नाते व्यवस्थापिका की बैठको में उपस्थित होते हैं। परस्पर किसी विषय पर विचार-विमर्श करते हैं। भाषणो द्वारा अपने विचार व्यक्त करते हैं। वाद-विवाद में भाग लेते हैं। किसी विधेयक का प्रस्ताव ससद में रखते हैं। बहुमत को प्रभावित कर एकत्रित करते हैं।

(3) मन्त्रिपरिषद (कार्यपालिका) सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायीहै। मन्त्रिपरिषद् व्यवस्थापिका मे पूछे गए प्रश्नो, पूरक प्रश्नों और अन्य कार्यपालिका मत्रालयों या प्रभागों द्वारा पूछी गई जानकारी प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट करती है। एक ओर व्यवस्थापिका प्रधानमत्री और उसकी मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर मन्त्रिपरिषद् को हटा सकते हैं। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कार्यों से असन्तुष्ट होती है। दूसरी ओर, कार्यपालिका व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन को राष्ट्रपति से कहकर भग करवा सकती है।

(4) भारत और इग्लैण्ड जैसे ससदात्मक देशों में व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक पर राष्ट्राध्यक्ष के हस्ताक्षर होने पर ही कानून बनता है। राष्ट्राध्यक्ष के रूप मे भारत में राष्ट्रपति और इग्लैण्ड मे रानी हस्ताक्षर करती है। दोनो ही देशों मे राष्ट्राध्यक्षो को निषेधाधिकार प्राप्त है। यह व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों को पुन व्यवस्थापिका को लौटा सकते हैं।

(5) व्यवस्थापिका के सत्रों को आहूत करने और सत्रावसान करने का कार्य भी कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है। कार्यपालिका के सवैधानिक अध्यक्ष व्यवस्थापिका को सम्बोधित करते हैं। वह अपना सन्देश लिखित रूप में भी भेज सकते हैं।

(6) भारत और इग्लैण्ड मे राज्याध्यक्ष व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में सदस्यों को मनोनीत करने का कार्य करते हैं।

आज व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका को कार्य प्रत्यायोजन प्रक्रिया से कार्यपालिका का महत्त्व बढ़ गया है। अब कार्यपालिका अध्योदश जारी कर सकती है। यह अध्यादेश कानून ही होता है। इसकी अवधि छ माह है। व्यवस्थापिका को राष्ट्राध्यक्ष (सवैधानिक अध्यक्ष) का प्रदत्त शक्तियो का दुरुपयोग करने पर महाभियोग प्रस्ताव द्वारा हटाने का अधिकार है। व्यवस्थापिका सत्र मे प्रस्तुत किए जाने वाले विषयों की सूची कार्यपालिका तैयार करती है। कार्यपालिका द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने पर आय-व्यय का ब्यौरा व्यवस्थापिका मे रखा जाता है। आय-व्यय का ब्यौरा कार्यपालिका तैयार करती है। कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका मे प्रस्तुत करती है।

व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों में से कई राजनीतिक समितियॉं कार्यपालिका के कार्यों पर निगरानी के लिए गठित की जाती हैं। ये समितियॉं कार्यपालिका के कार्यों की समीक्षा करती हैं। प्रतिवेदन तैयार करती हैं। प्रतिवेदन व्यवस्थापिका मे विचारार्थ प्रस्तुत करती हैं। व्यवस्थापिका समिति प्रतिवेदन पर विचार-विमर्श करती है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के इस विचार विमर्श में भाग लेते है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ससदात्मक शासन वाले देशों में ये कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों के मध्य कोई विभाजन-रेखा का पता नहीं लगाया जा सकता है। कौन-सा कार्य व्यवस्थापिका द्वारा सम्पन्न हुआ है और कौनसा कार्य कार्यपालिका ने किया है। दोनों ही स्थानो पर वही व्यक्ति है। अत यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि ससदात्मक शासन वाले देशो में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनो एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं।

अध्यक्षात्मक शासन मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका सम्बन्ध

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली वाले देशों मे सरकार के तीनों अगो—व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका— में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की पालना की गई है। इस व्यवस्था का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अमेरिका है। अमेरिका मे राष्ट्रपति और मत्रिपरिषद

के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते हैं और न ही व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव पारित कर कार्यपालिका को भंग नहीं कर सकती है। राष्ट्रपति (कार्यपालिका) व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन को भंग भी नहीं कर सकता है। अमेरिका में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को मान्यता दी तो इसके साथ-साथ नियंत्रण और सन्तुलन की व्यवस्था को भी अपनाया। संयुक्त राज्य अमेरिका में सरकार के तीन अंग हैं और प्रत्येक अंग अपना-अपना कार्य स्वतंत्रापूर्वक करते हैं।

यहाँ सरकार का प्रत्येक अंग काफी हद तक अपने-अपने कार्य में स्वतंत्र है। फिर भी प्रत्येक अंग पर थोड़ा बहुत नियंत्रण भी आवश्यक है ताकि एक अंग भी अपने क्षेत्र में निरंकुश न हो जाय । सरकार के अंगों में सहयोग बना रहे। अमेरिका में व्यवस्थापिका (कांग्रेस) विधेयक पास करती है। परन्तु राष्ट्रपति को उस पर निषेधाधिकार शक्ति प्राप्त है। कांग्रेस उस निषेधाधिकार को 2/3 बहुमत से हटा सकती है। राष्ट्रपति को अनेक राजनीतिक नियुक्तियाँ करने का अधिकार है, परन्तु उन सबका अनुसमर्थन सीनेट (व्यवस्थापिका) से कराना होता है। राष्ट्रपति को कांग्रेस (व्यवस्थापिका) महाभियोग द्वारा हटा सकती है। राष्ट्रपति कांग्रेस (व्यवस्थापिका) को संदेश भेज सकता है। आवश्यकता होने पर व्यवस्थापिका का विशेष अधिवेशन भी बुला सकता है। सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। अमेरिका में सीनेट प्रशासन की जाँच के लिए समितियां का गठन करती है। ये समितियाँ कोई भी सूचना या प्रपत्र जाँच हेतु सरकार से प्राप्त कर सकती है। अमेरिका में सरकार के तीनों अंगों में पृथक्करण और निर्भरता दोनों का समावेश देखने को मिलता है।

स्पष्ट है कि संसदात्मक और अध्यक्षात्मक दोनों प्रकार की सरकारों में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच सम्बन्ध है। दोनों व्यवस्थाओं में सम्बन्धों के स्वरूप में अन्तर है। संसदात्मक शासन में पृथक्कता का पता लगाना कठिन था, परन्तु अध्यक्षात्मक शासन में दोनों अंगों की निरंकुशता को रोकने के लिए नियंत्रण और सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाकर परस्पर सम्बन्ध की निर्भरता का प्रयास किया गया है।

दोनों प्रकार की शासन व्यवस्था के सम्बन्धों में अन्तर निम्न प्रकार से जाना जा सकता है–

1 संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निकटतम सहयोग है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में निकटतम सहयोग का अभाव है।

2 संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में ऐसा नहीं है।

3 संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों में से चयनित होते हैं। अध्यक्षात्मक शासन में राष्ट्रपति और व्यवस्थापिका दोनों का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के सदस्य नियुक्त करता है। वह व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते हैं। यदि कोई व्यक्ति व्यवस्थापिका में

से कार्यपालिका के लिए चयनित कर लिया जाता है तो उसे दोनों में से एक ही स्थान का चयन करना होता है।

4 ससदात्मक शासन में मत्रिपरिषद् व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों तरह से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। मत्री को अपने मत्रालय से सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर व्यवस्थापिका में व्यक्तिगत रूप स देना पडता है। इसलिए वह व्यक्तिगत रूप से व्यवस्थापिका के प्रति जवाबदेह है। वही मत्री मत्रिपरिषद् का सदस्य होने के नाते सम्पूर्ण सरकारी कार्यवाही एव कुशलता के लिए भी जवाबदेह है। जब कोई मत्री व्यवस्थापिका में अपने मत्रालय के कार्य स व्यवस्थापिका के सदस्यो को सन्तुष्ट करने या जवाब देने की स्थिति में असमर्थ हो जाता है तो प्रधानमत्री सहित मत्रिपरिषद् के अन्य सदस्य उस मत्री की तरफ से अपने विचारों द्वारा व्यवस्थापिका के सदस्यों को सतुष्ट करने का प्रयास करने लगते हैं। यह उनकी सामूहिक उत्तरदायित्व की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। भारत और इग्लैण्ड में ऐसा ही होता है। अमेरिका में जहाँ अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था है मत्रिपरिषद् के सदस्य केवल व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति (कार्यपालिका) के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं।

5 ससदात्मक शासन व्यवस्था में दा प्रकार की कार्यपालिका होती है– एक नाममात्र की कार्यपालिका और दूसरी वास्तविक। भारत में राष्ट्रपति और इग्लैण्ड में साम्राज्ञी नाममात्र की कार्यपालिका हैं। दोनों देशों में प्रधानमत्री और मत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका हैं। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में एक ही कार्यपालिका होती है। जैसे– अमरिका मे राष्ट्रपति।

6 ससदात्मक शासन व्यवस्था में यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र कार्यपालिका को निषेधाधिकार प्राप्त हा। इग्लैण्ड म राजा को निषेधात्मक शक्ति प्राप्त नहीं है। भारत में राष्ट्रपति किसी विधेयक को पुनर्विचार हेतु ससद को लौटा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में (अमेरीका में) राष्ट्रपति को निषधात्मक शक्तियाँ प्राप्त हैं।

ससदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के अतिरिक्त स्विटजरलैण्ड जहाँ बहुल कार्यपालिका स्वीकार है कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों को स्वीकार किया गया है। वहा पर कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों में ससदात्मक और अध्यक्षात्मक– दोना व्यवस्थाओं की झलक दृष्टिगोचर होती है। पहले बहुल कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है जैसा ससदात्मक व्यवस्था में हाता है। दूसरे व्यवस्थापिका कार्यपालिका के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव नहीं पारित कर सकती है, जैसा अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में होता है। स्विटजरलैण्ड में एक ओर ससदात्मक शासन व्यवस्था के गुणो का और दूसरी ओर अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था की भाँति शक्ति पृथक्करण के गुणों का समावेश कर एक नवीन मिश्रित व्यवस्था तैयार की गयी है।

अधिनायकवादी देशा में भी कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच सम्बन्धों के प्रकार की व्यवस्थाएँ पृथक हैं।

आधुनिक युग म महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति समाजवाद और लोकतन्त्रात्मक राज्य का आन्दोलन है। प्रत्येक नागरिक चाहता ह कि राज्य उसक लिए अधिक स अधिक कार्य कर। अधिक स अधिक जन उपयाग कार्यक्रम बनाए और क्रियान्वित कर। बेरोजगारी आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता उच्च जीवन स्तर का अभाव प्रत्यक दश की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। इन समस्याओं क हल सभी दश अपन-अपन तरीक स निकालन म व्यस्त हैं। अत विश्व राष्ट्र लोककल्याणकारी राष्ट्र हैं। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए बड-बडे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और आर्थिक जीवन मे हस्तक्षप कर समाजवादी व्यवस्था अपनायी गयी है। आज सभी सरकार कृषि उद्योग व्यवसाय, नियोजन आदि कार्यों में जुटी हैं। राज्य क कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सभी वृहत् कार्यों का जिनका सम्बन्ध किसी भी क्षेत्र स क्यों न हो उन्हे क्रियान्वित करन का उत्तरदायित्व विशेषीकृत प्रवृत्ति क कारण कार्यपालिका का हो गया है। निस्सन्देह कार्यपालिका के कार्यों में निरन्तर वृद्धि के कारण कार्यपालिका की भूमिका दिन-प्रतिदिन अधिक महत्त्वपूर्ण एव लोकप्रिय होती जा रही है।

संदर्भ

1 हरमन फाइनर — दि थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ माडर्न गवर्नमेंट, पृ 575
2 गिलक्राइस्ट — प्रिन्सीपल्स ऑफ पालिटिकल साइन्स
3 गार्नर — पालिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेन्ट्स, पृ 517
4 लिप्सन — दि ग्रेट इश्यूज ऑफ पॉलिटिक्स, पृ 283
5 लास्की — ग्रामर ऑफ पालिटिक्स
6 स्टोरी — कमण्टरीज वाल्यूम–I
7 गेटल — हिस्टरी ऑफ पॉलिटिकल थॉट
8 ऑग — माडर्न गवर्नमेन्ट्स
9 जॉन स्टुअर्ट मिल — रिप्रजेण्टेटिव गवर्नमेन्ट

□□□

अध्याय–7

सरकार का संगठन : न्यायपालिका

सरकार की सगठनात्मक व्यवस्था के तीन अगों मे से न्यायपालिका एक विशेष अग है। पूर्व के अध्यायो मे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका अगों के वर्णन से स्पष्ट है कि व्यवस्थापिका जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति कानूनों के रूप में करती है। कार्यपालिका कानूनों के रूप मे अभिव्यक्त इच्छा को क्रियान्वित करने का कार्य करती है। इसी प्रकार न्यायपालिका सरकार का वह अग है जो आवश्यकता पडने पर कानूनों की व्याख्या करती है। यदि कोई व्यक्ति उसका उल्लघन करता है तो उसे उचित दड देता है। राज्य की जनता के व्यवस्थित जीवन के लिए न्यायपालिका का होना नितात आवश्यक है। कोई भी राज्य कितने ही अच्छे कानून निर्मित करे उन्हें कार्य रूप में परिणत करे जब तक एक पृथक स्वतत्र न्यायपालिका उस राज्य मे नहीं है तो उसका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता।

राजकीय कानूनो के सर्वत्र ठीक ढग से क्रियान्वित होने के कार्य पर निगरानी के लिए और उसके उल्लघन होने पर उचित दण्ड व्यवस्था के लिए एक स्वतन्त्र निष्पक्ष एव न्यायी सस्था का होना अति आवश्यक है। आज लोकतात्रिक व्यवस्था में न्यायपालिका का महत्त्व और बढ गया है। अब न्यायपालिका व्यक्तियों के पारस्परिक मुकदमों के साथ-साथ व्यक्ति और राज्य के मध्य केन्द्र और राज्यों के बीच विभिन्न राज्यों के मध्य उठ खडे हुए विवादो का निर्णय करती है। लार्ड ब्राइस का कथन है–"न्याय विभाग राज्य के लिए एक आवश्यकता ही नही है अपितु उसकी क्षमता से बढकर सरकार की उत्तमता की कोई कसौटी है।"

अध्ययनों से पता चलता है कि राज्य के विकास के साथ ही न्यायपालिका का प्रादुर्भाव हुआ है। राज्य सस्था के प्रादुर्भाव से पूर्व भी मनुष्य आपस मे झगडा करते थे जो उसका प्रकृति प्रदत्त स्वभाव ही है। उन झगडो का निपटारा भी वह स्वय ही किया करते थे। उनका न्याय का कानून जैसे को तैसा के सिद्धान्त पर आधारित था। यदि किसी ने मेरी एक ऑख फोडी है तो मुझे उसकी वही एक ऑख फोड देनी है। यदि किसी ने मेरे घर के किसी सदस्य या सम्बन्धी की हत्या कर दी है तो मुझे उसके घर के किसी सदस्य या सम्बन्धी के प्राण ले लेना चाहिए। उस युग का यही न्याय था, और वह जगली न्याय कहलाता था। राज्य के विकास के साथ व्यक्ति ने अपनी असीमित स्वतन्त्रता

उद्दण्डता और स्वेच्छाचारिता को मर्यादित करते हुए यह निश्चित किया कि वह अपने झगडों का फैसला स्वय के शक्ति प्रयोग द्वारा नही करगा। निर्णय का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंप देगा। यह सभी व्यक्ति कुछ निश्चित नियमों की स्थापना करेंगे। जो इन नियमों का उल्लघन करेगा उसे दण्ड दिया जायगा। इसी भावना ने संस्था को जन्म दिया। मॉण्टेग्यू का शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त जब तक स्थापित नहीं हुआ था। आज की भाँति व्यवस्थापिका और कार्यपालिका भी नही थी। सभी नियमो एव कानूनो का निर्माण प्रथा व परम्परा द्वारा किया जाता था। तब भी न्यायपालिका की आवश्यकता थी। न्यायपालिका के अभाव मे किसी राज्य संस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आज लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाएँ स्वतत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका के शक्तिशाली स्तम्भ पर ही स्थिर हे।

न्यायपालिका का अर्थ एव परिभाषा

शाब्दिक अर्थ मे न्यायपालिका कानूनो की व्याख्या करने वाली, कानूनों का उल्लघन होने पर दडित करने वाली संस्थागत व्यवस्था है। वाल्टन एच हैमिल्टन ने न्यायपालिका की परिभाषा मे कहा है कि–"न्यायिक प्रक्रिया न्यायाधीशों के द्वारा विवादों का निर्णय करने की मानसिक प्रविधि कही जाती है।" लास्की ने लिखा है–"एक राज्य की न्यायपालिका अधिकारियो के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिसका कार्य किसी कानून के उल्लघन की शिकायत का समाधान व फैसला करना है।"

सक्षेप मे, न्यायपालिका सरकार का वह अग है जो विधियो की व्याख्या करती है तथा उसका उल्लघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। यह व्यक्तिगत कानूनी लड़ाई के लिए की गई व्यवस्था के अन्तर्गत जाँच करने का तरीका है। यह समाज में प्रचलित विधियों को लेकर उठने वाले झगडों का समाधान करने का संस्थागत यत्र है।

न्यायपालिका का महत्त्व

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही न्यायपालिक की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। यहाँ तक कि राज्य का अस्तित्व भी न्यायपालिका पर निर्भर है। आधुनिक युग में प्रत्येक लोकतान्त्रिक देश मे न्यायपालिका की स्थापना आवश्यक समझी जाती है, ताकि लोगो के मौलिक अधिकार सुरक्षित रहें। यही कारण है कि लोकतान्त्रिक देशों में न्यायपालिका को लोगो की स्वतत्रता और संविधान की संरक्षक समझा जाता है। जिन देशों में लोकतत्र की स्थापना नहीं हुई है, वहा न्यायपालिका स्वतत्र नहीं है, और लोगों के मौलिक अधिकर सुरक्षित नहीं है। पाकिस्तान, स्पेन, पुर्तगाल, रूस, चीन तथा कई अन्य साम्यवादी देशों में यही स्थिति है। इसलिये लोगों की स्वतत्रता और सुरक्षा के लिए स्वतत्र न्यायपालिका की आवश्यकता है।

न्यायपालिका के महत्त्व को सभी विचारकों ने स्वीकार किया है। डा गार्नर ने न्यायपालिका का महत्त्व स्वीकार करते हुये लिखा है "कोई राज्य बिना विधानमण्डल रह सकता है ऐसी कल्पना की जा सकती है, किन्तु न्यायपालिका के बिना किसी सभ्य राज्य

की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।" लास्की ने लिखा है– "जब हम जानते हैं कि राष्ट्र या राज्य अपने यहाँ किस प्रकार न्याय करता है तब पता चलता है कि उसका नैतिक चरित्र किस स्तर का है।" मैरिट न्यायपालिका के महत्त्व का वर्णन करते हैं– 'किसी राज्य की श्रेष्ठता को न्यायपालिका द्वारा परखा जा सकता है। यदि नागरिको को न्याय शीघ्र पक्षपात रहित और समय पर नहीं मिलता है न्याय की सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं है तो उसका नागरिकों की सुरक्षा और हितों पर प्रभाव अवश्य पडता है। नागरिकों का जीवन दुखद बन जाता है।'

लार्ड ब्राइस ने न्यायपालिक के महत्त्व को बताया है."किसी शासन की श्रेष्ठता जॉचने के लिए उसकी न्याय व्यवस्था की निपुणता से बढकर और कोई अच्छी कसौटी नही हैं क्योकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नही पडता है जितना उसके इस ज्ञान से कि वह निश्चित शीघ्र तथा अपक्षपाती न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।" ब्राइस ने आगे लिखा है, "कानून का सम्मान तभी होता है जब वह दोष रहित व्यक्तियो की ढाल बन जाता है, और प्रत्येक नागरिक के निजी अधिकार का निष्पक्ष सरक्षक बन जाता है यदि कानून बेइमानी से लागू किया जाए, तो नमक का सब स्वाद जाता रहेगा। यदि वह दुर्बलता से लागू किया जाए, तो आजादी की निश्चितता नष्ट हो जायेगी क्योंकि दण्ड की कठोरता की अपेक्षा दण्ड की निश्चितता से अपराधी अधिक दबते है। यदि अंधेरे में न्याय का दीपक बुझ जाए तो वह अंधेरा कितना होगा, इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती है।"

निसन्देह, न्यायपालिका की बहुत आवश्यकता है। न्यायपालिका के अभाव मे चोरों, डाकुओं तथा अन्य शक्तिशाली व्यक्तियों का सर्वत्र साम्राज्य हो जायेगा। सज्जनों और निर्बल व्यक्तियों की सम्पत्ति पर कब्जा हो जायेगा, समाज में सर्वत्र अन्याय फैल जायेगा। जनजीवन असुरक्षित हो जायेगा। न्यायपालिका मौलिक अधिकारो की रक्षा करती है। सविधान की सरक्षक होने के साथ-साथ समाज को सुरक्षा भी प्रदान करती है। जब किसी गलत कार्य के लिए न्यायपालिका दण्ड देती है तो दूसरे व्यक्ति उस दण्ड को देखते हुए अपराध नहीं करते हैं। समाज में न्यायपालिका का होना आवश्यक है ताकि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को तग न करे और प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का निर्धारित सीमाओं में ही प्रयोग कर सकें। अत न्यायपालिका का महत्त्व सरकार के अगो में सर्वोपरि है।

न्यायपालिका के कार्य

आज न्यायपालिका एक महत्त्वपूर्ण सरथा है। लोकतान्त्रिक राज्यों में कानूनों का पर्याप्त विकसित रूप मिलता है। इस कारण उन्हे प्रयुक्त करने व उनके अनुसार निर्णय करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए न्यायपालिका को निम्नलिखित कार्य करने होते हैं–

1 **कानूनों की व्याख्या**–अनेक विषय ऐसे होते है जिनमें कानून अस्पष्ट होता है। स्पष्टीकरण न्यायपालिका के सम्मुख पेश होते हैं। कई बार ऐसे विवाद भी न्यायालय

म प्रस्तुत होते है जिनके बारे म कानून मौन होता है। ऐसे विवादो म न्यायाधीश अपना निर्णय देते हैं। आगे चल कर इन्ही निर्णयो का सदर्भ इसी प्रकार के विवादो म दिया जा सकता है। न्यायपालिका अपने निर्णय के माध्यम से कानूनो की व्याख्या करती है।

2 नागरिक अधिकारों की रक्षा–राज्य अपने नागरिको को अधिकार प्रदान करता है। यह अधिकार राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा कानून बना कर नागरिकों को प्रदान किए जाते हैं। उदाहरणार्थ विवाह का अधिकार किसी से समझौता करने का अधिकार आदि। इन अधिकारो का उपयोग करने के मार्ग म कोई बाधा उत्पन्न करता है तो उसकी अभिरक्षा का कार्य न्यायपालिका का है।

3 मौलिक अधिकारों की अभिरक्षा–आजकल अनेक देशों म नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। इन मौलिक अधिकारो का उल्लेख देश के संविधान मे कर दिया जाता है। देश का सर्वोच्च न्यायालय इन अधिकारों की रक्षा करता है। भारतवर्ष मे अनेक मौलिक अधिकार नागरिको को प्राप्त हैं। यदि कोई व्यक्ति या सरकार किसी व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है तो वह उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में मौलिक अधिकारो की रक्षार्थ याचिका प्रस्तुत कर सकता है। भारत का संविधान उक्त दोनो न्यायालयो को मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित याचिका की सुनवाई का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्रदान करता है। भारत के न्यायालयों ने अनेक ऐसे मामलों का निर्णय किया है जिसमें मौलिक अधिकारों उल्लघन था।

4 झगड़ों का निर्णय करना–नागरिकों मे पारस्परिक स्तर पर कई प्रकार के चोरी, डकैती या रुपये पैसे से सम्बन्धित विवाद, मार-पीट, कत्ल आदि से सम्बन्धित झगडे होते हैं। प्रथम प्रकार के विवादो का निर्णय दीवानी न्यायालय द्वारा और दूसरे प्रकार के विवादों का निपटारा फौजदारी न्यायालय द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त नागरिक और सरकार या सरकार और नागरिक के मध्य विवाद उत्पन्न होता है तो उसका निर्णय भी न्यायालय ही करते हैं। न्यायपालिका का यह मौलिक उत्तरदायित्व है कि वह कानून का उल्लघन करने वाले लोगो को दड दे।

5. संविधान की संरक्षक–सभी लोकतान्त्रिक देशों म संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून यदि संविधान का उल्लघन करता है, तो उसे रद्द माना जाता है। संविधान की रक्षा करना न्यायपालिका का उत्तरदायित्व है। अमेरिका मे सन् 1803 ई म मुख्य न्यायाधीश ने 'मार्बरी बनाम मेडिसन' केस में यह निर्णय दिया था कि सुप्रीम कोर्ट को अधिकार है कि वह देख सके कि काग्रेस (व्यवस्थापिका) द्वारा पास किया हुआ कानून संविधान के अनुसार है। मुख्य न्यायाधीश मार्शल के इस निर्णय सिद्धान्त को न्यायिक पुनर्रीक्षण का सिद्धान्त कहा जाता है। अमरिका तथा भारत मे संविधान की रक्षार्थ कई कानूनो को असवैधानिक घोषित किया जा चुका है, क्योंकि वे संविधान का उल्लघन करते थे।

6 सघात्मक शासन व्यवस्था की रक्षा–सघात्मक राज्य किसी सन्धि या समझौते का परिणाम है। समझौते की शर्तों का लिखित होना आवश्यक है। अत सघात्मक राज्यों मे केन्द्र और उसकी इकाइयो के मध्य कार्य विभाजन सविधान म वर्णित होता है। इसी प्रकार सघ की एक इकाई का दूसरी इकाई के साथ केन्द्र और राज्य के बीच आपसी सम्बन्धों या सघात्मक राज्यों मे क्षेत्राधिकार के प्रश्न पर विवाद उत्पन्न होने पर न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) द्वारा निर्णय किया जाता है। इस दशा में न्यायपालिका सविधान की सघात्मक व्यवस्था की रक्षा करती है।

7 परामर्श सम्बन्धी–अनेक राज्यो मे न्यायपालिका कानूनी प्रश्नो पर परामर्श देने का कार्य करती है। राज्यों की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका न्यायपालिका से कानूनी प्रश्ना पर परामर्श मागती है। उदाहरणार्थ इग्लैंड में प्रीवी कौसिल की जुडीशियल कमेटी से सरकार प्राय वैधानिक एव कानूनी समस्याओ पर परामर्श लेती है तथा व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन अर्थात् हाउस ऑफ लार्ड्स जब अपील पर सर्वोच्च न्यायालय का काम करता हे तो सदा ही न्यायाधीशो स परामर्श लेता है। भारत के सविधान में सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि यदि राष्ट्रपति किसी वैधानिक विषय में परामर्श मागे तो वह परामर्श दे सकती है।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने केरल शिक्षा विधेयक के बारे मे सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मागा थी। सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श था कि इस विधेयक की कुछ धाराएँ असवैधानिक हैं। सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श पर राष्ट्रपति ने विधेयक पर स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया और अपने विरोध सहित विधेयक राज्य सरकार को लौटा दिया। केरल सरकार ने विधेयक की आपत्तियो को जब दूर कर दिया तो राष्ट्रपति ने उसे स्वीकृति प्रदान कर दी। कनाडा में भी सर्वोच्च न्यायालय कानूनी मामलों में गवर्नर को परामर्श देने का कार्य करता है। इसी प्रकार की व्यवस्था अन्य कई राज्यो–आस्ट्रिया स्वीडन पनामा तथा बल्गेरिया मे भी है।

8 प्रशासनिक कार्य–न्यायपालिका प्रशासनिक कार्यो के अन्तर्गत न्यायालयों म कर्मचारियो की नियुक्ति करती है अपने अधीन न्यायालया को निर्देश जारी करती है। न्यायालय सम्बन्धी कार्य प्रक्रिया का निर्धारण करती है। न्यायपालिका अपने विभागीय नियम बनाती हैं। भारत में मुख्य न्यायाधीश अथवा उसके द्वारा निर्देशित न्यायाधीश अपने अधिकारियो और सेवको की नियुक्ति करते हैं।

9 विविध कार्य–न्यायालय नाबालिगों या अल्पवयस्कों की सम्पत्ति के सरक्षक या ट्रस्टी की नियुक्ति करता है। यह नागरिक विवाहो को स्वीकृति देता है। निर्वाचन सम्बन्धी मुकदमो की सुनवाई करता है। भारत में प्रावधान है कि निर्वाचन सम्बन्धी प्रारम्भिक अर्जी उच्च न्यायलय को दी जाये वसीयतनामो तथा इच्छा-पत्रों की रजिस्ट्री न्यायालय द्वारा होती है। ऐसे मृत व्यक्तियो की सम्पत्ति का प्रबन्ध करते हैं जिनका कोई उत्तराधिकारी न हो। जो कम्पनियॉ अपने आर्थिक उत्तरदायित्व पूरा करने में असमर्थ हैं

उनके लिए न्यायपालिका रिसीवर (सम्प्रापक) नियुक्त करती है। विदेशियो को राष्ट्रीकृत नागरिक बनाने के लिए न्यायालय प्रमाण-पत्र देती है। कई देशो मे न्यायपालिका लाइसेंस भी जारी करती है। रूस तथा अन्य समाजवादी देशो मे न्यायालय का कार्य समाजवादी क्रान्ति को दृढ करना है। न्यायपालिका विदेशी अपराधियो के प्रत्यर्पण सम्बन्धी निर्णय भी करती है।

10 **न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति**–जिस शक्ति द्वारा न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनो और कार्यपालिका द्वारा सम्पादित कार्यों पर सवैधानिक दृष्टि से पुन विचार करती है उन्हें वैध या अवैध घोषित करती है उसे न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति कहते हैं। प्रसिद्ध विद्वान कारविन ने न्यायिक पुनरावलोकन की परिभाषा लिखी है- "न्यायिक पुनरावलोकन से तात्पर्य न्यायालय की उस शक्ति से है जो उन्हे अपने न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनो की वैधानिकता का निर्णय देने तथा कानूनो को लागू करने के सम्बन्ध मे प्राप्त है जिन्हे वह अवैध या व्यर्थ समझे।" एम वी पायली ने न्यायिक पुनरावलोकन की परिभाषा इस प्रकार की है–"न्यायालय की वह क्षमता है, जिससे व्यवस्थापन कार्यों की वैधानिकता की जाँच होती है।"

न्यायिक पुनरावलोकन की उत्पत्ति

न्यायिक पुनरावलोकन का इतिहास लगभग 200 वर्ष पुराना है। सामान्यत न्यायिक पुनरावलोकन की उत्पत्ति सयुक्त राज्य अमेरिका की शासन प्रणाली मे ही दिखाई पडती है। पिनॉक तथा स्मिथ ने न्यायिक पुनरावलोकन की उत्पत्ति ब्रिटेन से मानी है। कालान्तर मे भारत जापान आदि देशो की शासन प्रणालियो मे यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया। सन् 1803 में अमेरिका के भूतपूर्व न्यायाधीश मार्शल ने "मार्वरी बनाम मेडिसन" नामक विख्यात मामले का निर्णय करते हुए न्यायिक पुनरावलोकन सिद्धान्त प्रतिपादित किया था तथा यह निर्णय दिया कि लिखित, अचल और सर्वोच्च सविधान की अवधारणा तब तक व्यावहारिक नही बन सकती है, जब तक न्यायालयो को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के कार्यों की इस दृष्टि से जाँच करने का अधिकार न हो कि कार्य सविधान के अनुकूल है अथवा नही। सभी राज्यो की शासन व्यवस्थाओ मे न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति सविधान द्वारा न्यायपालिका को प्रदान नही की गई है वरन् न्यायालयो ने अनौपचारिक रूप से इसे हस्तगत किया है। धीरे-धीरे यह परम्परा-सी बन गई और न्यायालय व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के कार्यों की वैधानिकता सिद्ध करने लगे।

न्यायाधीश मार्शल ने सर्वोच्च न्यायालय के कानूनो की वैधता जाँचने की शक्ति निम्नलिखित तथ्यो पर आधारित बतायी है–

1 सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार सीमित और सवैधानिक शक्तियों की सरकार है।
2 लिखित और अचल सविधान सरकार की शक्तियो को सीमित करने का आधार प्रस्तुत करता है।

3 सवैधानिक कानून साधारण कानून से सर्वोच्च है।
4 सवैधानिक कानून के प्रतिकूल बना हुआ साधारण कानून वैध नही है।
5 सविधान के प्रतिकूल कानूनों को लागू करने से रोकने का न्यायालय अधिकार रखता है।

उक्त निर्णय के पश्चात् विश्व के अन्य लिखित सविधान वाले देशों ने न्यायिक पुनरावलोकन स्वीकार किया। न्यायिक पुनरावलोकन के लिये देश में लिखित और अचल सविधान तथा सर्वोच्च और स्वतत्र न्यायपालिका का होना आवश्यक शर्त है। रूस की शासन व्यवस्था में यह सब विद्यमान है– लिखित और अचल सविधान है सर्वोच्च और स्वतत्र न्यायपालिका है परन्तु वहाँ न्यायिक पुनरावलोकन सिद्धान्त लागू नहीं है।

न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति, न्यायालय को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की निरकुशता को रोकने नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने में सहायक है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के निरकुश बनने के अवसर अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था की अपेक्षा ससदात्मक शासन व्यवस्था में अधिक है क्योंकि वहाँ व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में एक ही राजनीतिक दल होता है।

भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन

भारत के सविधान में न्यायिक पुनरावलोकन सिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया गया है। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की सभी आवश्यक शर्ते विद्यमान हैं– लिखित और अचल सविधान सीमित अर्थों में सर्वोच्च और स्वतत्र न्यायपालिका। भारतीय सविधान मे सविधान की सर्वोच्चता का कही वर्णन नहीं किया गया है। सघात्मक राज्य मे केन्द्र और राज्य सरकारो की शक्तियों का सविधान है।

(1) सविधान में स्पष्ट रूप से लिखा है– "राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनाएगा जो सविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों को छीनता या कम करता हो और इन अधिकारों के उल्लघन मे बना प्रत्येक कानून उल्लघन की मात्रा शून्य होगी।" सविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारो को सरक्षण प्रदान किया गया है। आगे चलकर सविधान में यह भी वर्णन किया गया है कि – "न्यायालय को मौलिक अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए किसी आदेश, निर्देश या लेख जो भी उचित हो निकालने की शक्ति होगी।" उच्चतम न्यायालय की भाँति सविधान द्वारा उक्त अधिकार राज्यों में उच्च न्यायालय को प्रदान किए गए हैं। इस अधिकार शक्ति से उच्च न्यायालय अपने राज्य क्षेत्र मे किसी प्रकार का आदेश निर्देश या लेख जारी कर सकता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय सविधान ने न्यायपालिका को नागरिकों के मौलिक अधिकारों का सरक्षण प्रदान किया है। अगर केन्द्र या राज्य सरकारों द्वारा कोई ऐसा कानून पारित होता है जिससे नागरिको के मौलिक अधिकारों का हनन होता है या उसमें कोई कमी आती है तो सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए उस कानून को असवैधानिक घोषित कर सकता है।

(2) भारत में केन्द्र मे ससद और राज्यो मे विधानसभाएँ कानून निर्मात्री संस्थाएँ हैं। यहाँ कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया लागू की गयी है। संसद/विधानसभा द्वारा निर्मित कानून उचित हैं या अनुचित इस ओर कोई ध्यान नही दिया जाता है। अत न्यायालय भी उचित-अनुचित के फेर मे न पडकर केवल निर्मित कानून सविधान के उपबन्धो के अन्तर्गत है या नही का स्पष्टीकरण करते हैं। न्यायालय का यह अधिकार उसे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से सर्वोपरि बनाता है। न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग न्यायालय द्वारा कई निर्णयो मे किया गया है। ससद या विधानसभा और कार्यपालिका के कार्यों एव विधियो को जो कि सविधान के उपबन्धो के विरुद्ध थे असवैधानिक घोषित किया।

(3) सविधान मे सघ और राज्यो के बीच विधि निर्माण सम्बन्धी विषयो का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ऐसे किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है जिसमे केन्द्र तथा राज्य ने अपने क्षेत्राधिकारो को पार कर कानून बनाया हो। यदि कोई राज्य राज्य सूची के विषय से बाहर केन्द्र सूची के विषय पर कानून बनाता है तो उसे अपने क्षेत्राधिकार को तोड़ना समझा जाता है।

(4) सविधान मे सशोधन का अधिकार केन्द्रीय ससद को प्रदान किया है, साथ ही राज्य सरकारो की निश्चित भूमिका का वर्णन भी किया गया है। अगर सशोधन सविधान मे वर्णित प्रक्रियानुसार नही पारित किया गया है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।

भारतीय न्यायिक पुनरावलोकन के सिद्धान्त के बारे मे विचारको ने अलग-अलग विचार व्यक्त किए हैं। एम.वी.पायली के अनुसार– "भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं है, जितना की सयुक्त राज्य अमेरिका में। जहाँ तक न्यायिक पुनरावलोकन का प्रश्न है भारत के दो छोरों (extremes) के बीच, ब्रिटेन की ससदीय सर्वोच्चता और अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता की स्थिति है।' न्यायमूर्ति मुखर्जी के अनुसार– भारत में ससदीय प्रभुता के स्थान पर सवैधानिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। इस दृष्टि से भारतीय सविधान अग्रेजी सविधान की बजाय अमेरिकी सविधान से मिलता-जुलता है। शासन के समस्त उपकरण सविधान के अधीन हैं और न्यायालय को उनके कार्यो की वैधता की जाँच करने की शक्ति प्राप्त है।

भारत में न्यायालय ने न्यायिक पुनरावलोकन अधिकार का प्रयोग करते हुए कई निर्णय दिए हैं। जिनमे प्रमुख हैं–

1 इब्राहिम वजीर बनाम बम्बई (वर्तमान मुम्बई) राज्य के मुकदमे मे पाकिस्तानी शरणार्थियों के निवास से सम्बन्धित थे। पाकिस्तानी शरणार्थियों के आगमन पर नियत्रण लगाने के लिए 1949 मे जो कानून बना था उसके खण्ड 7 में उनके भारत के किसी भी भाग में निवास के अधिकार पर प्रतिबन्ध का उल्लेख किया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने इस कानून को अवैध घोषित किया था।

2 बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया गया। सर्वोच्च न्यायालय का कथन था कि इसमें निहित क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त अप्रासंगिक हैं।

3 प्रिवीपर्स सम्बन्धी मुकदमे मे राजाओ के प्रिवीपर्स तथा विशेषाधिकारो को राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा समाप्ति को सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध करार दिया। बैंक राष्ट्रीयकरण और प्रिवीपर्स सम्बन्धी मामलो में न्यायपालिका की न्यायिक निरीक्षण शक्ति की तुलना अमेरिका के उच्चतम न्यायालय से की जाने लगी थी। भारत मे न्यायपालिका असीमित शक्तियों का प्रयोग करने लगी है। न्यायपालिका को असीमित शक्तियों के प्रयोग से बचाने के लिए भारतीय सविधान मे 42वा सशोधन कर न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार को सीमित किया गया।

4 गोकुलनाथ बनाम पजाब राज्य मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णयों को बदलते हुए मौलिक अधिकारों को अक्षुण्ण घोषित किया।

5 गोपालन बनाम मद्रास (वर्तमान चैन्नई) राज्य के मुकदमे में न्यायालय द्वारा "निवारक निरोध अधिनियम" के 14 वें खण्ड को ही केवल असवैधानिक घोषित किया गया। डी डी बसु के अनुसार न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से हमारे सविधान का आधारभूत सिद्धान्त है। यह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोपालन के प्रकरण मे स्वीकार किया गया है।

6 अप्रेल 1973 मे शासन की अखबारी कागज सम्बन्धी नीति के सिलसिले मे समाचार पत्रों के लिए 10 पृष्ठों की सीमा बाधने की नीति को न्यायालय ने अवैध घोषित किया।

7 1973 में ही केशवानन्द भारती की याचिका पर विचार करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने पच्चीसवें सविधान सशोधन की धारा 3 का दूसरा खण्ड अर्थात् सविधान के अनुच्छेद 31 (स) को अवैध घोषित किया। न्यायालय ने अपने फैसले में स्पष्ट किया कि ससद मूल अधिकारो में सशोधन कर सकती है। यदि किसी सशोधन द्वारा सविधान के बुनियादी ढाँचों पर प्रभाव पड़ता है तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे सशोधन को अवैध घोषित कर सकती है।

उक्त उदाहरणो से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि भारत मे न्यायपालिका अपने न्यायिक पुनरावलोकन अधिकार का प्रयोग कर किसी कानून की उस धारा या उपधारा को रद्द करती है जो सविधान के प्रतिकूल है। इसके विपरीत अमेरिका मे न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार के अन्तर्गत किसी अधिनियम की किसी एक धारा या उपधारा के सविधान के प्रतिकूल होने पर सारा का सारा अधिनियम ही रद्द कर दिया जाता है।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय (उच्चतम न्यायालय) को अपने ही निर्णयो का पुनरावलोकन कर निर्णय की पुष्टि निर्णय रद्द करने या निर्णय मे सशोधन करने का अधिकार प्राप्त है। जैसाकि पहले गोकुलनाथ बनाम पजाब राज्य और बाद मे केशवानन्द भारती के मुकदमे मे किया गया ।

भारत में सीमित न्यायिक पुनरावलोकन

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में सीमित न्यायिक पुनरावलोकन को स्वीकार किया गया है। न्यायाधीश एस.आर दास के अनुसार– न्यायालय अपनी शपथ के अनुसार संविधान का समर्थन करता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि सर्वोच्च न्यायालय के पास अमेरीका की भाँति न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति है। भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार विद्यमान है।

भारत में सीमित न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति स्वीकार करने के पीछे निम्नलिखित कारण हैं –

1 भारत एक संघात्मक राज्य है। केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकारों का स्पष्ट विभाजन किया गया है। यह विभाजन केन्द्रीय सूची राज्य सूची और समवर्ती सूची में विस्तार से वर्णित है।

2 केन्द्र में संसद और राज्यो में विधानसभाएँ संविधान के स्वरूप का निर्धारण करती हैं। संविधान में संसदीय सम्प्रभुता को स्वीकार किया गया है। अत संसद संविधान में संशोधन करके सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को बदल सकती है।

3 सर्वोच्च न्यायालय प्राकृतिक विधि का प्रयोग कर निर्णय करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय को निर्णय भी संविधान में वर्णित अनुच्छेदो के अनुसार ही करना है, या यह भी कह सकते हैं कि कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया का उपयोग करते हुए सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक शक्ति का प्रयोग करता है।

न्यायिक पुनरावलोकन की विशेषता

भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति में व्याप्त मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखत हैं –

1 भारत में न्यायालय की सर्वोच्चता के स्थान पर संविधान की सर्वोच्चता स्वीकार की गयी है।
2 भारत में न्यायालय के निर्णयों का सम्मान करते हुए सदैव शासन द्वारा उनका क्रियान्वयन किया गया है, चाहे वह उसके द्वारा घोषित नीतियो के विरुद्ध ही हों।
3 भारत में न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति का प्रयोग करते समय काफी विचार-विमर्श किया जाता है।
4 न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की व्याख्या करते समय उदारता का परिचय दिया जाता है। ऐसा करने से व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के बीच उत्पन्न होने वाली संघर्ष की स्थिति टालने में सहायता मिलती है।
5 न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के प्रयोग के परिणामस्वरूप भारतीय संविधान में कई संशोधन करने पड़े।

उक्त विशेषताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारत में सर्वोच्च न्यायालय इस अधिकार का दुरुपयोग नहीं कर सकते हैं। परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति के कारण न्यायपालिका व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से सर्वोच्च है। न्यायिक पुनरावलोकन द्वारा वह सरकार के कानूनों आदेशों और कार्यों की समीक्षा और उनकी सवैधानिकता स्थापित करती है। सरकार के कार्य सविधान के अनुसार है या नहीं यह निर्णय भी न्यायालय द्वारा ही किया जाता है।

न्यायपालिका की स्वतत्रता

न्यायपालिका सरकार का तीसरा महत्त्वपूर्ण अग है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यह व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से सर्वोच्च है। यह दोनों अगों के कार्यों के सदर्भ में अपना निर्णय देती है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति व्यक्ति समूह के विवादों का भी निपटारा करती है। विवादों को निपटाते समय अगर न्यायपालिका की भूमिका निष्पक्ष है, तो उसका सर्वत्र सम्मान होगा तथा उसकी सर्वोच्चता भी बनी रहेगी। अत निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना के लिए उसका स्वतत्र होना आवश्यक है। स्वतत्र न्यायपालिका के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा है कि –"सभी मामलों में चाहे वे व्यक्ति तथा राज्य के बीच हों चाहे अल्पसख्यक वर्ग और बहुमत के बीच हों चाहे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से शक्तिशाली और निर्बल के बीच हों न्यायपालिका को निष्पक्ष रहना चाहिए बिना किसी भय या पक्ष के निर्णय देना चाहिए।"

न्यायपालिका की स्वतत्रता को स्वीकार करते हुए डा गार्नर ने लिखा है कि "यदि न्यायाधीशो में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतत्रता न हो, तो न्यायपालिका का यह सारा ढाँचा खोखला प्रतीत होगा और ऊँचे उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।" न्यायपालिका की स्वतत्रता रहने पर ही न्यायाधीश निर्भीकतापूर्वक निर्णय कर सकते हैं। न्यायपालिका की स्वतत्रता स्थापित करने के लिए कुछ विशेष प्रयासों की आवश्यकता होती है। इन विशेष प्रयासों को विभिन्न देशों में न्यायपालिका की स्वतत्रता की आवश्यक शर्ते मानते हुए निम्नलिखित शीर्षकों में बाटा गया है –

1 **न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार** –निष्पक्ष न्याय एक उत्तरदायीपूर्ण कार्य है। इस कार्य को करने वाले व्यक्ति को कानून का ज्ञाता होने के साथ-साथ ईमानदार भी होना चाहिए ताकि वह प्रलोभन में आकर बेईमान न हो जाए तथा रिश्वत आदि लेकर निर्णय न करने लगे। आचार्य चाणक्य ने राज्य में अमात्यों की नियुक्ति के लिए यह व्यवस्था की थी कि कई प्रकार की परखों से परख कर उन्हें नियुक्ति दी जानी चाहिए। न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए उन्होंने धर्मोपधा का प्रयोग करने को कहा जिसके अतर्गत जो व्यक्ति धर्मोपधाशुद्ध हो पूर्णतया धार्मिक हो उसे ही न्यायाधीश नियुक्त किया जाना चाहिए।

अलग-अलग राज्यो मे न्यायाधीशो की नियुक्ति के अलग-अलग तरीके प्रचलित हैं। इन्हे मुख्यत तीन भागो मे बाटा जा सकता है–

(क) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन करना

(ख) जनता द्वारा निर्वाचन करना और

(ग) कार्यपालिका द्वारा मनोनीत करना।

(क) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन करना –कुछ राज्यों मे न्यायाधीशो की नियुक्ति व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन से की जाती है। अमेरिका मे राज्यक्रान्ति के बाद यही तरीका प्रचलित था। उस समय के राजनीतिज्ञ इस तरीके को बहुत पसन्द करते थे। धीरे-धीरे अमेरिका मे इस तरीके को त्याग दिया गया। अब केवल सयुक्त राज्य के अन्तर्गत चार राज्य अमेरिका और स्विट्जरलैंड मे न्यायाधीशो की नियुक्ति व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन से होती है। इस तरीके में प्रमुख दोष है व्यवस्थापिका मे जिस दल का बहुमत होता है। वह अपने दल के व्यक्तियो को ही न्यायाधीश नियुक्त करने का प्रयास करता है। न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय उसके कानूनी ज्ञान निष्पक्ष वृति या अन्य व्यक्तिगत गुणो पर ध्यान नही दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे स्वतत्र न्यायपालिका की कल्पना ही नहीं की जा सकती। न्यायाधीश राजनीतिक दल के नेताओ के कृपा पात्र होने के कारण निष्पक्ष न्याय करने में असमर्थ होते है और वह उस दल के क्रियाशील कार्यकर्त्ता बन जाते हैं।

(ख) जनता द्वारा निर्वाचन करना–न्यायाधीशो की नियुक्ति सर्वप्रथम फ्रास मे 1711 में निर्वाचकों के वोटो द्वारा की गई थी। शीघ्र ही इस व्यवस्था द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति के बुरे परिणाम सामने आने लगे। नैपोलियन ने इस प्रथा को फ्रास में बद कर दिया। अब सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यो मे न्यायाधीशो की नियुक्ति के लिए यह तरीका अपनाया गया है। अन्यत्र कहीं नहीं , क्योकि यह व्यवस्था व्यवहारिक नही थी। न्यायाधीश जनता का वोट प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार के उपायो की आवश्यकता होती है उनका प्रयोग करने मे सक्षम न थे। नियुक्ति के पश्चात् नियुक्तिकर्त्ता के प्रति न्यायाधीश का झुकाव होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। दूसरी ओर जनता को न्यायाधीशों की कानूनी योग्यता का ज्ञान नहीं रहता। लॉस्की ने लिखा है, "नियुक्ति के सब तरीको मे जनता द्वारा निर्वाचन का तरीका सबसे अधिक दोष पूर्ण है।" प्रोफेसर गार्नर ने भी कहा है कि "चुनावो से न्यायाधीशो का चारित्रिक पतन होता है। चुनाव न्यायाधीश को राजनीतिक नेता बना देते है और न्यायिक मन पर इतना बोझ डाल देते है कि वह सदैव इसे सहन नहीं कर सकता है।" फलत स्वतत्र न्यायपालिका का गठन नही हो सकता है।

(ग) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति–सयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्जरलैंड को छोडकर विश्व के सभी राष्ट्रों में बडे न्यायालय म न्यायाधीशो की नियुक्ति राज्याध्यक्ष द्वारा की जाती है। न्यायाधीशो की नियुक्ति के लिए निश्चित कानूनी परीक्षा का उत्तीर्ण करना

और विशेष योग्यतापूर्ण होना अनिवार्य माना जाता है। भारत में न्यायाधीशो की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है। इस प्रकार की नियुक्ति के विरोध मे कहा जाता है कि नियुक्त न्यायाधीश शासक दल का अनुगामी हो जाता है। वह स्वतत्र और निष्पक्ष न्याय नहीं कर सकता है। किन्तु अनुभव से पता चलता है कि एक बार नियुक्त होने पर न्यायाधीश पर्याप्त निष्पक्षता के साथ तथा कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त रहकर अपना दायित्व निभाता है।

प्रो लास्की ने न्यायाधीशो की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा करने के सदर्भ मे एक सुझाव दिया था कि –"न्यायाधीशो की नियुक्ति में राज्याध्यक्ष को उस समय कार्यरत न्यायाधीश की सिफारिश का ही प्रमुख आधार बनाना चाहिए।" यह सही भी है। इस सुझाव पर विचार करते हुए मुख्य न्यायाधीश से भावी न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय राज्याध्यक्ष को परामर्श लेना चाहिए। ऐसा करके न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रक्रिया को निष्पक्ष बनाया जा सकता है। यही कारण है कि कुछ राज्यो मे यह प्रथा है कि जब न्यायाधीश का कोई पद खाली होता है तो अन्य न्यायाधीश रिक्त पद के लिए उपयुक्त व्यक्तियो की एक सूची तैयार करते हैं और राष्ट्रपति या न्यायमत्री इस सूची मे से किसी एक व्यक्ति को उस पद के लिए मनोनीत कर सकता है। न्यायाधीशो की नियुक्ति से सम्बन्धित विविध प्रथाओ में से यही सबसे अधिक उपयुक्त है।

2 न्यायाधीशों का कार्यकाल–उच्च न्यायालयो मे न्यायाधीशो के कार्यकाल के सम्बन्ध मे दो व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं –

(अ) किसी निश्चित अवधि के लिये न्यायाधीशो की नियुक्ति,

(ब) न्यायाधीश तब तक पदासीन रहते हैं जब तक वह अपने कार्य को ठीक तरह से करते रहते हैं।

सयुक्त राज्य अमेरिका में तीन राज्यो को छोडकर शेष सभी राज्यों मे न्यायाधीश किसी निश्चित अवधि के लिए नियुक्त किए जाते हैं। यह अवधि दो वर्ष से 21 वर्ष तक की होती है। अमेरिका मे न्यायाधीशो का कार्यकाल औसतन छ वर्ष से नौ वर्ष तक होता है। स्विटजरलैंड और मैक्सिको में न्यायाधीशो का कार्यकाल छ वर्ष निश्चित किया गया है। ससार के अन्य राज्यो में दूसरा सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि जब तक वे ठीक प्रकार से कार्य करें अपने पद पर रह सकते हैं।

राजनीतिशास्त्र के अधिकाश विद्वानों का कहना है कि लम्बे समय तक न्याय कार्य करने से न्यायाधीशो को अपने कार्य का भली-भाँति अनुभव हो जाता है। वे अपने कार्य को निष्पक्षतापूर्वक भी कर सकते हैं। यही कारण है कि आज ससार के अधिकाश देशो में यह परम्परा हो गई है कि न्यायाधीश 65 या 70 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं। न्यायपालिका की स्वतत्रता के लिए न्यायाधीशों का लम्बा कार्यकाल भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

3 न्यायाधीशों की पदच्युति और नौकरी की सुरक्षा–यह जरूरी नहीं है कि जो व्यक्ति न्यायाधीश नियुक्त हुआ है वह अपने कार्य को योग्यतापूर्वक एव निष्पक्षतापूर्वक

करे। यदि कोई न्यायाधीश कदाचारी है आर्थिक प्रलोभन म आकर अपने कार्य को सुचारू रूप से नहीं करता है तो स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा निष्पक्ष न्याय के लिए उसे पद से हटाए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। पदच्युति के सम्बन्ध मे विभिन्न राष्ट्रो म अलग-अलग व्यवस्थाऐं निम्नलिखित हैं–

(क) सयुक्त राज्य अमेरिका मे *यह व्यवस्था* है कि कांग्रेस का कोई एक सदन किसी उच्च न्यायाधीश पर महाभियोग का आरोप ला सकता है। यह कार्य प्राय प्रथम सदन (हाउस ऑफ रिप्रेजेन्टेटिव) द्वारा किया जाता है। महाभियोग का आरोप होने पर दूसरे सदन (सीनेट) द्वारा विचार किया जाता है और उसके निर्णय के अनुसार न्यायाधीश को अपदस्थ किया जा सकता है। इसी प्रकार की व्यवस्था भारत के सविधान में भी न्यायाधीशो को पदच्युत करने क लिए की गई है।

भारत के सविधान के अनुच्छेद 124 धारा 4 म लिखा है कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को तभी हटाया जा सकेगा जबकि ससद का प्रत्येक सदन कुल सख्या के बहुमत से और उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति के पास भेजे, जिसमें न्यायाधीश पर सिद्ध कदाचार अथवा *असमर्थता का आरोप लगाया गया हो। यदि राष्ट्रपति उस प्रस्ताव पर न्यायाधीश को* हटाने के लिए हस्ताक्षर कर देते हैं तो न्यायाधीश को पद से हटा दिया जायेगा।

(ख) सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों मे मतदाता यदि किसी न्यायाधीश को अयोग्य समझें तो अपने वोटों द्वारा यह निश्चित कर देते है कि न्यायाधीश को वापिस बुला लिया जाए। इस प्रथा के अन्तर्गत न्यायाधीश अपना कार्य निष्पक्षतापूर्वक एव स्वतत्रता पूर्वक कर सकने मे असमर्थ होते हैं। उन्हे सदैव इस बात का भय बना रहता है कि यदि उन्होने सार्वजनिक नेताओ को नाराज कर दिया तो वह उनकी वापसी के लिए प्रयास करेगें।

(ग) यूरोप के अनेक राज्यो में यह प्रथा है कि छोटे न्यायालयो के न्यायाधीशों को अपने पद से पृथक करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय में उनके ऊपर मुकदमा चलाया जाता है। यदि सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश पर कदाचार व असमर्थता का अभियोग हो तो उसका निर्णय अन्य न्यायाधीशो द्वारा किया जाता है।

स्वतत्र न्यायपालिका के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशो को नौकरी की सुरक्षा प्राप्त हो। कार्यपालिका उन्हें अपनी इच्छानुसार जब चाहे हटा न सके। यदि न्यायाधीश इस भय से ग्रसित होकर निर्णय करेगा कि कार्यपालिका के विरुद्ध निर्णय देने पर उसे अपने पद से हटना पड सकता है। ऐसी स्थिति मे न्यायाधीश सविधान नागरिकों के हितों मौलिक अधिकारों की रक्षा कदापि नहीं कर सकता है। स्वतत्र न्यायपालिका के लिए न्यायाधीशों को इस भय से मुक्त करने के लिए अधिकाश देशों में न्यायाधीशों को हटाने के लिए विशेष व्यवस्थाएँ की हैं जिनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। उक्त व्यवस्थाओ में न्यायाधीशों को कार्यपालिका के अनुचित दबाव से मुक्त कर नौकरी की सुरक्षा प्रदान की गई है।

4 न्यायाधीशों का वेतन–स्वतत्र एव निष्पक्ष न्यायपालिका की यह भी आवश्यकता है कि उसके न्यायाधीशों को पर्याप्त वेतन भत्ता मिले ताकि वह अपना गुजारा अच्छी तरह कर सकें अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा रख सकें। आर्थिक पहलू सक्षम होने पर वह रिश्वत इत्यादि द्वारा धन एकत्रित करने के प्रलोभन से मुक्त होकर निष्पक्ष न्याय मे अपना समय लगा सकेगे। यदि न्यायाधीशो को पर्याप्त वेतन मिलता है तो इस व्यवसाय को अपनाने के लिए योग्य व्यक्ति आकृष्ट होगे ओर समाज में उनका सम्मान भी बना रहेगा। कम वेतन मिलने के कारण इस व्यवसाय की ओर कोई व्यक्ति आकृष्ट न होगा और न ही उसका समाज मे कोई स्थान होगा। लार्ड ब्राइस के अनुसार "न्यायाधीश की पवित्रता और योग्यता, ईमानदारी और स्वतत्रता उसके पद की सम्भावित उन्नति एव उसके आकर्षणो पर निर्भर करती है। अपर्याप्त वेतन पाने वाले न्यायाधीश नि सन्देह अनुचित प्रभावो से आकर्षित होगा। अत न्यायाधीश को काफी अच्छा वेतन मिलना चाहिए।

न्यायाधीशों को न केवल अच्छा वेतन ही मिलना चाहिए वरन् उसके एक बार नियत हो जाने पर उसके कार्यकाल में कार्यपालिका द्वारा किसी प्रकार की कमी नहीं की जानी चाहिए। यही कारण है कि भारत इग्लैण्ड और अन्य कई देशों मे न्यायाधीशों का वेतन सचित निधि से दिया जाता है। न्यायाधीशो के वेतन पर प्रति वर्ष ससद की स्वीकृति की आवश्यकता नही रहती है। सेवानिवृत्ति होने पर न्यायाधीशों को सेवानिवृत्ति लाभ भी दिया जाना चाहिए ताकि न्यायाधीश को सेवानिवृत्ति होने पर शेष जीवन की चिन्ता न बनी रहे। हो सकता है सेवानिवृत्ति के पश्चात् शेष जीवन की चिन्ता उसे वेतन से अतिरिक्त धन जमा करने को प्रेरित करे और वह प्रलोभनों में फसकर पथ-भ्रष्ट हो जाय। भारत में न्यायाधीशों को सेवानिवृत्ति लाभ देय है।

5 न्यायाधीशों की उच्च योग्यता–स्वतत्र न्यायपालिका के लिए न्यायाधीशो का उच्च योग्यता प्राप्त होना भी आवश्यक है। अत न्यायाधीश को योग्य प्रशिक्षित और अनुभवी तथा कानूनो का ज्ञाता होना चाहिए। बहुत योग्य व्यक्ति ही ठीक निर्णय दे सकता है। उसका निर्णय स्वतत्रतापूर्वक विचार कर निष्पक्ष और बाह्य प्रभाव से मुक्त हो सकता है। व्यवहारत अयोग्य न्यायाधीश वकीलों के तर्कों से प्रभावित होकर गलत निर्णय दे सकते है। न्यायाधीशों की उच्च योग्यता को ध्यान में रखते हुए भारत मे उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की योग्यता निश्चित की गई है– उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए कम से कम दस वर्ष तक का उच्च न्यायालय के वकील अथवा पाच वर्ष तक वहाँ न्यायाधीश के पद पर कार्य कर चुकने की व्यवस्था की गई है।

6 न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण–स्वतत्र न्यायपालिका की स्थापना के लिए उसका कार्यपालिका से पृथक्करण आवश्यक है। मॉण्टेग्यू ने न्यायपालिका की स्वतत्रता पर बल देते हुए कहा था कि न्यायपालिका कार्यपालिका से स्वतत्र होनी

चाहिए। प्राचीन और मध्यकाल तक न्यायपालिका कार्यपालिका के आधीन थी। यही कारण था कि उस काल में राजा मनमाने निर्णय सुनाया करते थे। लोकतंत्र में इस बात पर जोर दिया जाता है कि न्यायपालिका कार्यपालिका से पृथक होकर अपने निर्णय निर्भीकतापूर्वक दे सके। न्यायपालिका कार्यपालिका से भयभीत होकर कार्य करने लगेगी तो संविधान नागरिकों के हितों और मौलिक अधिकारों की रक्षा आदि के सम्बन्ध में न्याय नहीं हो सकेगा। भारत में न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण इसी कारण किया गया है। न्यायपालिका का अपना अलग न्यायिक प्रशासन है जो कि पदसोपान पर आधारित है। सबसे ऊपर उच्चतम न्यायालय उसके नीचे उच्च न्यायालय उसके नीचे जिला न्यायालय, मुंसिफ न्यायालय कार्यपालिका का पृथक प्रशासन है जो मंत्रालय निदेशालय विभागों, उपविभागों शाखाओं में विभक्त है। जिन पर कार्यपालिका का नियंत्रण होता है। न्यायपालिका पर कार्यपालिका का कोई नियंत्रण नहीं है। दोनों के कार्यक्षेत्र पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित हैं। यही स्वतंत्र न्यायपालिका की अनिवार्य शर्त भी है।

7 सेवानिवृत्ति के पश्चात् वकालत पर प्रतिबन्ध–स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना हेतु सेवा-निवृत्ति के पश्चात् न्यायाधीशों को वकालत नहीं करनी चाहिए। सेवानिवृत्ति के पश्चात् जब वह किसी मुकदमे में उस न्यायालय में वकालत करने उपस्थित होगा जहां वह पहले कार्यरत था तो स्वाभाविक है उसके सहयोगी उसका लिहाज अवश्य करेंगे और बिना विचार करे निर्णय उसी के पक्ष में दे देंगे। ऐसी स्थिति में निष्पक्ष न्याय की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है। भारत में ऐसी स्थिति से बचने के लिए संविधान के अनुच्छेद 220 में यह प्रावधान किया गया है कि न्यायाधीश सेवानिवृत्ति के पश्चात् उस न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता है जिसमें वह पहले न्यायाधीश रह चुका है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति योग्यता कार्यकाल, वेतन पदच्युति का तरीका, सेवानिवृत्ति, सेवा सुरक्षा आदि बातें आवश्यक हैं। इसके साथ ही न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण भी अत्यन्त आवश्यक एवं निष्पक्ष न्याय में सहायक है। भारत में स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना करते समय उक्त सभी बातों का ध्यान रखा गया है। भारत में न्यायपालिका कार्यपालिका से पृथक्करण के सिद्धान्त पर स्थापित है। अतः न्यायपालिका ने स्वतंत्र रहकर कार्यपालिका के विरुद्ध कई निर्णय लिए हैं।

प्रोफेसर विलोबी ने भी स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए उक्त आवश्यक शर्तों को स्वीकार करते हुये कहा है– "न्यायाधीशों की नियुक्ति किसी दलीय संघर्ष के आधार पर नहीं होनी चाहिए। एक बार नियुक्ति हो जाने पर उनकी पदावधि जीवनपर्यन्त अथवा सदाचार पर्यन्त लम्बी होनी चाहिए। उसका हटाया जाना कार्यपालिका के अधीन नहीं होना चाहिए। दुराचार के बहाने अभियोग लगाकर अथवा विधानमण्डल के दोनों सदनों

द्वारा प्रस्तुत निवेदन पर ही उन्हें हटाया जाना चाहिए। उनके पद के दौरान उनके वेतन को न तो रोका जाना चाहिए और न ही कम किया जाना चाहिए।'

निस्सन्देह न्यायपालिका सरकार का महत्त्वपूर्ण अग है और प्रशासकीय ढाँचे में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। न्यायपालिका प्रशासकीय तत्र के [illegible] भ्रष्टाचार को रोकने मे सक्रिय भूमिका अदा करती है।

सदर्भ एव टिप्पणिया

1 लार्ड ब्राइस — माडर्न डेमोक्रसीज वाल्यूम II, [illegible]
2 वाल्टन एच हैमिल्टन — एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशिल साइन्सेज वाल्यूम, न्यूयार्क मैकमिलन 1954 पृ 450
3 हेराल्ड जे लास्की — वही पृ 464
4 गार्नर — पॉलिटिकल साइस एण्ड गवर्नमेंट
5 मैरिट — उद्धृत लार्ड ब्राइस माडर्न डेमोक्रसीज वाल्यूम II 421
6 लार्ड ब्राइस — माडर्न डेमोक्रसीज, वाल्यूम II, पृ 421
7 वहीं
8 भारत का सविधान अनुच्छेद 146 (1)
9 भारत का सविधान अनुच्छेद 13 (2)
10 भारत का सविधान अनुच्छेद 32 (1)
11 भारत का सविधान अनुच्छेद 32 (2)
12 भारत का सविधान अनुच्छेद 226 (1)
13 भारत का सविधान अनुच्छेद 246
14 भारत का सविधान अनुच्छेद 368
15 एम वी पायली — कॉन्स्टीटयूशनल गवर्नमेट इन इडिया
16 भारत का सविधान अनुच्छेद 137
17 उद्धृत डब्लू ए फ विलोबी दि गवर्नमेंट ऑफ माडर्न स्टेटस, पृ 433–34
18 डा गार्नर — पोलिटिकल साइस एण्ड गर्वनमेंट पृ 722
19 लास्की — ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स पृ 545
20 डा गार्नर — पोलिटिकल साइस एण्ड गवर्नमेट पृ 725
21 लास्की — ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स पृ 548

□□□

अध्याय–8

लोकतंत्र एवं प्रशासन : लोकतांत्रिक प्रशासन के लक्षण

आधुनिक समय में लोकतन्त्रात्मक शासन सर्वाधिक प्रचलित है। यह शासन का ही एक स्वरूप है। विश्व के अधिकांश राष्ट्र लोकतन्त्रात्मक पद्धति के अनुसार अपना शासन चलाते हैं। हर्नशॉ के अनुसार "लोकतन्त्रात्मक राज्य वह है जिसमे प्रभुत्व शक्ति सामूहिक रूप से जनता के हाथो मे रहती है जिसमे जनता शासन सम्बन्धी मामलों में *अपना अंतिम निर्णय रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य मे किस तरह का* शासन सूत्र स्थापित किया जाए। राज्य के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र शासन की ही एक विधि नही है बल्कि वह सरकार को नियुक्त करने उस पर नियन्त्रण करने तथा हटाने की विधि है।"

उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि लोकतन्त्रात्मक राज्य उसे कहा जाता है, जहाँ जनता को सरकार का रूप निश्चित करने, उसे नियुक्त करने और हटाने की अंतिम शक्ति प्राप्त है। लोकतंत्र प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र में सम्पूर्ण जनता एक राज्यसभा मे एकत्रित होती है अपनी इच्छा प्रकट करती है, स्वय कानूनो का निर्माण करती है और स्वय उन लोगों को नियुक्त करती है जिन्हे नीतियो का क्रियान्वयन करना है। यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र केवल छोटे आकार वाले राज्यों मे सम्भव है। जहाँ सारी जनता एक स्थान पर राजसभा के रूप मे एकत्रित हो सके। अनेक प्राचीन ग्रीक नगरो मे इस प्रकार का शासन विद्यमान था। इसके उदाहरण ऐथेन्स और प्राचीन भारत मे भी मिलते हैं। एथेन्स के नागरिक एक्लीजिया में एकत्र होकर स्वय अपने शासन का सचालन किया करते थे। भारत के वज्जि सघ मे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र था। महात्मा बुद्ध ने बौध-सघ का निर्माण करते हुए वज्जियों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को सम्मुख रखा था। *वज्जि-सघ के अन्तर्गत लिच्छविगण मे 7707 नागरिक थे जो राजसभा में एकत्र होकर* स्वय सब बातों का निर्णय किया करते थे। स्विट्जरलैंड मे अपनजेल, ऊरी, उण्टक वाल्डन और ग्लारस चार स्विस केण्टनो में आज भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र देखा जा सकता है। जहाँ सब नागरिक राजसभा के रूप मे एकत्रित होकर अपनी इच्छा को प्रकट करते हैं। स्विट्जरलैण्ड के शेष केण्टनों मे 1848 के बाद प्रत्यक्ष लोकतन्त्र त्याग दिया गया है।

आज राज्यो के विकास के कारण राज्य का आकार विशालकाय हो गया है। ऐसे मे राज्य के समस्त नागरिको का एक स्थान पर राजसभा के रूप में एकत्रित होना स्थानाभाव एव जनसख्या वृद्धि के कारण सम्भव नहीं है। अत प्रतिनिधि सत्तात्मक या

अप्रत्यक्ष लोकतंत्र को प्रत्यक्ष लोकतंत्र के स्थान पर स्वीकार किया गया है। प्रतिनिधि-सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। जिनके हाथो में वह अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति और राजशक्ति का प्रयोग करने का अधिकार सौंप देती है। निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन किया जाता है। सम्पूर्ण जनता को वोट का अधिकार होता है। वास्तव में प्रतिनिधि सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में सम्पूर्ण वयस्क स्त्री-पुरुषो को वोट का अधिकार होता है। बालको व बालिकाओ को वोट का अधिकार नही होता है। प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतंत्र मे मतदाता अपने मत का भली-भाँति प्रयोग कर ऐसे प्रतिनिधि निर्वाचित करें जो सही अर्थ में जनता का प्रतिनिधित्व कर सकें। प्रतिनिधियों को भी चाहिए कि वह निर्वाचित होकर जनता के साथ अपना सम्पर्क बनाएँ रखें। जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए करती है।

लोकतंत्र शासन मे प्रतिनिधि सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र सिद्धान्त प्राय व्यवस्थापिका सभाओ मे गठन के लिए काम में लिया जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे राज्यों में राष्ट्रपति की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा की जाने की व्यवस्था है। राष्ट्रपति विभाग का प्रधान अधिकारी होता है। इन राज्यो में प्रधानशासक भी जनता का ही प्रतिनिधि होता है। प्रतिनिधि-सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र मे जनता सर्वोच्च होती है। वह आशा करती है कि उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सविधान में वर्णित प्रावधानो के अनुसार शासन करेगे। जनता की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मौलिक अधिकारो की रक्षा करेगे। सदैव जनहित व जन कल्याण के कार्य करेगे। जब कभी प्रतिनिधि जनहित के विरुद्ध कार्य करेंगे तो जनता के पास विरोध का अधिकार है। वस्तुत लोकतंत्र शासन को निरकुश और अनियन्त्रित होने से बचाता है। लोकतंत्र मे सभी कार्य विधि के शासनानुसार सम्पन्न किए जाते हैं।

प्रशासन का प्रमुख कार्य प्रतिनिधि सभा द्वारा निर्मित नीतियों को कानूनी रूप प्रदान कर क्रियान्वित करना है। अत लोकतान्त्रिक देशों में प्रशासन का स्वरूप भी लोकतान्त्रिक होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से विश्व के सभी देशों द्वारा लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की गई है। तभी से लोकतान्त्रिक प्रशासन का प्रारम्भ हो गया। लोकतान्त्रिक प्रशासन ही वास्तव मे सुखी सम्पन्न और शांति समाज की स्थापना कर सकता है। लोकतान्त्रिक प्रशासन ही जनता मे लोकतान्त्रिक मूल्यो के प्रति विश्वास जगा सकता है। जनता की आवश्यकताओ को समझकर उनकी पूर्ति कर सकता है। प्रशासन का लोकतान्त्रिक होना नितात आवश्यक है। लोकतान्त्रिक प्रशासन ही लोकतान्त्रिक राज्य के आदर्शो, मनुष्य की स्वतंत्रता सामाजिक समानता और धार्मिक आस्था बनाए रखने में अह भूमिका निभाता है। किसी भी देश मे लोकतंत्र की सफलता वहाँ के स्थायी प्रशासन के लोकतान्त्रिक स्वरूप पर ही निर्भर करती है।

प्रशासन के माध्यम से जनता राज्य और सरकार के सम्पर्क में आती है। स्थायी प्रशासन विधानमण्डल द्वारा पारित नीतियों का क्रियान्वयन करता है। जनता अपने कार्यो

के लिए प्रशासन के सम्पर्क मे अधिक आती है। प्रशासन जनता के साथ जिस प्रकार का व्यवहार करता है उसी के अनुरूप जनता राज्य और शासन के प्रति अपना मानस बना लेती है। राज्य लोकतान्त्रिक है। सामान्य जनहित मे नीति निर्मित करता है पर प्रशासन उस नीति को स्वेच्छा से क्रियान्वित करता है। ऐसी स्थिति मे जनता उस लोकतान्त्रिक शासन स्वीकार नहीं करेगी। यदि जनता का काम प्रशासन ने शीघ्र बिना किसी भेदभाव के कर दिया है तो जनता प्रशासन और राज्य दोनों को श्रेष्ठ कहने लगती है। ऐसे राज्यों मे प्रशासन का व्यवहार लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तो के अनुरूप होना चाहिए। लोकतान्त्रिक प्रशासन से तात्पर्य एक ऐसे प्रशासन से है जिसमे प्रशासन का जनता की स्वतन्त्रता समानता का विशेष ध्यान रखकर कार्य किया जाता हो। प्रशासन का केन्द्रीयकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण हो न्यायपालिका का सम्मान किया जाता हो, कानून का शासन और व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित किया जाता हो शक्ति का प्रयोग यथासम्भव कम से कम किया जाए प्रशासकों का व्यवहार मालिक की भाँति न होकर सेवक की भाँति हो आदि।

यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोकतान्त्रिक राज्यो का शासन भी पूर्णतया लोकतान्त्रिक हो। ऐसा सम्भव है कि सर्वोच्च स्तर पर लोकतन्त्र हो और निचले स्तर पर पूरी तरह लोकतन्त्र न हो। भारत मे लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में कुछ इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं । शासन व्यवस्था मे स्थायी प्रशासन शक्तिशाली होता जा रहा है। नौकरशाही शक्ति का केन्द्र होती जा रही है। प्रशासन का स्वरूप आज भी सामन्तवादी है। लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना के साथ-साथ प्रशासन का स्वरूप लोकतान्त्रिक होना आवश्यक है।

लोकतान्त्रिक प्रशासन को समझने के लिए उसमें निहित प्रमुख निम्नलिखित विशेषताओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

1 लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था—लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था मे जनता प्रतिनिधियों द्वारा शासन करती है। जनता सर्वोच्च है। प्रशासन जनता की अभिव्यक्ति की क्रियान्विति करता है। अत जनता मालिक और प्रशासन उसका सेवक है। सेवक होने के नाते प्रशासन का कर्तव्य है कि वह जन इच्छा की पूर्ति करे, उसका सम्मान करे, जन आकाक्षाओं की जानकारी प्राप्त करे। प्रशासन को इस कर्तव्य पूर्ति हेतु जन सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करना पडता है। वास्तव मे लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था अपने प्रशासन को भी लोकतान्त्रिक बनाये रखना चाहती है।

2 निश्चित दायित्व—लोकतान्त्रिक प्रशासन में जिम्मेदारियाँ निश्चित होती हैं। नीति क्रियान्वयन की जिम्मेदारी मुख्य कार्यपालिका को दी गई है। प्रशासन के हर स्तर पर एक अधिकारी नियुक्त कर उसे निश्चित जिम्मेदारियाँ दी जाती हैं। उसका नियन्त्रण का क्षेत्र भी निश्चित रहता है। उसे अपने कर्तव्य निर्वाह हेतु कुछ अधिकार भी दिये जाते हैं।

3. जन आकाक्षाओं के प्रति उत्तरदायी—लोकतान्त्रिक प्रशासन में नीति-निर्माण एव नीति क्रियान्वयन दोनों मे जन आकाक्षाओं का ध्यान रखकर कार्य किया जाता है।

जनता की अधिकाधिक भागीदारी नीति निर्माण और नीति क्रियान्वयन मे होनी चाहिए। यह सोचकर लोकतान्त्रिक प्रशासन में जनता का प्रशासनिक स्तर पर सहयोग प्राप्त किया जाता है। प्रशासन मे जन सहयोग दो प्रकार से प्राप्त किया जाता है-- प्रथम जनता के प्रतिनिधियों को सलाहकार समितियो मण्डलो आदि मे स्थान देकर प्रशिक्षित नागरिको और प्रशासन में रुचि रखने वाले नागरिको को प्रबन्ध व्यवस्था स्तर पर नियुक्त कर प्राप्त कर सकते हैं। द्वितीय स्थानीय स्वशासन की नगरीय एव ग्रामीण सस्थाओं जैसे– नगर निगम जिला परिषदों नगरपालिकाएँ पचायतें एव पचायत समितियों की व्यवस्था करे। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन भारत में पचायती राज सस्थाओं द्वारा किया जाता है। प्रशासन सलाहकार मण्डलों एव स्थानीय निकायों द्वारा जन आकाक्षाओं का पता लगाता है और उनके अनुरूप कार्य करता है।

4 **प्रशासन खुली किताब की भाँति**–लोकतान्त्रिक प्रशासन में कार्य अधिक गुप्त नहीं रहता है। लोकहित को ध्यान में रखते हुए प्रशासन मे कुछ गोपनीयता रखी जाती है। परन्तु प्रशासन द्वारा लिए गए अधिकाश निर्णय जनता के समक्ष क्रियान्वित होने से पूर्व रख दिये जाते हैं। सरकार स्वतत्र प्रेस विरोधी दल सघटित लोकमत के विचार जानने का प्रयास करती है। सम्पूर्ण प्रशासकीय नीतियाँ जनता की आलोचना के लिये खुली रहती हैं। लोकतान्त्रिक प्रशासन को अपनी नीतियों की आलोचना पर तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती है। प्रशासन खुली किताब की भाँति है।

5 **लोकतान्त्रिक प्रशासन एक सहकारी उद्यम**–लोकतान्त्रिक प्रशासन मे उद्यमों के सचालन हेतु सहकारिता को आधार माना जाता है। सरकारी अभिकरण विभिन्न सामाजिक शैक्षणिक एव व्यवसायिक समुदाय परस्पर मिलजुल कर जनकल्याण कार्यों का सम्पादन करते हैं। विकसित राष्ट्रो में नागरिको की ऐच्छिक क्रियाएँ बहुत सुसगठित हो गई हैं और प्रशासन एक सहकारी उद्यम बनता जा रहा है। नवोदित राष्ट्रों मे नागरिक चेतना अविकसित होने के कारण ऐच्छिक सगठन समाज कल्याण पर अधिक ध्यान दे सकने मे असमर्थ हैं।

6 **लोकतान्त्रिक प्रशासन व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी**–लोकतान्त्रिक प्रशासन देश के लोकतान्त्रिक सविधान और व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नीतियों के अनुसार कार्य करता है। साथ ही प्रशासन मे राजनीतिक निदेशक मत्रियों की इच्छानुसार कार्य करता है। व्यवस्थापिका का कोई भी सदस्य जब चाहे किसी भी प्रशासनिक विभाग के कार्यों की जानकारी प्राप्त कर सकता है। प्रशासन अपने राजनीतिक निदेशक(मत्री) के माध्यम से व्यवस्थापिका के प्रति जवाबदेह है। ससदात्मक व्यवस्था वाले देशो में निदेशक व्यवस्थापिका में से ही चयनित किये जाते हैं। अत प्रशासन की जवाबदेही अध्यक्षात्मक व्यवस्था वाले देशों की तुलना में अधिक महत्त्व रखती है। लोकतान्त्रिक प्रशासन व्यवस्थापिका के साथ-साथ व्यवस्थापिका की समितियो का भी सम्मान करता है। प्रशासनिक अधिकारी व्यवस्थापिका द्वारा गठित समितियों में उपस्थित होते हैं। उन द्वारा चाही गई जानकारी उपलब्ध करवाते हैं। अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। व्यवस्थापिका

मे पूछे गये प्रश्नो का उत्तर देने मे प्रशासन राजनीति निदेशक (मत्री) की सहायता करते हैं।

7. लोकतान्त्रिक प्रशासन की न्यायिक समीक्षा—लोकतन्त्रात्मक देशो मे न्यायपालिका की सर्वोच्चता स्थापित की जाती है। न्यायिक पुनर्विचार का सिद्धान्त अपनाकर कई देशो मे न्यायपालिका को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका से श्रेष्ठ माना गया है। भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश मे न्यायपालिका को सविधान की व्याख्या करने वाला अभिरक्षक और मौलिक अधिकारो का सरक्षक स्वीकार किया गया है। अगर लोकतन्त्रात्मक देश का प्रशासन कोई आदेश पारित करता है जो नागरिको के अधिकारो को छीनता है तो नागरिक न्यायपालिका मे अपनी याचिका प्रस्तुत करते है। न्यायपालिका के निर्णय का सम्मान प्रशासन को करना होता है और उसी के अनुसार प्रशासन कार्य करता है। लोकतान्त्रिक प्रशासन की कार्यवाही न्यायिक समीक्षा के आधीन होने से प्रशासन अपनी स्वेच्छाचारित शक्ति का प्रयोग नही कर सकता है और न ही अपने अधिकारो का दुरुपयोग कर सकता है। भारत मे सामान्यत न्यायालय प्रशासकीय कार्यो मे उस समय तक हस्तक्षेप नही करते जब तक कि वह कार्य अपने स्वरूप अथवा क्षेत्र मे अवैधानिक न हो। भारतीय सविधान मे उन्हे प्रशासकीय निर्णयो की भी न्यायिक समीक्षा का भी अधिकार प्रदान किया है।

8 राजनीतिक कार्यपालिका का परामर्शदाता—लोकतान्त्रिक देशो में लोकतान्त्रिक प्रशासन (स्थायी प्रशासन) राजनीतिक कार्यपालिका के आधीन कार्य करता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक कार्यपालिका मे योग्यता एव विशिष्टता का सदैव अभाव रहता है। सत्ता प्राप्त कार्यपालिका को सविधान और ससदीय अधिनियमों की जानकारी नहीं होती है। प्रशासन मे उच्च पदो पर योग्य और अनुभवी व्यक्तियो की नियुक्ति के कारण उच्च एव मत्री के निकटतम प्रशासनिक अधिकारियो का कर्त्तव्य होता है कि वे मत्री को उसके उत्तरदायित्व निर्वाह करने मे निष्पक्ष परामर्श उपलब्ध कराए।

9 लोकतान्त्रिक प्रशासन की राजनीतिक तटस्थता—लोकतान्त्रिक प्रशासन तटस्थ होता है। इसकी प्रकृति अराजनीतिक होती है। लोकतन्त्रात्मक शासन में दलों का विशेष महत्त्व होता है। व्यवस्थापिका मे जनता दलीय आधार पर प्रतिनिधियो का चयन करती है। व्यवस्थापिका मे मुख्यत दो दल होते है—सत्तारूढ दल और विरोधी दल। ससदात्मक व्यवस्था मे कार्यपालिका का चयन बहुमत दल या सत्तारूढ दल से किया जाता है। दल अपने नागरिको के लिए नीति-निर्माण और क्रियान्वित करने मे विश्वास रखते हैं। लोकतान्त्रिक देश म सार्वजनिक हित एव सर्व जनकल्याण के उद्देश्य पूरा करने के लिए प्रशासन का अराजनीतिक या तटस्थ होना आवश्यक है। प्रशासन द्वारा बिना किसी भेदभाव के सभी व्यक्तियो के लिए कार्य करने से ही लोकतन्त्र के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। अत लोकतान्त्रिक प्रशासन में अधिकारी व अन्य सभी कर्मचारी किसी भी दल से सम्बन्धित नहीं होते हैं। उनकी नियुक्ति का आधार योग्यता रखा गया है। वह किसी दल के पक्षधर भी नहीं हो सकते हैं। किसी दल के सदस्य भी नहीं बन सकते

हैं। किसी से अशदान भी नहीं ले सकते हैं। ऐसा करने पर उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही का प्रावधान है। लोकतान्त्रिक प्रशासन बिना किसी भेदभाव के सब के लिये समान कार्य करता है। यही कारण है कि सभी लोकतान्त्रिक देशो प्रशासनिक अधिकारियो एव कर्मचारियों को "नौकरी" या "राजनीति" मे से किसी एक विकल्प को चुनना होता है।

10 प्रशासन की सरचना लोकतान्त्रिक–लोकतान्त्रिक देशो मे प्रशासन की सरचना लोकतान्त्रिक होती है। अधिकारियो तथा कर्मचारियो की भर्ती निष्पक्ष खुली प्रतियोगिता द्वारा योग्यता के आधार पर की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति निर्धारित योग्यता एव आयु सीमा के अन्तर्गत खुली प्रतियोगिता मे भाग ले सकता है। कार्य में विशिष्टता और योग्यता दोनो को ध्यान मे रखा जाता है। भर्ती की यह प्रणाली कर्मचारियो को कानून के समक्ष समान मानकर उन्नति के समान अवसर प्रदान करती है। पॉल एच एपलबी ने इस भर्ती व्यवस्था का समर्थन करते हुए कहा है कि–"यदि सरकार को लोकतान्त्रिक बनना है तो नौकरशाही को भी विस्तृत रूप से प्रतिनिधि बनाना चाहिए इसकी व्यवस्था लोकसेवकों के निर्वाचन द्वारा नही की जानी चाहिए वरन् व्यक्तियो के भौगोलिक शैक्षणिक सास्कृतिक कार्यात्मक आदि विभिन्न पृष्ठभूमियो से भर्ती द्वारा की जानी चाहिए।"

11 प्रशासन में स्वय सुधारक प्रणालियाँ विकसित–लोकतान्त्रिक प्रशासन में स्वय सुधारक प्रणालियॉ विकसित की जाती हैं ताकि प्रशासन सामाजिक सुधार और जन आकाक्षा के अनुरूप ढल सके। प्रशासन का लोकतान्त्रिक स्वरूप बनाए रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि नागरिको की प्रशासनतत्र के विरुद्ध शिकायत दूर करने का समुचित तरीका विकसित किया जाए। प्रशासकीय न्यायाधिकरण लोकपाल लोकायुक्त सतर्कता आयोग एव भ्रष्टाचार निरोधक विभाग आदि सस्थायों मे नागरिक प्रशासन एव राजनीति के विरुद्ध शिकायते प्रस्तुत कर सकते हैं। ये सभी सस्थाएँ नागरिकों की शिकायतों का निवारण तो करती हैं साथ ही नागरिको के मस्तिष्क मे प्रशासन की अच्छी छवि स्थापित करने मे सहायक होती हैं।

12 कार्मिक सगठनों का सहयोग–मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक मानवीय सगठन बनाये हैं। मानवीय सगठनो में विचार-भेद होने के कारण मतभेद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अधिनायकवादी प्रशासन में मतभेदों को कठोरतापूर्वक समाप्त कर दिया जाता हैं। लेकिन लोकतान्त्रिक प्रशासन मे उन्ही मतभेदों को आपसी सहयोग और समझ द्वारा सुलझाया जाता है। यही कारण है कि लोकतान्त्रिक देशो के प्रशासन मे कार्यरत कर्मचारियो के अपने सघ होते हैं जो समान हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी वर्गों के कर्मचारियो की समान समस्याएँ होती हैं और सघ सरकार से समान समस्याओ के निराकरण की समय-समय पर माग करते हैं। प्रबधक और कर्मचारियों के भेदभावो को कम करने के लिए विचार-विमर्श का मार्ग अपनाते हुए ब्रिटेन मे हिटले परिषदें तथा भारत में स्टॉफ परिषदो का गठन किया गया है। सभी विवादो को

इन परिषदों मे रखा जाता है। लोकतान्त्रिक देशों में इस प्रकार की संस्थाओ को मान्यता प्रदानकर कर्मचारियो मे सतोष एव मिलकर कार्य करने की प्रवृत्ति जागृति की जाती है।

13 **शक्ति विकेन्द्रीकरण एव प्रत्यायोजन की प्रधानता**—लोकतत्र मे शक्ति-केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति नहीं होती है। यथासम्भव शक्ति विकेन्द्रीकरण को प्रधानता दी जाती है ताकि विभिन्न स्तरो पर निर्णय में जन प्रतिनिधियों को अधिक से अधिक साथ लिया जा सके तथा जनहित के कार्य शीघ्रातिशीघ्र सम्पादित किये जा सके। ऐसा करने से विभागीय सरचना में पदसोपानों की सख्या कम हो जाती है। प्रशासक भी जन प्रतिनिधियो के साथ मिलकर जनता की इच्छानुसार कार्य करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ विभिन्न स्तरो पर प्रशासकीय अधिकारियो के अधिकारो का प्रत्यायोजन भी लोकतान्त्रिक प्रशासन मे किया जाता है ताकि अधिकारी जनहित मे शीघ्र से शीघ्र कार्य कर सकें। लोकतान्त्रिक प्रशासन मे विकेन्द्रीकरण द्वारा एक ओर प्रशासनिक अधिकारियों को निरकुश होने से रोका जाता है। दूसरी ओर प्रत्यायोजन व्यवस्था द्वारा नागरिको के कार्य सम्पादन मे सुविधा होती है।

14. **ऐच्छिक सगठनों की सहभागिता**—लोकतत्र मे जनकल्याण केवल सरकार या राज्य द्वारा ही नही किया जाता है। जनकल्याण मे ऐच्छिक सगठनो की भी अहम् भूमिका है। ऐच्छिक सगठन समाज पजीकरण अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत सस्थाएँ हैं। ऐच्छिक सगठन धर्म सरकार, व्यवसाय, शिक्षा आदि क्षेत्रों से जुड़े होते हैं, पर जनकल्याण में सहयोग प्रदान करते हैं। ऐच्छिक सगठन का निर्माता स्वय जनता है अत इन सगठनो की बात जनता आसानी से समझ जाती है। किसी लोकतान्त्रिक देश में सामाजिक परिवर्तनों मे इन सगठनों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। ऐच्छिक सगठन विभिन्न राजनीतिक और अन्य रुचियों के रहते हुए समूह और व्यक्ति दोनों के लिए कार्य करते हैं। लोकतान्त्रिक राज्य मे नागरिकों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन राशि का अभाव रहता है। ऐच्छिक सगठन अतिरिक्त स्थानीय ससाधनों से धनराशि एकत्रित कर सरकार की कल्याणकारी परियोजना के क्षेत्र से बाहर की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और स्थानीय नागरिकों के जीवन को सुखी बनाने का प्रयास करते हैं। ऐच्छिक सगठन ऐसा कर सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्र में सरकार के जन कल्याणकारी कार्यों में सहयोग प्रदान करते हैं।

15 **राजनीतिक नेतृत्व सर्वोपरि**—सभी लोकतान्त्रिक देशों में प्रशासन का नेतृत्व राजनीतिक निदेशक ही करते हैं। सभी उच्च पदस्थ अधिकारी निदेशक (मत्री) के अधीन रहकर कार्य करते हैं। मत्री और सचिव के सम्बन्धो के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मत्री किसी भी समय सचिव के कार्यों की आलोचना कर सकता है, परन्तु सचिव मत्री के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कह सकता है। मत्री जब चाहे सचिव का विभाग से स्थानान्तरण कर सकता है। सचिव मत्री के निदेशन में कार्य करता है। प्रशासन तत्र इस बात को स्वीकार करता है कि अधीनस्थ होने के नाते राजनीतिज्ञों के निर्णय एव आदेशों की पालना करनी पड़ती है।

16 जन सम्पर्क– लोकतांत्रिक प्रशासन में जन सम्पर्क माध्यमों से जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की व्यवस्था की जाती है ताकि जनता सरकार की कल्याणकारी योजनाओं को समझ सके और उनके क्रियान्वयन में सहयोग करे। प्रशासन भी जनसम्पर्क माध्यमों से जनता की इच्छा का पता लगाते हैं और उसी के अनुरूप कार्य करने का प्रयास करते है।

17 प्रशासन की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण– लोकतांत्रिक प्रशासन को संवैधानिक और संस्थागत नियन्त्रणो में रहकर कार्य करना होता है। प्रशासन पर व्यवस्थापिका और न्यायपालिका द्वारा प्रभावकारी नियन्त्रण रखा जाता है। संसदात्मक व्यवस्था वाले लोकतांत्रिक राज्यो में व्यवस्थापिका प्रश्न पूछकर स्थगन प्रस्ताव काम रोको प्रस्ताव और अविश्वास प्रस्ताव पारित कर प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। व्यवस्थापिका के द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों से प्रशासन सदैव भयभीत रहता है और अपनी निश्चित सीमाओं में रहकर कार्य करता है। प्रशासन पर न्यायपालिका बन्दी प्रत्यक्षीकरण परमादेश निषेधाज्ञा उत्प्रेषण अधिकार पृच्छा आदि लेखों के द्वारा नियंत्रण रखती है। व्यवस्थापिका और न्यायपालिका दोनो का नियंत्रण प्रशासन को निरंकुश नहीं होने देते है।

18 प्रचार प्रसार माध्यमों से मित्रवत् सम्बन्ध– लोकतांत्रिक प्रशासन सभी के लिए खुला है। अतः राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णयों से जनता को अवगत कराने के लिए उन्हे समाचार-पत्रो में प्रकाशित करने के उद्देश्य से संवाददाताओं को बुलाया जाता है। प्रचार-प्रसार माध्यमो द्वारा प्रशासन के पदाधिकारियों को जनता की प्रतिक्रियाओ का पता चलता है। लोकतांत्रिक प्रशासन का कोई भी पदाधिकारी प्रचार-प्रसार माध्यमो से अपना सम्बन्ध बिगाड़ कर चर्चा में नहीं आना चाहता है। प्रशासनिक अधिकारियों का यह प्रयास रहता है कि प्रचार-प्रसार माध्यमों से मित्रवत् सम्बन्ध बने रहें और जनकल्याणकारी योजनाओ की सूचना ही इस माध्यम से जनता तक पहुँचाई जाय।

लोकतंत्र प्रशासन की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि लोकतंत्रात्मक प्रशासन जनकल्याणकारी कार्यों को क्रियान्वित करने में एक सेवक की भूमिका अदा करता है तथा सीमाओं में रहकर कार्य करता है। जनता के प्रतिनिधि उसके निर्देशक हैं। प्रशासन को जन आकांक्षाओं की पूर्ति में जनता ऐच्छिक समुदाय प्रशासकीय अभिकरण आदि सहायता प्रदान करते हैं। प्रशासन सम्पूर्ण नागरिकों के हितों की पूर्ति के लिए एक साधन है। प्रशासक की सृजनात्मक भूमिका के कारण ही सार्वजनिक हित सम्भव होता है। प्रशासन व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है। राजनीतिक नेतृत्व में कार्य करता है। राजनीतिक कार्यपालिका को नीति निर्माण में परामर्श देता है। लोकतांत्रिक प्रशासन की सफलता के लिये जनता की जागरूकता और सक्रियता अनिवार्य है। शक्तिशाली जनमत के अभाव में लोकतांत्रिक प्रशासन सफल नहीं हो सकता है। लोकतांत्रिक प्रशासन में जनता का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूर्ण नियंत्रण कदापि सम्भव नहीं है। अत्यधिक जनता का हस्तक्षेप प्रशासनिक कार्यों में बाधा उत्पन्न कर सकता है। यही कारण है कि

जनता का नियंत्रण लोकतान्त्रिक प्रशासन म अनेक सीमाओं और प्रतिबन्धो से घिरा है। लोकतान्त्रिक प्रशासन से तात्पर्य प्रशासन एक ऐसे प्रशासन से है जो लोकतंत्र के आदर्शों के अनुसार चलता है। वह अपने कार्यों मे सर्वसाधारण के कल्याण को सर्वोच्च महत्त्व देता है। लोकतान्त्रिक प्रशासन को प्रत्येक स्तर पर जन आकाक्षाओ और जन हित दोनो का ध्यान रखना चाहिए। उसका ध्येय होना चाहिए कि "वह समस्त जनता को अवसरो की समानता और जीवन का एक निश्चित न्यूनतम मापदण्ड उपलब्ध करा सके।"

भारत एक लोकतान्त्रिक प्रशासन वाला देश है

लोकतान्त्रिक देशों में ही लोकतान्त्रिक प्रशासन पाया जाता है। भारत ससदात्मक व्यवस्था वाला लोकतान्त्रिक देश है। भारतीय सविधान मे भी लोकतान्त्रिक प्रशासन की स्थापना हेतु कदम उठाए गए ह। भारत मे प्रशासन का विकेन्द्रीकरण केन्द्र राज्य और स्थान विशेष में किया गया है। प्रशासन मे जनता की अधिकाधिक सहभागिता की व्यवस्था की गई है। देश म लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण सस्थाओ क विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। महानगरो मे नगर निगम बडे शहरो मे नगरपालिका छोटे और नवगठित शहरो में लघुतर नगरपालिका ग्रामीण क्षेत्रो मे पचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राम सभा, पचायत पचायत समिति आर जिला परिषद। इन सस्थाओं मे जनता नीति निर्माण और नीति क्रियान्वयन मे अधिक से अधिक भाग लेती हैं। केन्द्र और राज्य स्तरो पर हजारो सलाहकार समितियाँ मण्डल एव परिषदे हैं जिनमे जनता के प्रतिनिधि भाग लेते हैं।

आज भी भारत के प्रशासन मे रूढिवादी प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है। उच्च स्तर पर यह विशिष्ट वर्गीय है। परन्तु जन आकाक्षाओ की पूर्ति और लोकतन्त्रात्मक प्रशासन स्थापित करने के लिए जनसम्पर्क का महत्त्व प्रशासक द्वारा अनुभव किया जा रहा है। भारत मे आर्थिक नियोजन पद्धति को अपनाने से सभी स्तर के प्रशासको को सर्वसाधारण के निकट आने का अवसर मिला है। सामाजिक परिवर्तनो की आवश्यकता अनुभव करने और उसके लिए जनसहयोग प्राप्त करने का प्रयास करने लगे हैं। अब लोकसेवक विभाग में कुर्सी के साथ चिपक कर कार्य करने के साथ-साथ जनसम्पर्क स्थापित करने के प्रयास करने लगे है। प्रशासन सर्वसाधारण की बात सुनने में रुचि रखते हैं, उनसे प्रभावित भी होते हैं। राजनीतिक नेतृत्व भी प्रशासको पर दबाव डालता है कि नौकरशाही त्याग कर जनसहयोग प्राप्त करे। भारत म लोकतान्त्रिक प्रशासन स्थापित करने की दिशा मे काफी प्रयास किए गए हैं और किए जा रहे हैं। लोक सेवा आयोगों की स्थापना केन्द्र और राज्य स्तर पर की गई है ताकि सभी योग्य व्यक्तियों को प्रशासन मे सेवा के समान अवसर मिल सकें, प्रशासन म निष्पक्ष नियुक्तियाँ की जा सकें। अत भर्ती हेतु एक निष्पक्ष प्रतियोगिता प्रणाली अपनाई गई है।

भारत का प्रशासन व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के नियन्त्रण में रहकर कार्य करता है। इसमें सन्देह नहीं है कि भारत एक लोकतान्त्रिक प्रशासन वाला देश है। फिर भी भारत को लोकतान्त्रिक प्रशासन हेतु अभी लम्बा रास्ता तय करना बाकी है। भारत में

जागरूक जनमत का निर्माण स्वतंत्र एवं निर्भीक प्रचार-प्रसार माध्यमों का विकास सशक्त विरोधी दल और स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना हेतु आवश्यक प्रयास अभी शेष हैं। इन क्षेत्रों मे भारत की सफलता के अभाव में लोकतान्त्रिक प्रशासन की कल्पना नहीं की जा सकती है।

लोकमत और प्रशासकीय नियंत्रण का अभिकरण

इस सम्बन्ध म याद रखने योग्य पहली बात यह है कि लोकमत की व्याख्या करना कोई आसान काम नहीं है। कुछ विद्वानों ने लोकमत के अस्तित्व मे सन्देह किया है। उदाहरणार्थ वाल्टर लिपमन के अनुसार 'लोकमत केवल अभास (प्लेटफार्म) मात्र है। उसी प्रकार हेराल्ड जे लास्की ने लोकमत की वास्तविकता में सन्देह प्रगट करते हुए यह कहा है कि यह बताना कठिन है कि लोकमत का सम्बन्ध जनसाधारण से है अथवा नहीं अथवा एक राय भी है या नही । वास्तव में लोकमत में स्पष्टता तथा निश्चयात्मकता का नितान्त अभाव होता है। इसके अतिरिक्त कभी शोर मचाने वाला अल्पदल भी अपनी राय को इस प्रकार प्रस्तुत करता है मानो वही बहुसख्यकों की राय हो। अत ऐसी स्थिति मे लोकमत का एक बड़ी सीमा तक आश्रय नहीं लिया जा सकता है।

इतना होते हुये भी लोकमत के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता । बहुत-सी स्थितियाँ ऐसी होती हैं जिसमें कि जनता अपनी तन्द्रा अथवा सुव्यवस्था को त्याग देती है तथा प्रशासन के लिए निर्णायक कारको को जन्म दे सकती है। इसको मान लेने के बाद भी प्रश्न यह उठता है कि लोकमत को जाना कैसे जाय? अमेरिका मे लोकमत का पता लगाने के लिए कुछ नए तरीके अपनाए गए हैं। उसम से (ओपीनियन पोल) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इन तरीको की उपयोगिता बहुत सीमित है और न इन तरीको से लोकमत का पता ही ठीक प्रकार से लगाया जा सकता है। कुछ विद्वानो ने यह भी कहा है कि— लोकमत को जानने की सर्वोत्तम विधि यह है कि इन लोगों की राय मालूम की जाय जिन्हें जनसाधारण का विश्वास प्राप्त है। साधारण नागरिक तो लोक परक विषयों पर कभी भी विचार भी नही करता। वह तो आँख बन्द करके अपने नेताओं की सम्मति को अपनी सम्मति मान लेता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकमत प्रशासकीय नियंत्रण के अभिकर्ता के रूप मे बहुत अधिक विश्वस्त न होते हुए भी अवहेलना के योग्य नहीं है। प्रशासन में उसकी एक निश्चित भूमिका है। यद्यपि यह भूमिका केवल नकारात्मक है। अत आधुनिक सरकारों का लोकमत से सम्पर्क बनाये रखने का प्रयास प्रत्येक दृष्टिकोण से उचित ही है।

❑❑❑

अध्याय–9

नौकरशाही की भूमिका

आज विश्व के अधिकाश देश लोकतान्त्रिक राज्य हैं। जहाँ जनता स्वय अपने प्रतिनिधियो के माध्यम से शासन करती है। प्रतिनिधियो का चयन जनता द्वारा एक निश्चित समय के लिए किया जाता है। सभी राज्य जनहित म अधिक से अधिक कार्य करना चाहते हैं। राज्य को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक वृहत् सेवी वर्ग प्रशासन तत्र की आवश्यकता हाती है। यह सवी वर्ग प्रशासन व्यावसायिक होता है। इसे स्थायी प्रशासन के रूप म जाना जाता है। आज सरकार का सचालन और लोक कल्याणकारी आदर्शो का क्रियान्वयन सेवी वर्ग प्रशासन की कुशलता याग्यता कर्त्तव्य निष्ठा, सतर्कता तथा ईमानदारी पर निर्भर है। कर्मचारियों की इसी असैनिक सेवा को जा स्थायी वैज्ञानिक और कार्यकुशल अधिकारियो का समूह हाती है लोक सेवा कहा जाता है।

सामान्यजन लोकसेवा को नौकरशाही अथवा ब्यूरोक्रेसी के नाम से सम्बोधित करते हैं। ब्यूराक्रसी अथवा नौकरशाही का शाब्दिक अर्थ है– एक सरकार अथवा ब्यूरो द्वारा सरकार है। यह शब्द लोक प्रशासन मे काफी बदनाम है। जब लोक सेवा की कार्यप्रणाली म अकार्यकुशलता अमानवीय दृष्टिकोण लालफीताशाही देरी जटिलता धीमापन लक्ष्य और साध्य की अपेक्षा साधन पर अधिक बल दिया जाने लगता है, तब उसे नौकरशाही की सज्ञा दी जाती है। यह शब्द प्राय स्वेच्छाचारिता अपव्यय कार्यालय की कार्यवाही म तानाशाही के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

सक्षेप म कहा जा सकता है कि जब लाक सेवाओं क कर्मचारी अपने पद के उत्तरदायित्वा का निर्वाह करते हुए एक विशष प्रकार का आचरण करते हैं तो उसे नौकरशाही कहा जाता है। व्यापक अर्थो मे नौकरशाही का कोई ऐसी सेवीवर्ग व्यवस्था कही जा सकती है जिसमें सम्भागो विभागों और ब्यूरो आदि के पद सोपान होते हैं। यदि हम इस शब्द को मर्यादित अर्थ म प्रयुक्त कर तो यह कहना होगा कि यह लोक सेवको का एसा निकाय है जो पद सोपान की व्यवस्था म सगठित होता है और प्रभावशील सार्वजनिक नियत्रण के बाहर रहता है।

बदनाम होते हुए भी नौकरशाही शब्द का कभी-कभी उचित अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है। नौकरशाही का अधिकारी एक एसा व्यक्ति हाता है जिसके पास अनुभव ज्ञान और उत्तरदायित्व है। नौकरशाही प्रत्येक प्रशासन का एक अपरिहार्य अग हाती है। सरकार

द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति जितनी राजनीति द्वारा की जाती है उतनी ही प्रशासन द्वारा भी की जाती है।

सर्वप्रथम अठारहवीं शताब्दी के मध्य मे दि गार्ने नामक एक फ्रासीसी विचारक ने नौकरशाही शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग शिकायत के रूप में किया था। उनके शब्दों में – "फ्रास मे एक नई बीमारी ने जन्म लिया है जो हमारे लिए भयकर मुसीबत बन सकती है। इस बीमारी का नाम है ब्यूरोमेनिया।" इसके बाद मॉरका मिशल्स मैक्स वेबर समाजशास्त्री आदि ने कई प्रकार से इस शब्द का प्रयोग किया।

नौकरशाही का अर्थ एव परिभाषाएँ

नौकरशाही शब्द का प्रयोग देश और काल के अनुसार बदलता रहा है। यूरोपीय देशो में इस शब्द का प्रयोग साधारणत नियमित सरकारी कर्मचारियो के समूह के लिए काम मे लिया गया है। जॉन ए बीका के शब्दो मे – "नौकरशाही उन व्यक्तियो के लिए सामूहिक पद है-जो सरकार की सेवाओं मे होते हैं।"

मैक्स वेबर ने नौकरशाही को प्रशासन की एक ऐसी व्यवस्था माना है जिसकी विशेषता होती है– विशेषज्ञता निष्पक्षता और मानवता का अभाव।

पिफ्नर के कथनानुसार– नौकरशाही कार्यों और व्यक्तियो का एक ऐसे रूप मे व्यवस्थित सगठन है, जो अधिकतम प्रभावशील रूप में सामूहिक प्रयासो के लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ग्रथ के अनुसार "जिस प्रकार तानाशाही का अर्थ तानाशाह का तथा प्रजातत्र शासन का अर्थ जनता का शासन होता है। उसी प्रकार ब्यूरोक्रेसी का अर्थ ब्यूरो का शासन है।"

रॉबर्ट् सी स्टोन के अनुसार "इस पद का शाब्दिक अर्थ कार्यालय द्वारा शासन या अधिकारियो द्वारा शासन है। सामान्यत इसका प्रयोग दोषपूर्ण प्रशासनिक समस्याओ के सदर्भ मे किया जाता है।"

प्रो लास्की ने लिखा है–"नौकरशाही का आशय उस व्यवस्था से है जिसका पूर्णरूपेण नियत्रण उच्च अधिकारियों के हाथो में होता है और जो इतने स्वेच्छाचारी हो जाते हैं कि उन्हें नागरिकों की निन्दा करते समय भी सकोच नहीं होता है।"

पॉल एच एपलबी ने नौकरशाही का वर्णन इस प्रकार किया है – "नौकरशाही तकनीकी दृष्टि से कुशल कर्मचारियों का एक व्यावसायिक वर्ग है जिसका सगठन पद सोपान कार्यो के विशेषीकरण तथा उच्च स्तरीय क्षमता से युक्त सगठन है जिन्हें इन पदो पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।"

मार्क्स के अनुसार – नौकरशाही शब्द का प्रयोग निम्नलिखित चार अर्थो मे किया जाता है –

हरमनफाइनर ने नौकरशाही को सरकारी अधिकारियो का शासन माना है।

1 एक विशेष प्रकार के संगठन के रूप मे-पिफनर ने नौकरशाही की परिभाषा की है जो उसे संगठन के रूप म स्पष्ट करती है। इस अर्थ म- "नौकरशाही को लोक प्रशासन के संचालन के लिए सामान्य रूप रेखा माना जाता है। ग्लडन ने भी नौकरशाही को इसी रूप मे परिभाषित किया है- "यह एक एसा विनियमित प्रशासन तंत्र है जो अन्त सम्बन्धीय पदो की श्रृंखला के रूप म संगठित होता है।" जर्मन के प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने नौकरशाही का विस्तृत विश्लेषण करत हुए नौकरशाही संगठन की निम्नलिखित विशेषताएँ गिनायी है -

1 संगठन के प्रत्येक सदस्य को कुछ विशेष कर्तव्य सौपे जाते है।
2 सत्ता का विभाजन कर लिया जाता है ताकि प्रत्येक सदस्य उसे सौपे गए कार्यों को पूरा कर सके।
3 इन कार्यों का नियमित पालन करने के लिए उचित प्रबन्ध किया जाता है।
4 संगठन की रचना पदसोपान के आधार पर की जाती है।
5 लिखित अभिलेखो और दस्तावेजो को अधिक महत्व दिया जाता है।
6 संगठन के लेन-देनो पर नियंत्रण रखने के लिए नियमो की रचना की जाती है।
7 कर्मचारियो की भर्ती और प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

2 अच्छे प्रबन्ध में बाधक एक व्याधि-नौकरशाही शब्द अनेक दुर्गुणो और कठिनाइयो का प्रतीक है। नौकरशाही का व्यावहारिक रूप कठोर यन्त्रवद्ध कष्टमय अमानुषिक औपचारिक तथा आत्मारहित होता है। प्रो लास्की के मतानुसार "नौकरशाही मे ऐसी विशेषताएँ होती हैं जिनके अनुसार प्रशासन मे नियमित कार्यों पर जोर दिया जाता है निर्णय लेने मे पर्याप्त देरी की जाती है और प्रयोगो को हाथ मे लेने से इन्कार कर दिया जाता है।" ये सब बाते संगठन के अच्छे प्रबन्ध की बाधक मानी जा सकती है।

3 बड़ी सरकार का रूप-राज्य के कर्तव्य और दायित्व आज इतने बढ़ गये है कि इनको सम्पन्न करने के लिए विभिन्न संस्थाएँ अनिवार्य है। विभिन्न आर्थिक राजनीतिक एव व्यापारिक संस्थाएँ अपने बड़े आकार के साथ ही उद्देश्यो की पूर्ति का प्रयास करती है। यह बड़ा आकार नौकरशाही का मूलभूत कारण है। पिफनर तथा प्रीस्थस के कथनानुसार - "जहाँ भी बड़े पैमाने का उद्यम होता है नौकरशाही अवश्य मिलती है। आज सरकार को हर प्रकार के कार्यो को इतने विस्तृत रूप मे सम्पन्न करना पड़ता है कि वह सभी को प्रत्यक्ष रूप से कर सकने म असमर्थ है। इसी कारण नागरिको और मंत्रियो के बीच एक नई प्रकार की मध्यस्थ शक्ति उदित हो गई है। यह शक्ति उन लिपिको की है जो राज्य के लिए पूर्णत अज्ञात होती है। ये लोग मंत्रियो के नाम पर बोलते है और लिखते है और उन्ही की तरह पूर्ण और निरपेक्ष शक्ति रखते है। यह अज्ञात रहने के कारण नागरिको की जाच से बचे रहते है।"

4 स्वतन्त्रता विरोधी–नौकरशाही का उद्देश्य स्वय की उन्नति समझा जाता है। लास्की के अनुसार–"यह सरकार की एक ऐसी प्रणाली है जिसका नियन्त्रण इतने पूर्ण रूप से अधिकारियो के हाथ मे रहता है कि उनकी शक्ति को सकट में डाल देती है।"

नौकरशाही के उक्त विभिन्न प्रयोग उसके अर्थ को स्पष्ट करने मे पर्याप्त सहायता करते हैं। अमरीकी एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार– "नौकरशाही सगठन का वह रूप है जिसके द्वारा सरकार ब्यूरो के माध्यम से सचालित होती है। प्रत्येक ब्यूरो कार्य की एक विशेष शाखा का प्रबन्ध करता है। प्रत्येक ब्यूरो सगठन पद सोपान से मुक्त होता है। इसके शीर्ष पर अध्यक्ष होता है जिसके हाथ में सारी शक्तियाँ रहती हैं। नौकरशाह प्राय प्रशिक्षित और अनुभवी प्रशासक होते हैं। वे बाहर वालो से बहुत कम प्रभावित होते हैं। उनमे एक जातिगत भावना होती है तथा वे लालफीताशाही एव औपचारिकताओ पर अधिक जोर देते हैं।"

डयूविन के मतानुसार– "नौकरशाही तब अस्तित्व में आती है जब कि निदेशन के लिए बहुत सारे लोग होते है। ज्यो-ज्यों सगठन का आकार बढ़ता है त्यो-त्यों यह जरूरी हो जाता है कि निदेशन के कुछ कार्य हस्तान्तरित कर दिए जाये। यह नौकरशाही के उदय की पहली शर्त है।

नौकरशाही का स्वरूप प्रत्येक राष्ट्र मे भिन्न होता है क्योंकि यह यहाँ के समाज की सस्थाओ तथा मूल्यों को अभिव्यक्त करता है। नौकरशाही की एक सामान्य विशेषता यह है कि यह परिवर्तन का विरोध और शक्ति की कामना करती है। मैक्स वेबर ने बडे आकार के सगठन का एक आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। यह आदर्श प्रतिमान अनुसधान का एक प्रभावशाली साधन है तथा नौकरशाही के विश्लेषण को प्रारम्भ करने का स्थल है। मेक्स वेबर ने इसमे निम्नलिखित विशेषताओ का वर्णन किया है–

चार्ट–1 नौकरशाही की विशेषताएँ

मैक्स वेबर आदर्श मॉडल के अनुसार
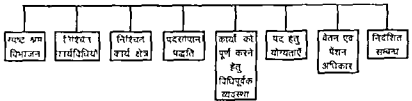
1 स्पष्ट श्रम विभाजन–नौकरशाही मे सगठन के सभी कर्मचारियो के बीच कार्य का सुनिश्चित तरीके से स्पष्ट वितरण किया जाता है तथा प्रत्येक कर्मचारी को अपना कार्य प्रभावकारी तरीके से सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है।

2 निश्चित कार्यविधियाँ–नौकरशाही सगठन में कार्यविधिया पूर्णतया निश्चित रहती है। सगठनो के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए जो भी क्रियाएँ करनी होती हैं उनकी

रीतियाँ पूर्व निर्धारित होती हैं। सम्पूर्ण कार्य पूर्व निर्धारित नियमानुसार किए जाते है। य नियम और प्रक्रिया कुल मिलाकर स्थिर और व्यापक होती हैं। विशेष जोर इस बात पर दिया जाता हे कि कार्यकुशलता एक-सी बनी रहे लक्ष्य का औचित्य निदेशित तरीकों से सिद्ध किया जाता रहे इसका व्यवहार भी नियमो के अन्तर्गत एक स्थित अनुशासन और नियत्रण के अन्तर्गत होना चाहिए।

3 निश्चित कार्यक्षेत्र—नौकरशाही मे सगठन के कार्यों को पूरा करने के लिये जिन आदेशो की आवश्यकता होती है उसको जारी करने वाल पदाधिकारियों के कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार कार्यक्षेत्रो का दृढता से पालन किया जाता है। कोई भी पदाधिकारी अपने निर्धारित क्षेत्र का उल्लघन करने का साहस नही करता है।

4 पद सोपान पद्धति—नौकरशाही पदसोपान पद्धति पर आधारित होती है। इस व्यवस्था मे अधीनस्थ और उच्चस्थ कर्मचारी सम्बन्ध पाया जाता है। इसके साथ आदेश की एकता का पालन किया जाता है। हर आदेश ऊपर स नीचे की ओर प्रसारित होता है। सगठन की सरचना एक पिरामिड की भाँति है। उच्चतम और निम्नतम अधिकारियो के बीच कई सस्थाएँ होती हैं। हर कार्य उचित माध्यम द्वारा ही होता है।

5 कार्यों को पूर्ण करने हेतु विधिपूर्वक व्यवस्था—नौकरशाही में कार्यों को नियमित रूप से पूरा करने क लिए विधिपूर्वक व्यवस्था की जाती है। कार्य-पूर्ण क्षमता द्वारा सम्पादित किए जाने के लिए व्यक्तियो की नियुक्ति योग्यतानुसार की जाती है।

6. पद हेतु योग्यताएँ—नौकरशाही मे प्रत्यक पद के लिए योग्यताएँ निर्धारित होती हैं। केवल उन्हीं व्यक्तियों का नियुक्त किया जाता है, जो कार्यकुशल हो और सरकारी कार्यों को श्रेष्ठ ढग से कर सकने की योग्यता रखते हो। यह व्यवस्था केवल भर्ती हेतु ही नहीं वरन् सगठन मे कर्मचारी की पदोन्नति हेतु भी अपनाई जाती है।

7 वेतन एवं पेन्शन अधिकार—नौकरशाही मे सगठन की आय के आधार पर कर्मचारियो का वेतन तय किया जाता है। वेतन निर्धारित करते समय पदसोपान मे उसका स्तर, पद के दायित्व सामजिक स्थिति आदि बातों को ध्यान में रखकर तय किया जाता है।

8 निदेशित सम्बन्ध—नौकरशाही म कर्मचारियों के बीच सम्बन्ध निदेशित होता है। यह सम्बन्ध अधिकारी और अधीनस्थ के होते है और व्यक्तिगत सम्बन्धो भावनाओं से परे होते हैं। निर्णय औचित्य के आधार पर किया जाता है व्यक्तिगत आधार पर नहीं। यद्यपि वास्तविक परिस्थितियो मे इस प्रकार का गैर-व्यक्तिगत दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता तो भी मैक्स वेबर का दृढ मत है कि नौकरशाही औचित्यपूर्ण निर्णयो के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

रेम्स हार्ट बेराडिक्स न नौकरशाही के निम्नलिखित सात लक्षण बताये है—

1 स्पष्ट दायित्व बाटने में असफलता

2 कठोर नियम एव दिनचर्या

3 गलती करने वाले अफसर
4 धीमी कार्य गति एव दूसरो पर दोषारोपण
5 परस्पर विरोधी निदेश
6 पूर्ण प्रभुत्व कायम करना
7 कतिपय लोगों के हाथो मे सत्ता केन्द्रीकरण।

नौकरशाही की आधुनिक अवधारणा को दो दृष्टिकोणो – सरचनात्मक एव कार्यात्मक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सरचनात्मक दृष्टिकोण द्वारा नौकरशाही को एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था माना गया है जिसमें पदसोपान, विशेषीकरण योग्य कार्यकर्त्ता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं। कार्यात्मक दृष्टिकोण मे नौकरशाही का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्था की अन्य उपव्यवस्थाओं पर नौकरशाही पर पडने वाले प्रभाव का अध्ययन आता है। नौकरशाही भी इस सामान्य सामाजिक व्यवस्था का एक भाग होती है।

सक्षेप में "नौकरशाही" शब्द के विभिन्न प्रयोगों और अर्थो को देखकर यह कहा जा सकता है कि नौकरशाही शब्द अस्पष्ट है और अनेक अर्थ लिए हुये है।

नौकरशाही के विकास के स्रोत

नौकरशाही के विकास के लिए उत्तरदायी अनेक परिस्थितियाँ अथवा स्रोत हैं। जिनमें से कुछ का वर्णन नीचे दिया जा रहा है–

1 **सगठनात्मक एवं कानूनी स्रोत**–सगठन में आकार की वृद्धि के कारण नौकरशाही का विकास स्वाभाविक बन गया है। बडी सेवाएँ और बडे आकार के सरकारी सगठनों में पदसोपान का होना बहुत आवश्यक होता है। पदसोपान बनने के बाद धीरे-धीरे उसमें विशेषीकरण एव औपचारिकताओ का विकास होने लगता है और यही सब मिलकर नौकरशाही बन जाती है।

2 **बौद्धीकरण एव विशेषीकरण**–जब सगठन में श्रम विभाजन किया जाता है और प्रशासकीय तत्र का विकास होता है तो सगठन मे सत्ता की अव्यक्तिगत धारा और सचार का मार्ग बनने लगता है। तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा जो प्रक्रियाएँ एव व्यवस्थाएँ विकसित की जाती हैं वे कुछ समय बाद अपने आप में लक्ष्य बन जाती हैं। यह नौकरशाही के विकास के लिए एक अन्य परिस्थिति है।

3 **मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक**–लोगों मे सुरक्षा और व्यवस्थापूर्ण जीवन की इच्छा होती है ये नौकरशाही प्रवृत्तियों के विकास का कारण बनती है। जैनिग्ज के शब्दो में – "अधिकारी नियमो एव प्रक्रियाओ द्वारा अपने वातावरण को नियन्त्रित करके सुरक्षा की खोज करते हैं।" इस सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त बनाए जा सकते हैं तथा अनेक सास्कृतिक व्याख्याएँ सम्भव हैं। प्राचीन समाजों एव नवीन वैज्ञानिक समाजों में नागरिक सेवा के विकास का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि जिस समाज मे परम्पराओ और रीति-रिवाजो का आदर किया जाता है वहा नौकरशाही का

विकास सुगमतापूर्वक होता है। यह आदर धार्मिक सैनिक राजनीतिक अथवा दार्शनिक किसी भी प्रकार की परम्परा के लिए हो सकता है।

4 **तकनीकी विकास**—यह कहा जाता है कि नौकरशाही का विकास उस समय तक नही हो सकता है जब तक उसकी कुछ पूर्व आवश्यकताएँ पूर्ण न हो जाएं। पूर्व आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कोई बात नहीं कही जा सकती है। फिर भी कुछ बातो का उल्लेख किया जा सकता है। जैसे-- नौकरशाही के विकास के लिए एक स्थायी कर व्यवस्था होनी चाहिए ताकि नौकरशाही के संचालन हेतु पर्याप्त धन उपलब्ध हो सके दूसरा समाज मे कानून के पालन की आदत हो तथा पूर्णतया शांति व्यवस्था हो। लोग नौकरशाही के नियमो का पालन उस समय तक नहीं करेंगे जब तक वे कानून और नियमो का सम्मान नही करते।

5 **उपयुक्त कार्यों का होना**—नौकरशाही के विकास के लिए ऐसे कार्यों का होना नितांत आवश्यक है जिनमे विशेषज्ञता तकनीक प्रशासको पदसोपानों तथा सेवाओ को दोहराने की आवश्यकता हो। इनके अभाव म प्रशासन मे नौकरशाही नही आ पाती है।

उक्त विवचन से स्पष्ट है कि नौकरशाही अपने विकास हेतु विभिन्न स्रोतो से प्रेरणा लेती है। नौकरशाही बड़े स्तर के प्रशासन की आवश्यकता है। यह एक बुद्धिपूर्ण व्यवस्था है और अधिकतम परिणाम उत्पन्न कर सकती है। इसके द्वारा तकनीकी ज्ञान का शासन स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। किसी भी आधारभूत सरकार का मूलमंत्र नौकरशाही पूर्णप्रशासन है।

नौकरशाही की विशेषताएँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है नौकरशाही लोक प्रशासन मे काफी बदनाम हो चुका शब्द है जो लोक सेवाओ के दोषों की ओर ही संकेत करता है। नौकरशाही व्यवस्था मे कर्मचारी अपने को जनता का सेवक न मानकर स्वामी मानता है। पदसोपानों की संख्या अधिक होने, प्रत्येक कार्य का उचित माध्यम द्वारा सम्पादित किया जाने कार्य मे देरी होने से वहाँ लालफीताशाही का बोलबाला रहता है। नियमो का कठोरतापूर्वक पालन किया जाना भी शीघ्र कार्य सम्पादन के मार्ग म बाधक होता है। नौकरशाही मे आपचारिकताओं पर अधिक जोर दिया जाता है। जनता के साथ नौकरशाही सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकती है। फिर भी नौकरशाही मे निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं इन्हे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है—

1 **कार्यों का बुद्धिपूर्ण विभाजन**—मैक्स वेबर के नौकरशाही आदर्श मॉडल को देखने से ज्ञात होता है कि नौकरशाही में बौद्धिकता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे प्रशासनिक संगठन में प्रत्येक पद को कानूनी सत्ता प्रदान की जाती है ताकि वह अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सके। बुद्धिपूर्ण श्रम विभाजन किया जाता है। फ्रेडरिक डायर तथा जॉन डायर के कथनानुसार— "नौकरशाही मे कार्य तथा उत्तरदायी के क्षेत्र कठोरता के साथ परिभाषित विशेषीकृत और उपविशेषीकृत कर दिए जाते हैं।

चार्ट–2 नौकरशाही की विशेषताएँ
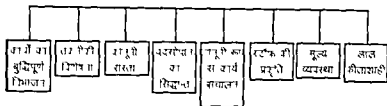
2 **तकनीकी विशेषता**–नौकरशाही की महत्त्वपूर्ण विशेषता तकनीकी विशेषीकरण है। नौकरशाही के जन्म का एक कारण यह भी है कि एक विशेष कुशलता में प्रशिक्षित उसे बार-बार दोहराने वाला तथा अपने पद को ही जीवन मानने वाला अधिकारी एक विशेष प्रकार के कार्य में दक्ष बन जाता है। यह विशेषीकरण इस तथ्य द्वारा और भी अधिक बढ़ा दिया जाता है कि जन सेवा में प्रवेश हेतु और प्रगति हेतु एक विशेष कार्य में तकनीकी तैयारी एवं अनुभव आवश्यक है। इस प्रकार नौकरशाही विशेषीकरण का कार्य एवं परिणाम दोनों है।

3 **कानूनी सत्ता**–नौकरशाही की तीसरी विशेषता यह है कि संगठन में अधिकारी कानून पर आधारित सत्ता प्राप्त करते हैं। कानून के अन्तर्गत ही प्रत्येक अधिकारी कार्य सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी होता है क्योंकि अधिकारी को कुछ बाध्यकारी साधन प्रदान किए जाते हैं।

4 **पदसोपान का सिद्धान्त**–नौकरशाही की चौथी विशेषता संगठन में पदसोपान का सिद्धान्त है। संगठन में कुछ स्तर होते हैं। इन स्तरों पर शीर्षस्थ नेतृत्व मध्यवर्ती प्रबन्ध व्यवस्था पर्यवेक्षक एवं कार्यकर्ता तथा निम्नस्तरीय व्यवस्था के पदसोपान बना दिये जाते हैं।

5 **कानूनी रूप से कार्य संचालन**–नौकरशाही में सरकारी अधिकारी कानूनी रूप से कार्य करते हैं और इसीलिए संगठन में लोचहीनता बढ़ जाती है। सरकारी अधिकारियों का व्यवहार कानून के शासन से सम्बन्धित रहता है। इसलिए व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रशासनिक कार्य स्वेच्छा अथवा व्यक्तिगत निर्देश पर आधारित रहने की अपेक्षा परम्पराओं पर आधारित रहते हैं। प्रशासनिक कानून नियम निर्णय आदि लिखित रूप में बनाए और रिकार्ड किए जाते हैं। विभिन्न अधिकारी शक्ति का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं तो भी उनके बीच सामन्जस्य रहता है।

6 **स्टॉफ की प्रकृति**–नौकरशाही व्यवस्था की छठी विशेषता स्टॉफ की प्रकृति है। इसमें स्टॉफ का एक परिभाषित क्षेत्र एवं स्थिति होती है। ये अधिकारी तकनीकी योग्यताओं के आधार पर नियुक्त किए जाते हैं। इनका आपसी सम्बन्ध स्वतन्त्र और समझौतापूर्ण होता है। सभी अधिकारी अधीनस्थ कर्मचारी अपने पद को आजीवन सेवा के रूप में ग्रहण करते हैं। ये सभी कर्मचारी अपनी स्थिति या पद के स्वामी नहीं होते

हैं। वे मूल रूप से कार्य के बदले वेतन प्राप्त करते हैं अत भाडे पर रखे गये लोग होते है। सगठन मे व्यक्ति के स्थान पर कार्य को नियन्त्रित किया जाता है। उसी का भुगतान किया जा सकता है। यह भी आवश्यक है कि एक व्यक्ति अपने को कार्य के अनुरूप ढाले।

7. मूल्य व्यवस्था—नौकरशाही की सातवीं विशेषता मूल्य व्यवस्था है। प्रशासक अपने साथियो के प्रभावपूर्ण मतों, सास्कृतिक मूल्यो से मर्यादित होते हैं। वे सगठन में अपने कार्यों के अनुरूप मूल्य व्यवस्था कर लेते है। इस प्रकार अधिकारियो का दृष्टिकोण ही उनके कार्यों को प्रभावित करता है। वे अपनी व्यावसायिक योग्यताओं पर बल देकर नैतिक बल को ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। नौकरशाही का अस्तित्व ही उनकी विशेष योग्यता तथा तदनुसार कार्य करने पर निर्भर करता है। नौकरशाही में स्वामी भक्ति देखने को मिलती है जो किसी व्यक्ति के प्रति न होकर अव्यक्तिगत कार्यों के प्रति होती है। सिद्धान्त में नौकरशाही तटस्थ है। परन्तु व्यवहार में उस पर राजनीतिक संस्था आदि का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि नौकरशाही स्थिति में एक कार्यालय होता है जो कि एक आजीवन व्यवसाय है। कार्यालय से अलग होने पर नौकरशाही के पास एक साधारण व्यक्ति की भाँति ही शक्तियाँ होती हैं। उसके सारे अधिकार एव सत्ता केवल कार्यालय मे थे।

8. लालफीताशाही—नौकरशाही की आठवीं विशेषता लालफीताशाही है। लालफीताशाही को हम नियमों, विनियमों के पालन में आवश्यकता से अधिक बारीकी की प्रवृत्ति कह सकते है। लालफीताशाही में वृद्धि प्रशासन के लचीलेपन को समाप्त कर देती है। फलत प्रशासकीय निर्णयो में देरी होती है। प्रशासकीय कार्यों के सचालन में सहानुभूति सहयोग आदि का महत्व समाप्त हो जाता है। लालफीताशाही नौकरशाही को कठोर यन्त्रवत् और अत्यन्त औपचारिक कार्यविधि बना देती है।

कार्ल जे फ्रेडरिक ने नौकरशाही के निम्नलिखित छ लक्षण बतलाये हैं—

1 कार्यों का विभिन्नीकरण
2 पद के लिए योग्यताएँ
3 पद सोपान क्रम का सगठन तथा अनुशासन
4 कार्यरीति की वस्तुनिष्ठा
5 लालफीताशाही
6 प्रशासकीय कार्यो के सम्बन्ध में गुप्तता

नौकरशाही के प्रकार

कार्ल मार्क्स ने नौकरशाही को निम्नांकित रूप में चार भागो में विभक्त किया है—

1 अभिभावक नौकरशाही
2 जातीय नौकरशाही

3 सरक्षण नौकरशाही

4 योग्यता एव गुणे पर आधारित नौकरशाही

1 अभिभावक नौकरशाही–ऐसी नौकरशाही जो एक अभिभावक का दायित्व निर्वाह करते हुए जनहित मे कार्य करती है अभिभावक नौकरशाही कहलाती है। प्लेटो के आदर्श राज्य की योजना ऐसी नौकरशाही का प्राचीन उदाहरण है। आधुनिक युग मे चीन तथा प्रशा की राजनीति को ऐसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इसके अन्तर्गत शक्तियाँ उन लोगो को सौंप दी जाती हैं जो राज्यों में वर्णित आचरण से परिचित होते हैं। ये नागरिक सेवक लोकमत से स्वतत्र रहने पर भी अपने आपको लोकमत का रक्षक मानते थे। अधिकारपूर्ण एव अनुत्तरदायी होते हुए भी कार्यकुशल योग्य, व्यवहारपूर्ण एव परोपकारी होते थे। कार्ल मार्क्स ने चीनी नौकरशाही (चुग काल के उदय से 960 तक) और प्रशा की नौकरशाही (1600 से 1950 तक) को अभिभावक नौकरशाही कहा है।

चीन की अभिभावक नौकरशाही मे निम्न विशेषताएँ थीं –

1 प्रशासकों का चयन में प्राचीन ग्रन्थों का प्रभाव

2 प्रशासकीय आचरण का स्रोत एव आधार प्राचीन ग्रन्थ

3 परम्परावादी और रूढ प्रवृत्ति

4 जनहित की समस्याओ से उदासीन (प्रशा की अभिभावक नौकरशाही मे)

5 राज्य के हित में समर्पित

6 एकीकृत एव सतुलित प्रजातान्त्रिक व्यवस्था

7 शिक्षित एव योग्य प्रशासक

8 सजग राजतत्र के मूल्यों के अनुरूप

9 जनभावावेशों के प्रति अनुत्तरदायी

कार्ल मार्क्स ने इस प्रकार की नौकरशाही के सदर्भ में कहा है कि यह विद्वान् अधिकारीगण होते हैं जो शास्त्रोक्त आचरण में दीक्षित होते हैं।

2. जातीय नौकरशाही–इस प्रकार की नौकरशाही एक वर्ग विशेष पर आधारित होती है। उच्च वर्ग अथवा जाति वाले लोग ही सरकारी अधिकारी बनाए जाते हैं। ऐसी नौकरशाही में ऐसी व्यवस्था की जाती है कि केवल उच्च वर्ग के अधिकारी ही प्रवेश पा सकें। उदाहरणार्थ प्राचीन भारत में केवल क्षत्रीय और ब्राह्मणों को ही यह अवसर प्रदान किया जाता था। मार्क्स के अनुसार, जब किसी पद विशेष के लिए ऐसी योग्यताएँ निर्धारित कर दी जाती है तो केवल विशेष वर्ग को ही स्थान मिलता है और नौकरशाही का यह रूप प्रकट होता है। प्रो विलोबी इसे कुलीन तत्र कहते हैं। ब्रिटिश शासनकाल में नौकरशाही का यह रूप भारत में प्रचलित था। पॉल एच एपलबी के अनुसार, आज भी भारत में नौकरशाही का यह रूप विद्यमान है। उनका कहना है कि यहाँ कर्मचारी पृथक वर्गों और विशिष्ट सेवाओं में बट गये हैं तथा उनके बीच एक बडी दीवार बन गई है। कार्ल मार्क्स ने जातीय नौकरशाही के उदाहरणों में जापान के मेजी सविधान के अन्तर्गत नौकरशाही एव रोमन साम्राज्य का वर्णन किया है। इस नौकरशाही की विशेषताएँ हैं–

1 शैक्षणिक योग्यता अनिवार्य,
2 पद एव जाति म अन्त सम्बन्ध
3 सेवा अथवा पद का एक परिवार से जुड जाना
4 दोषपूर्ण समाज व्यवरथा का प्रतीक।

3 **सरक्षण नौकरशाही**—नौकरशाही के इस रूप को लूट प्रणाली कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत सरकारी पद व्यक्तिगत कृपा या राजनीतिक पुरस्कार के रूप म प्राप्त किए जाते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक यह प्रणाली ग्रेट ब्रिटेन म प्रचलित थी। इस अमीरो को लाभ प्रदान करने के लिए काम म लाया जाता था। राजनीतिक दल स प्रभावित सयुक्त राज्य अमेरिका म यह प्रणाली सन् 1829 स 1883 तक प्रभाव में रही। फिर भी किसी प्रकार क नैतिक अवरोध सामने नहीं आय।

सरक्षण नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएँ हैं –

1 कर्मचारियो की भर्ती करत समय उनकी शैक्षणिक अथवा व्यावसायिक योग्यता को महत्त्व नहीं दिया जाता है।
2 लोकसेवाओं के सत्तारूढ दल के कार्यक्रमो एव नीतियों क अनुरूप कार्य करने की अपेक्षा की जाती है।
3 लोक सेवा का कार्यकाल निश्चित एव सुरक्षित नहीं होता है लोक सेवक अपन पद पर तब तक बने रहते हैं जब तक उन्हें सत्तारूढ दल का सरक्षण प्राप्त होता है।
4 लोकसेवको का प्रमुख कार्य राजनीतिक नेतृत्व को प्रसन्न करना है। इस प्रकार की नौकरशाही राजनीतिक दृष्टि से तटरथ नहीं रह सकती है।

4 **योग्यता एवं गुणों पर आधारित नौकरशाही**—इस प्रकार की नौकरशाही का आधार सरकारी कर्मचारियो की योग्यता एव गुण होते हैं। य गुण कार्यकुशलता की दृष्टि स निर्धारित किए जाते हैं। अधिकारियों की नियुक्ति उनकी योग्यता के आधार पर की जाती है। गुण एव योग्यता का निर्धारण खुली प्रतियोगिता एव किसी निष्पक्ष अभिकरण द्वारा किया जाता है। आजकल विश्व के सभी देशों द्वारा इस प्रकार की नौकरशाही अपनायी गयी है। यह प्रणाली प्रजातत्र क अनुकूल है। इस व्यवस्था में कर्मचारी किसी व्यक्ति या राजनीतिक दल का आभारी नहीं होता है क्योकि उसने सरकारी पद अपनी योग्यता एव बुद्धिमता से प्राप्त किया है। आज लोकसेवक केवल उन लोगों की सेवा में नियुक्त एक अधिकारी है। उसकी नियुक्ति एक निश्चित उद्देश्य क लिए की जाती है। इस प्रकार की नौकरशाही की निम्न विशेषताएँ हैं –

1 योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ की जाती हैं। नियुक्तियों के लिए लिखित परीक्षाओ का आयोजन किया जाता है।
2 निश्चित एव सुरक्षित सेवाकाल होता है।
3 नियमानुसार वेतनमान निर्धारित किया जाता है।

4 लोकसेवक निष्पक्षतापूर्वक अपनी योग्यता द्वारा कार्य का सम्पादन करते हैं।

5 उद्देश्य अनुसार कार्य किया जाता है।

6 लोकसेवक की नियुक्ति असंरक्षात्मक तरीके से होने के कारण किसी संरक्षक के उपकार की आवश्यकता नही होती है।

भारतीय नौकरशाही की विशेषताएँ

स्वतत्र भारत का प्रशासनिक स्वरूप ब्रिटिश शासनकाल की विरासत है। अत भारत मे उपनिवेशकालीन ब्रिटिश राज्य की सर्वोपरी नौकरशाही का स्वरूप मिलता है। ब्रिटिशकालीन भारत म इडियन सिविल सर्विस के अधिकारियों का एक ऐसा समूह था जो डडे की शक्ति या बल प्रयोग कर शासन तत्र की गाडी को खींचता था। इस वर्ग के अधिकारी सम्पूर्ण शासन तत्र पर हावी थे। आई सी एस सेवाओं को सर्वोच्च एव गरिमापूर्ण सेवा माना जाता था। स्वतन्तता प्राप्ति के पश्चात् आई सी एस सेवाओं का नाम बदलकर आई ए एस कर दिया गया परन्तु सेवाओ की गरिमा और प्रवृत्ति पूर्ववत् बनी रही। भारत मे आई ए एस अधिकारियो का पृथक सवर्ग बन गया। इस सवर्ग को कुशल और सक्षम भारतीय प्रशासन के लिए उत्तरदायी बनाया गया। अध्ययनो से पता चलता है कि इसी नौकरशाही ने शासकीय पदों को गौरवान्वित और लोकमत को उपेक्षित किया है।

भारतीय नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1 राजनीतिक तटस्थता–भारतीय नौकरशाही की प्रथम विशेषता है कि लोक सेवक राजनीतिक गतिविधियो में सक्रिय भाग नही लेते हैं। लोक सेवक न किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ले सकते हैं और न किसी राजनीतिक दल के सदस्य चुनाव प्रचार मे भाग ले सकते है। दल चाहे कोई भी सत्ता मे हो लोक सेवक तो केवल नीति क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी होते हैं।

2 पदसोपान–लोक सेवाओं का सगठन पदसोपान के सिद्धान्त पर आधारित है। पदसोपान के उच्च स्तरीय लोकसेवक निम्नस्तरीय लोक सेवक के कार्यो का पर्यवेक्षण करता है और उन पर शासन करता है। निम्नस्तरीय पदाधिकारी अपने कार्यों के लिए उच्चस्तरीय पदाधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

3 व्यावहारिक पक्ष–भारतीय नौकरशाही की एक विशेषता यह है कि यह व्यावहारिक है। इसमें कर्मचारियो की नियुक्ति विशिष्ट तकनीकी योग्यता के आधार पर की जाती है। इनका प्रमुख कार्य सरकारी सेवा है। ये कर्मचारी व्यवसायी या पेशेवर कहे जा सकते हैं।

4 स्थायित्व–भारतीय लोक सेवाएँ स्थायी होती हैं। इसमे कर्मचारी अपने युवाकाल मे नियुक्त हो जाते हैं और सेवानिवृत्ति की निश्चित आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं।

उक्त चार विशेषताएँ भारतीय नौकरशाही की सैद्धान्तिक विशेषताएँ है। लेकिन व्यवहार मे भारतीय नौकरशाही मे निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं–

चार्ट–3 भारतीय नौकरशाही की विशेषताएँ
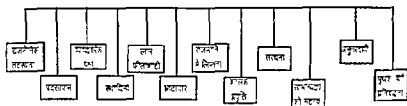
5 लालफीताशाही–भारतवर्ष मे प्रशासनिक सेवाओ मे लालफीताशाही या अनावश्यक औपचारिकता को महत्त्व दिया जाता है। अधिकारीगण नियमो और विनियमो का हवाला देकर कार्य की औपचारिकता मे अधिक लिप्त रहते है। फलत कार्य का सम्पादन देरी से होता है। महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं लिए जा सकते हैं। नौकरशाही औपचारिकताओ को अपना ध्येय बना लेती है और जनहित की ओर ध्यान नही देती है। अधिकारीगण अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नही करना चाहते है। अपने कार्यों को दूसरे पर टालने का प्रयास करते रहते हैं।

6 भ्रष्टाचार–सरकारी कार्यों के लिए कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती है। यही सरकारी नीतियों का क्रियान्वयन करते है। नागरिक को अपने कार्यों के लिए निम्नतम ग्रामीण कर्मचारी से लेकर जिला स्तरीय कर्मचारियो से सम्पर्क स्थापित करना होता है। शीघ्र काम करवाने के लिए अशिक्षित नागरिक सम्बन्धित कर्मचारी को रिश्वत देते हे।

7 राजनीति में लिप्तता–सिद्धान्त मे लोकसेवक तटस्थ है, परन्तु व्यवहार में वे ऊपरी स्तर पर राजनीति म लिप्त हैं। निर्वाचित राजनीतिक सदस्य अशिक्षित और अनुभव रहित हैं। उनका मार्गदर्शन शिक्षित अनुभवी उच्च पदाधिकारी नीति-निर्माण और नीति क्रियान्वयन दोनों मे करते हैं। अत उच्चपदाधिकारी नीतियों को प्रभावित करने मे प्रयासशील रहते है।

8. शासक प्रवृति–नौकरशाही अपने को शासक समझती है जनता का सेवक नहीं। उच्च पदाधिकारी जनता के स्वामी हैं न कि सेवक। आज भी भारतीय ग्रामीण जनता जिलाधीश को 'माई बाप' सम्बोधित करती है। यह उच्च पदाधिकारी स्वय को जनता से अलग और श्रेष्ठ समझते हैं। जनता के सुख-दुख से इनका कोई लेना-देना नहीं है।

9 नौकरशाही की संरचना–भारतीय नौकरशाही में तीन प्रकार की सेवाएँ हैं अखिल भारतीय सेवाएँ, केन्द्रीय सेवाएँ और राज्य स्तरीय सेवाएँ। अखिल भारतीय

सेवाएँ तीनो मे से श्रेष्ठ हैं। दूसरा स्थान केन्द्रीय सेवाओ का तीसरा और निम्न स्थान राज्य सेवाओ का है। प्रत्येक सेवा मे चार श्रेणियाँ हैं– प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ।

10 सामान्यज्ञों को महत्व–भारतीय नौकरशाही मे सामान्यज्ञों को विशेष महत्त्व दिया जाता है और विशेषज्ञों की उपेक्षा की जाती है। सामान्य शिक्षा प्राप्त भारतीय प्रशासनिक सेवा के पदाधिकारी सर्वत्र नियुक्त किये जाते हैं। इन्हे कभी वित्त मत्रालय तो कभी शिक्षा मत्रालय में उच्च पदाधिकारी बनाया जाता है। कभी-कभी यह तकनीकी विभागों जैसे सिचाई विद्युत शिक्षा स्वास्थ्य आदि विभागों के अधिकारी भी होते हैं क्योकि कि ये सामान्यज्ञ (आलराउडर) हैं। विशेषज्ञ केवल अपने विभाग के विभागाध्यक्ष ही हो पाते है।

11 अनुत्तरदायी सेवा संरचना–ब्रिटिश शासनकाल में भारत की प्रशासनिक व्यवस्था पर ब्रिटिश राज्यशाही का नियत्रण था। भारत सम्बन्धी सभी कानून ब्रिटिश ससद मे पारित होते थे। उनके क्रियान्वयन के लिए भारत में नियुक्त अग्रेज पदाधिकारी पूर्णरूपेण उत्तरदायी थे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों जनता एव कानून का इतनी दूर से भारतीय पदाधिकारियो पर नियन्त्रण कर पाना सम्भव न था। अत ब्रिटिश राज्यशाही भारत मे नियुक्त पदाधिकारियो पर पूर्णरूपेण निर्भर थी। भारत मे नियुक्त पदाधिकारी नियत्रण के अभाव मे अनुत्तरदायी हो गये तथा शक्तियों का दुरुपयोग करने लगे। भारत सचिव केवल नाम मात्र का नियत्रक था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। स्वतत्र भारत को ब्रिटेन से प्रशासन विरासत मे मिला था। अत अनुत्तरदायी सेवा सरचना भी भारतीय नौकरशाही को ब्रिटेन से विरासत मे मिली है।

12 पृथक वर्ग प्रतिबद्धता–यह तो स्पष्ट है कि अन्य देशों की भाँति भारत में योग्यता के आधार पर लोक सेवाएँ उच्च स्तरीय है या एलीट है और जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं। भारत एक विभिन्न भाषा, धर्म जाति वाला देश है। यहाँ इन आधारो पर कई वर्ग बने हुए हैं तथा वे एक-दूसरे से पूर्णत पृथक हैं। उसी तरह से लोकसेवको का एक पृथक वर्ग एक नई जाति के रूप में उभरा और वह अन्य सभी वर्गों से अपने को पृथक समझने लगा है।

नौकरशाही के कार्य

सरकार की राजनीतिक कार्यपालिका और स्थायी नौकरशाही के बीच अन्तर इतना अधिक नहीं है कि वर्णन किया जाता है। विलोबी ने नौकरशाही को सरकार की चौथी शाखा कहा है। सरकार की इस चतुर्थ कही जाने वाली शाखा द्वारा निम्नलिखित कार्य सम्पादित किये जाते हैं जिनको चार्ट 4 द्वारा दर्शाया गया है–

1 सामाजिक परिवर्तनों की क्रियान्विति–प्रजातत्र में व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य बदलती हुई सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप नीति निर्मित करना है। इन्ही नीतियो के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व नौकरशाही पर निर्भर है। लोक कल्याणकारी राज्य होने के कारण सरकार के कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। आज जनता की माग है कि जन कल्याण सम्बन्धी सभी कार्यो को सरकार करे। उद्योगों में कार्य करने वाले मजदूर

अपनी सुरक्षा सरकार से चाहते हैं तो उद्यमपति अपने उद्यम को विकसित करने के लिए हर सम्भव सहायता सरकार से चाहते हैं। चाहे उत्पादन हेतु कच्चा माल हो या उत्पादित माल हेतु बाजार।

चार्ट–4 नौकरशाही के कार्य

- सामाजिक परिवर्तनों की क्रियान्विति
- नीति की सिफारिश करना
- नीति निर्माण हेतु पहल
- व्यवस्थापिका को प्रभावित करना
- प्रतिद्वन्द्वी हितों के बीच समायोजन
- नीति क्रियान्वयन
- नैतिक और व्यावसायिक बातों के बीच सन्तुलन स्थापन
- सरकारी कार्य सम्पन्न करना
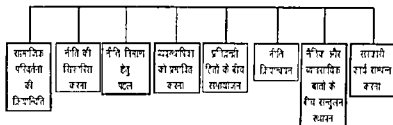
सरकार ने नागरिक सुरक्षा और सद जीवन का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया है। सरकार के कार्यों मे यह परिवर्तन जनता की स्वीकृति द्वारा ही सम्भव हुआ है। राष्ट्रपति विलसन के मतानुसार– संविधान निर्माण से अधिक कठिन कार्य उसकी क्रियान्विति है। समाज या संस्था मे परिवर्तन लाने के लिए योग्य, कुशल और अनुभवी लोक सेवकों की नियुक्ति की जानी चाहिए। पिफनर तथा प्रीस्थस के कथनानुसार –"इस अर्थ मे नौकरशाही एक सामाजिक साधन होती है जो कि व्यवस्थापिका के अभिप्राय और उसकी पूर्ति के मध्य स्थित दूरी को भरती है।"

व्यवस्थापिका द्वारा निर्णय लिये जाने के पश्चात् नौकरशाही उसे क्रियान्वित करने के लिए कदम उठाती है। विभिन्न सरकारी विभागों की नीतियों एवं कार्यों पर विभिन्न हित समूहों का प्रभाव पड़ता है। नौकरशाही द्वारा क्रियान्विति की प्रक्रिया पर भी विभिन्न हित समूह अपना प्रभाव रखते हैं। जब नौकरशाही द्वारा व्यवस्थित तकनीकों का विकास हो जाता है तो उसमें विशेष हितों के दावों का विरोध करने की शक्ति आ जाती है।

2 नीति की सिफारिश करना–नौकरशाही नीति निर्धारण का कार्य करती है। व्यवस्थापिका को नीति निर्माण के लिए बहुत कुछ नौकरशाही पर निर्भर करना पड़ता है। नीति निर्माण के कार्यों मे विशेष तकनीक की आवश्यकता होती है जिसे केवल प्रशासनिक विशेषज्ञ ही उपलब्ध करा सकते हैं। व्यवस्थापिका मे गैर सदस्यों की संख्या काफी होती है। उनके पास विषय सम्बन्धी ज्ञान भी नहीं होता है और वे अनुभवहीन होते हैं। ऐसे मे उन्हें विशेषज्ञों के अनुभवों पर निर्भर रहना पड़ता है। अगर व्यवस्थापिका कोई विज्ञान या सैनिक नीति बनाना चाहती है तो उसे सम्बन्धित विशेषज्ञों से ही जानकारी लेनी होगी। मैक्स वेबर का मत है कि– "आधुनिक राज्य पूर्ण रूप से नौकरशाही पर निर्भर है।" व्यवस्थापिका द्वारा नीति निर्धारण करते समय नौकरशाही का प्रभाव दो साधनों पर पड़ता है– प्रथम, नौकरशाही का व्यवस्थापन पहल करने के लिए तथा व्यवस्थापिका के।

प्रस्तावित विषयों पर सिफारिश करने के लिए तथा दूसरा व्यवस्थापिका द्वारा पास की गई नीति को क्रियान्वित करने में नौकरशाही कुछ स्वायत्तता का प्रयोग करती है। नौकरशाही का परामर्श महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि उसे ज्ञात होता है कि नीति क्रियान्वयन किस प्रकार किया जाएगा। नौकरशाही ही उपयुक्त विकल्प प्रस्तुत कर सकती है।

3 नीति निर्माण हेतु पहल–वैसे तो नीति निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका का है। परन्तु प्रशासन तंत्र नीति का प्रस्ताव तैयार कर व्यवस्थापिका को देता है। उसी तैयार प्रस्ताव को व्यवस्थापिका बहुमत द्वारा पास करती है। नौकरशाही द्वारा ही वस्तुत नीति निर्माण की पहल की जाती है।

उच्च स्तर के अधिकाश नौकरशाहो (पदाधिकारियो) का समय नीति निर्माण सम्बन्धी कार्यों मे व्यतीत होता है। वे निरन्तर प्रयासरत हैं कि प्रशासनिक कार्यों को सरल बनाया जा सके। प्रशासन सारे देश में व्याप्त सम्बन्धित समूहो से प्रस्तावित विषय के बारे में पूछताछ करती है। प्रशासन व्यवस्थापिका में स्थित अपने मित्रों से, समर्थकों से विचार विमर्श करते हैं। व्यवस्थापिका में सभी अभिकरणों के हितैषी विद्यमान होते हैं जो बदले में अभिकरण से कुछ लाभ उठाते हैं। यह सम्पर्क व्यवस्थापिका में प्रशासन सम्बन्धी प्रस्तावो को स्वीकृत करवाने में सफलता प्राप्त करता है।

4 सरकार का व्यवस्थापिका को प्रभावित करना–नौकरशाही का विशेष प्रभाव व्यवस्थापिका में उस समय पडता है जब व्यवस्थापिका में किसी विषय पर विचार-विमर्श हो रहा होता है और इस बीच किसी विशेष ज्ञान की आवश्यकता महसूस की जा रही हो। ऐसे समय मे विशेषज्ञो की आवश्यकता नौकरशाही के योगदान को महत्त्वपूर्ण बना देती है। व्यवस्थापिका की समितियाँ मुख्य विषयो पर प्रशासन से प्रतिवेदन मगा लेती है। प्रशासक मन्त्रिमण्डल की गोपनीय बैठक मे भी भाग लेते हैं जहाँ प्रमुख निर्णय व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करने से पूर्व लिए जाते हैं। प्रशासन विभाग एव अभिकरण विषय से सम्बन्धित ऑकडे प्रस्तुत करते हैं ताकि व्यवस्थापन के समय पूछे गये प्रश्नों का सही एव सटीक उत्तर दे सके। नौकरशाही सम्मेलन समितियों में भी अपने विभागो को प्रभावित करने वाले विषयों पर परामर्श देने के लिए भाग लेते हैं।

प्रशासन नीति निर्माण के साथ-साथ नीति क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक राजनीतिक शक्ति का सगठन भी करते हैं।

5 प्रतिद्वन्द्वी हितों के बीच समायोजन– नौकरशाही का कार्य प्रतिद्वन्द्वी हितो के बीच समायोजन करना है। वह व्यवस्थापन के कार्य विवेकपूर्ण तरीके से करती है। ऐसा करने से उसकी शक्तियो में वृद्धि होती है। प्रशासन सार्वजनिक हित्त सम्बन्धी कार्यों को आधार बनाकर अधिक से अधिक विवेक का प्रयोग करने लगते हैं। प्रशासनिक प्रभाव के कारण सामान्य हित के पीछे विशेष हितों को गौण बना दिया जाता है। सामान्य हित के प्रति नौकरशाही का पृथक मापदण्ड है और वह विशेष हित के दबाव को भुला देती है। अधिकारीगण अपने अभिकरण या विभाग को एक विशेष हित का प्रतिनिधि मानते हैं।

यही कारण है कि अन्य विभागों के प्रतिनिधित्व को वह अपना प्रतियोगी मान लेते हैं। उच्च स्तरीय प्रशासक अपने विवेक का प्रयोग अपने अभिकरण विभाग द्वारा सेवित सबसे अधिक शक्तिशाली समूह को प्रोत्साहित करने के लिए करते हैं। प्रशासक या नौकरशाही किसी भी कार्य को व्यावहारिकता प्रदान करने से पूर्व उस पर अनेक राजनीतिक पहलुओं को ध्यान म रखती है। अगर किसी अभिकरण या विभाग को जीवित रहना है तो उसे अपनी स्थिति का मूल्याकन एव व्यवहार राजनीतिक वास्तविकताओं मे रहकर करना चाहिए।

6 नीति क्रियान्वयन–वास्तव में नौकरशाही का प्रमुख कार्य नीति क्रियान्वयन है। अत नीति क्रियान्वयन पर नौकरशाही का प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रशासन अपने विवेक से कई बार व्यवस्थापिका के निर्णयों की क्रियान्विति को रोक देता है जो जनमत विरोधी हाते हैं। प्रशासनिक पदाधिकारी व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नीति को क्रियान्वित करने के लिए सम्बन्धित नियम और विनियम तैयार करते हैं।

7 नैतिक और व्यावसायिक बातों के बीच सन्तुलन स्थापन–कई बार नैतिक और व्यावसायिक मूल्यों के बीच विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रशासनिक अधिकारी एसी स्थिति मे निर्णय लेते समय व्यक्तिगत नैतिकता और व्यावसायिक मूल्यों, दोनों का ध्यान रखता है। वह किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर अपने व्यक्तिगत मूल्य के कारण विरोध का सामना नही करना चाहता है।

8 सरकारी कार्य सम्पन्न करना–नौकरशाही नीति रचना पर प्रभाव डालती है इसका यह अर्थ नही है कि वह उसकी क्रियान्विति के सम्बन्ध में रुचि नहीं लेती है। सरकार के साधारण से साधारण कार्य भी नौकरशाही को ही करने होते हैं। नौकरशाही नागरिकों के जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक कार्य प्रतिदिन करती है।

नौकरशाही के दोष

नौकरशाही ही स्थायी प्रशासन है। इसके अभाव मे नीतियों का क्रियान्वयन असम्भव है। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ मे बताया गया है कि नौकरशाही बदनाम है। इसे सदैव बुरा शब्द माना जाता है। इसके विरुद्ध कई प्रकार की आलोचनाएँ प्रस्तुत की जाती रही हैं। नौकरशाही की सरचना एव इसमे कार्य करने वाले कर्मचारियों द्वारा नियमो की कठोरता को प्रोत्साहन दिया जाना इसके विरोध का प्रमुख कारण रहा है। यह विरोध मे नौकरशाही के बाहर के लोगो द्वारा किया जाता है। नौकरशाही की शक्ति के कारण आम जनता की स्वतत्रता को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसी शक्ति के कारण ही लालफीताशाही, तानाशाही आदि बुराइयाँ नौकरशाही में विकसित होती हैं।

रेम्जेम्योर तथा लार्ड हीवर्ट नौकरशाही के प्रमुख आलोचकों में से हैं। रेम्जेम्योर के मतानुसार – "नौकरशाही की शक्तियाँ प्रजातन्त्र क आवरण के नीचे फलती फूलती है। लार्ड हीवर्ट ने नौकरशाही को नवीन निरकुशता नाम दिया है जिसका उत्तरदायित्व

व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के प्रति है। रेम्जेम्योर ने नौकरशाही की तुलना अग्नि से की है जो कि सेवक के रूप मे बहुमूल्य सिद्ध होती है और मालिक या स्वामी बन जाने पर घातक सिद्ध होती है।

अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर का विचार था कि नौकरशाही में आत्मस्थिरता आत्मविस्तार और अधिक शक्ति की माग– तीन ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो कभी सतुष्ट नहीं हो सकती है। नौकरशाही में शक्ति की अत्यधिक भूख होने के कारण वह धीरे-धीरे निर्माण के कार्य को भी अपनाती जाती है।

नौकरशाही की आलोचना करते समय नौकरशाही मे निम्नलिखित दोषों को उजागर किया गया है–

1 जनसाधारण की माँगों की उपेक्षा–नौकरशाही का प्रथम दोष है कि यह जनसाधारण की मागो की उपेक्षा करती है। वह स्वय को लोकहित की अभिभावक मानती है। नौकरशाही का मानना है कि वह जन-हित की सही व्याख्या कर सकती है। अगर लोकमत जनहित का विरोधी है तो नौकरशाही उसकी उपेक्षा करने में कोई कसर नहीं छोडती। इसी तर्क सगत विचार के आधार पर नौकरशाही जनमत की किसी भी माँग का विरोध करती है। वह राजनीतिक परिवर्तित वातावरण के अनुसार प्रतिक्रिया नहीं करती।

2 लालफीताशाही–नौकरशाही का दूसरा दोष लालफीताशाही है। इसके कार्यों में पर्याप्त देरी होती है। इसके सम्पूर्ण कार्य नियमों द्वारा सम्पादित होते हैं। पदाधिकारी औपचारिकताओं में अधिक विश्वास करते हुए विनियमों का कठोरता से पालन करते हैं। फलत कार्य की सम्पन्नता में बाधा पहुँचती है। वे जनता की सेवा के स्थान पर औपचारिकताओं को अपना उद्देश्य बना लेते हैं। साध्य के स्थान पर साधन उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

3 शक्ति प्रेम–नौकरशाह शक्ति के भूखे होते हैं। विभिन्न विभागों के नौकरशाह शक्ति सघर्ष में रत रहते हैं और लोक हित को भूल जाते हैं। स्थायी नागरिक सेवा के सदस्य प्रजातत्र के नाम पर विभागो की शक्ति में निरन्तर वृद्धि करते जा रहे हैं और शक्तियों के उत्तरदायित्व के सिद्धान्त ने सम्पूर्ण शक्तियाँ स्वय में केन्द्रित कर ली हैं।

4 पृथक्तावादी विभागीय प्रवृति–लोककल्याणकारी राज्य में प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक विभाग गठित किये जाते हैं। प्रत्येक विभाग अपने ही हित और विभाग पर ध्यान केन्द्रित रखता है। नौकरशाही में समाज से पृथक् रहकर कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। इस वर्ग के लोग स्वय को दूसरे वर्गों से श्रेष्ठ समझते हैं। अत वह न केवल दूसरे विभागो से वरन् आम जनता से भी पृथक हो जाते हैं। प्रत्येक विभाग अपने आप को स्वतत्र और पृथक् इकाई मानने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि वह किसी बडे समग्र भाग का एक भाग है। वह अपने अधिकार क्षेत्र को ही अपनी अन्तिम सीमा मानने लगता है।

5 प्राचीनता के समर्थक—नौकरशाही के सदस्य प्राचीन परम्पराओं और रीति-रिवाजों के समर्थक होते हैं। वे नवीनता और विकारों का विरोध करते हैं। जो व्यवहार प्रचलित परम्परानुसार है जिसका पालन करने के वे अभ्यस्त होते हैं। उसे ही नौकरशाही उचित समझती है।

6 तानाशाही प्रवृतियाँ—नौकरशाही का एक दोष यह भी है कि इसकी प्रवृति निरकुश है। इग्लैण्ड में लार्ड चीफ जस्टिस हीवर्ट ने नौकरशाही में बढती हुई शक्ति को तानाशाही का नया रूप बताया है। उनका कहना है कि प्रशासनिक तानाशाही के बढने के कारण नागरिकों की स्वतन्त्रता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती हैं। ब्रिटिश नौकरशाही का मूल्यांकन करते हुए हीवर्ट ने यह तर्क दिया है कि इस समय व्यक्तिगत अधिकार और स्वतन्त्रताएँ खतरे में हैं, क्योंकि नौकरशाही के मनोवृत्ति के अधिकारी कुछ ऐसे विश्वासों के साथ काम करते हैं कि –

(i) कार्यपालिका का कार्य शासन करना है।
(ii) शासन करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति विशेषज्ञ हैं।
(iii) प्रशासन कला में विशेषज्ञ स्थायी अधिकारी होते हैं जो प्राचीन और निषेधात्मक सद्गुणों का प्रदर्शन करते हैं। वे अपने आपको महान् कार्यों में योग्य मानते हैं।
(iv) ये विशेषज्ञ वस्तुस्थिति के अनुसार कार्य करते हैं और स्वयं को परिस्थिति अनुसार ढालने की क्षमता रखते हैं।
(v) विशेषज्ञों के लाभदायक कार्यों को दो प्रमुख बाधाओं द्वारा रोका जाता है—एक है संसद की सम्प्रभुता और दूसरी है कानून का पालन।
(vi) अबोध जनता में जो अन्ध भक्ति कायम रहती है वह इन बाधाओं को दूर करने में बाधक बन जाती है। विशेषज्ञों को चाहिए कि वे संसद के प्रभुत्व को प्रभावहीन बनाने के लिए कानून के शासन को अपनाए।
(vii) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नौकरशाही को संसदीय जामा पहना कर पहले अपने हाथ में मनमानी शक्तियां लेनी चाहिए और उसके बाद कानूनी अदालतों का विरोध करना चाहिए।
(viii) नौकरशाही का यह कार्य उस समय अधिक सरल होगा जबकि यह—
  (क) एक मोटी रूपरेखा के रूप में विधान प्राप्त कर सके
  (ख) अपने नियमों आदेशों और विनियमों से उस विधान की रिक्तता की पूर्ति कर सके
  (ग) संसद के लिये अपने नियमों आदेशों एवं विनियमों पर रोक लगाना कठिन या असम्भव बना दे,
  (घ) उसके लिये ऐसी कानूनी शक्ति प्राप्त कर सके,
  (ङ) अपने स्वयं के निर्णय को अंतिम बना सके

(च) ऐसा प्रवन्ध कर सके कि उसके निर्णय के तथ्य की वैद्यता प्रमाण बन सके

(छ) कानूनी प्रावधानों पर परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त कर सके

(ज) कानूनी न्यायालय मे किसी प्रकार की अपील को रोक सके या उपेक्षा कर सके।

(५) यदि विशेषज्ञ लार्ड चासलर से मुक्ति पा सके न्यायाधीशो के पद को नागरिक सेवा की एक शाखा के रूप मे घटा सके। मुकदमे में पहले से ही अपनी राय प्रकट करने के लिए न्यायाधीशों को बाध्य कर सके तो सारी बाधाएँ दूर की जा सकती हैं।

7 **प्रजातंत्रीय संस्थाओं के प्रति उदासीनता**—नौकरशाही सदैव प्रजातंत्रीय सस्थाओ के प्रति उदासीन रही है। नौकरशाही पचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सस्थाओ और नगर स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के प्रतिनिधियो को विशेष महत्त्व नही देती है।

8 **श्रेष्ठता की भावना**—नौकरशाही मे, अधिकारियो मे श्रेष्ठता की भावना आ जाती है। नौकरशाही के पास सत्ता है। उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। अत वह स्वय को जनता से अलग और श्रेष्ठ समझने लगते हैं। वे स्वय घमण्ड में फूले रहते है और साधारणजन को हीन समझते हैं। नौकरशाह स्वय को शासक समझने लगते हैं और जनता को अपना शासित समझ व्यवहार करते हैं।

9 **आकार में वृद्धि और कुशलता में कमी**—नौकरशाही अपने आकार में वृद्धि करने और कर्मचारियो की सख्या को बढाने की प्रवृत्ति रखती है। नौकरशाही के प्रारम्भिक आकार को देखने से पता चलता है कि हर विभाग का आकार पहले की अपेक्षा दुगना और तिगुना हो गया है। अपनी शक्ति बढान के लिए नौकरशाही काम न होने पर भी अपने आकार मे वृद्धि करती रहती है। कर्मचारियों की सख्या मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। विभाग के कई पद सोपान शाखाएँ व उपशाखाएँ खुल गई हैं परन्तु कार्यकुशलता बढने के स्थान पर घटती जा रही हैं। लन्दन इकॉनामिस्ट मे 16 नवम्बर 1955 के अक में इस सिद्धान्त को प्रकाशित कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया कि आकार के बढने से काम की मात्रा कम होती है। आकार व काम की मात्रा के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नियम पार्किन्सन नियम के नाम से पुकारा जाता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नौकरशाही अनेक दोषो से पीडित रहती है। प्रो रॉब्सन ने लिखा हे "नौकरशाही जिन दोषों से दूषित रहती है वे हैं– अधिकारियों के आत्म महत्त्व का अतिशयपूर्ण भाव अथवा अपने कार्यालय को अनावश्यक महत्त्व व्यक्तिगत नागरिकों की सुविधाओ या भावनाओ के प्रति उदासीनता विभागीय निर्णयों की सत्ता की लोचहीनता एव बाध्यकारिता (चाहे वे व्यक्तिगत मामला मे कितने ही अन्यायपूर्ण क्यो न हों) विनियमों व औपचारिकताओ के प्रति रूझान प्रशासन की विशेष इकाइयों की क्रियाओ

को अधिक महत्त्व और सरकार को एक सम्पूर्ण रूप में देखना न पहचानना कि प्रशासक और प्रशासितों के बीच स्थित सम्बन्ध प्रजातंत्रात्मक प्रक्रिया का एक मूलभूत भाग होता है।" नौकरशाही के सम्बन्ध में प्रो. लास्की ने लिखा है कि– "इसमें नियत कार्य के प्रति भावना रहती है, नियमों की लोचशीलता का बलिदान किया जाता है, निर्णय लेने में देरी की जाती है तथा प्रयोग करने से मना किया जाता है।"

नौकरशाही के उक्त दोषों को नीचे चार्ट–5 में दर्शाया गया है–

चार्ट – 5
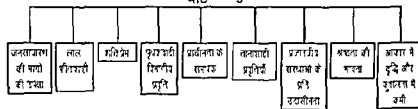
नौकरशाही के दोषों को दूर करने हेतु सुझाव

नौकरशाही के दोषों को दूर करने तथा उसे उपयोगी बनाने के लिए विचारकों ने निम्नलिखित सुझाव दिए हैं–

1. **सत्ता का विकेन्द्रीकरण**–नौकरशाही की शक्तियों को विकेन्द्रित किया जाना चाहिए। अधिकारियों में सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण होने से उनमें नौकरशाही पनपती है। उनमें पृथकता, भावहीनता, लोचहीनता, स्थानीय स्थिति के बारे में अनभिज्ञता, कार्य में देरी, आत्म तुष्टि आदि बुराइयाँ जन्म लेती हैं।

2. ***योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति एवं नियंत्रण***–नौकरशाही को नियंत्रित करना मन्त्रियों का कार्य है। यदि मंत्री योग्य और कुशल होंगे तो वे सरकारी सेवकों पर नियंत्रण रख सकेंगे। नहीं तो सरकारी सेवक मन्त्रियों पर हावी होकर जनता की स्वतंत्रता के लिए खतरा उत्पन्न कर देंगे।

3. **सामान्य जनता के प्रति जवाबदेह**–लोक प्रशासन में नौकरशाही के दोषों को दूर करने के लिए इसे संसद, कार्यपालिका और जनता के प्रति जवाबदेह बनाना चाहिए। नौकरशाही ऐसा होने पर स्वयं को जनता से पृथक नहीं समझेगी।

4. **प्रत्यायोजित विधि निर्माण में कमी**–नौकरशाही की निरंकुशता का प्रमुख कारण प्रत्यायोजित विधि निर्माण है। अतः नौकरशाही को अधिक उपयोगी बनाने के लिए *यह आवश्यक है कि प्रत्यायोजित विधि निर्माण की मात्रा में कमी लाई जाय।*

5. **प्रशासनिक न्यायाधिकरण**–ऐसे प्रशासनिक न्यायाधिकरण की स्थापना की जानी चाहिए, जहाँ सामान्य नागरिक, सेवकों के विरुद्ध अपनी शिकायतें रख सकें और उनको दूर करा सकें। यह सुविधा भेदभाव रहित प्रदान की जानी चाहिए।

6. **विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व**–नागरिक सेवकों के समाज के विभिन्न आर्थिक और सामाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व कराना चाहिए जिससे सभी को समान रूप से न्याय प्राप्त हो सके और किसी के साथ अनुचित पक्षपात न किया जाए।

7 **प्रभावशाली संचार–** प्रशासनिक संगठन की संचार व्यवस्था प्रभावशील होने के साथ-साथ प्रशासक और प्रशासित के मध्य भी प्रभावशील होनी चाहिए। पत्र व्यवहार संदेशों का आदान-प्रदान व अन्य संचार माध्यमों से दोनों– प्रशासक और प्रशासित को एक-दूसरे की बात कहने व सुनने की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए।

8 **प्रशासन के बाहरी लोगों का योगदान–** प्रशासन को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसे जनसाधारण का योगदान भी प्रदान किया जाना चाहिए। ऐसी व्यवस्था करने पर उसे सही प्रजातान्त्रिक प्रशासन बनाया जा सकता है। प्रशासन को जन आकांक्षाओं के अनुरूप बनाया जा सकता है। नौकरशाही में उत्तरदायी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल सकता है। नौकरशाही में सुधारात्मक प्रवृत्ति का उदय हो सकता है।

रॉब्सन ने नौकरशाही के दोषों को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए हैं–

1 सरकारी कर्मचारियों में जनता के प्रति उत्तरदायी होने की भावना उत्पन्न करना तथा उनमें अपने को विशेषाधिकार सम्पन्न विशिष्ट वर्ग समझने की प्रवृत्ति को रोकना।

2 सिविल सर्विस में विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक वर्गों का प्रतिनिधित्व करना।

3 प्रशासन में सामान्य नागरिकों अर्थात गैर सरकारी व्यक्तियों को सक्रिय रूप से भागीदार बनाना।

अध्याय—10

राजनीतिक दल तथा दबाव समूह

"राजनीतिक दल अनिवार्य है। कोई भी बडा स्वतत्र देश उसके बिना नही रह सकता है। किसी व्यक्ति ने यह नही दिखाया कि लोकतत्र उनके बिना कैसे चल सकता है। ये मतदाताओ के समूह की अराजकता मे से व्यवस्था उत्पन्न करते है। यदि दल कुछ बुराइया उत्पन्न करते है तो वे दूसरी बुराइयो को दूर या कम भी करते है।"

—लार्ड ब्राइस

आज राज्यो की जनसख्या वृद्धि एव विशाल आकार के कारण प्रत्यक्ष लोकतत्र सम्भव नही है। सभी राज्यो ने अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतत्र स्वीकार किया है। जनता द्वारा निर्वाचन और शासन व्यवस्था के सचालन मे राजनीतिक दलो की अहम भूमिका है। 'राजनीति' शब्द का उच्चारण करते समय उसमे राजनीतिक दलो की ध्वनि स्वत झकरित होती है। लोकतत्र रूपी गाडी को खीचने के लिए राजनीतिक दल पहिये है। लोकतत्र का स्वरूप चाहे जो हो राजनीतिक दलो की अनुपस्थिति मे उसकी कल्पना ही नही की जा सकती है। अत वर्तमान समय मे राजनीतिक दलो का लोकतत्र मे महत्त्व है।

शासन नीति का सचालन वस्तुत राजनीतिक दलो के हाथ मे होता है। दल ही जनता के नाम पर राजकार्य का सचालन करते हैं। यही कारण है कि राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानो ने निर्वाचक वर्ग के समान राजनीतिक दलो को भी सरकार का अन्यतम चतुर्थ अग माना है। प्रो मुनरो के शब्दो मे —"लोकतत्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है— विश्व के इतिहास मे कभी भी ऐसी सरकार नही रही है जिसमे राजनीतिक दलो का अस्तित्व नही रहा है।"

राजनीतिक दलो का लोकतत्र मे महत्त्व

प्रतिनिध्यात्मक लोकतत्र मे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनो दल के अनुसार कार्य करते है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका तो केवल सविधान मे वर्णित सरकार के अलग-अलग कार्यों के सम्पादन हेतु आवरण है। वस्तुत दोनो अगो के सचालन की वास्तविक शक्ति दल मे ही निहित होती है। वर्तमान लोकतत्रात्मक समाज मे यह शक्ति किसी न किसी रूप मे विद्यमान होती है। नागरिको के राजनीति मे प्रवेश का सस्थागत साधन राजनीतिक दल है। चुनाव के दिनो मे राजनीति दल मतदाता मे

राजनीतिक जागृति उत्पन्न करते हैं। वे राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र को जीवित रखने मे सहायता करते हैं। वे राजनीति मे मतदाता की रुचि उत्पन्न करते हैं और उनका ध्यान महत्त्वपूर्ण समस्याओ की ओर आकर्षित करते हैं। ध्यानाकर्षण के लिए दलीय सामग्री को जनता में बॉटते हैं । आम सभाओं का आयोजन कर बहुत से व्याख्यान देते हैं। दल अपने कार्यक्रमों को जनता के सामने रखने के लिये चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित करते हैं। मतदान से पूर्व दल के कार्यकर्त्ता घर-घर जाकर जनता से वोट मागते है और अपने दृष्टिकोण से मतदाता को परिचित कराते हैं। जब मतदान होता है तो मतदाता को मतदान केन्द्र पर आने के लिए आग्रह करते हैं और उन्हे मतदान की विधि समझाते हैं। वे निर्वाचनो मे अपने प्रतिनिधि खडे करते हैं। दल ही लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन तथा नागरिको को राजनीतिक शिक्षा देते हैं।

यू तो किसी भी शासन में राज्य के हजारो लोग राज्य की विभिन्न समस्याओ पर सोचते हैं। किन्तु जब तक उनके विचारो और दृष्टिकोणो को दलीय आवरण द्वारा व्यवस्थित और क्रमबद्ध नही किया जाता तब तक शासन निष्क्रिय ही बना रहेगा। राजनीतिक प्रक्रिया को जोडने सरल करने एव स्थिर बनाने का कार्य राजनीतिक दल करते हैं।

राजनीतिक दलो म चाहे कितनी ही बुराइयाँ क्यो न हो परन्तु इसमे सन्देह नही है कि इन्होने प्रत्येक दिशा मे लोकतन्त्र रूपी पौधे को विकसित करने और उनकी जड़ो को मजबूत करने मे अद्वितीय कार्य किया है। अमेरिका का सविधान बहुत कठोर है। दलो के कारण वहा के सविधान में कुछ लचीलापन आया है और वह प्रगतिशील बन सका है। अमेरिका में राष्ट्रपति प्राय उसी दल से सम्बधित होता है जिस दल का बहुमत वहा काग्रेस (ससद) मे होता है। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोना अगो मे सहयोग उत्पन्न हो जाता है। ससदात्मक शासन वाले राज्यो मे तो सरकार ही उसी दल की होती है जिसका विधानमण्डल मे बहुमत होता है। इससे सरकार का सचालन आसान हो जाता है। विरोधी दल की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वह सत्तारूढ दल की ज्यादतियो की आलोचना कर देश की बडी भारी सेवा करते हैं। फलत जनता की स्वतन्त्रता को कोई खतरा नहीं रहता है और न ही देश के तानाशाह बन जाने का भय रहता है।

राजनीतिक दलों के न रहने पर अध्यक्षात्मक और ससदात्मक दोनो सरकारों को कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। विधानमण्डल मे ऐसे निर्दलीय उम्मीदवार चले जाएँगे जो असगठित और अनुशासन हीन होगे तथा उनकी कोई नींव या कार्यक्रम नही होगा। ससदीय व्यवस्था मे देश के मुखिया को मन्त्रिमण्डल का चयन करने में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल (व्यवस्थापिका) मे असहयोग व्याप्त होगा। ऐसी स्थिति में सरकार का सचालन असम्भव हो जायेगा। इसलिए मैकाइवर ने कहा है कि "बिना राजनीतिक दलों के न तो सम्यक नीति निर्धारित की जा सकती है न सवैधानिक आधार पर विधान मण्डलो के लिये निर्वाचनो की उचित व्यवस्था की

जा सकती है, और न ही बिना राजनीतिक दलो के ऐसी मान्य राजनीतिक संस्थाओं और निकायो की स्थापना की जा सकती है जिनके द्वारा दलो का सत्ता और अधिकार प्राप्त होते है।"

लॉवेल ने यही बात दूसरे पर बहुत सुन्दर ढग से प्रकट की है– "किसी बडे देश मे सर्वसाधारण के शासन की कल्पना कोरी मनगढन्त कल्पना मात्र है क्योकि जहाँ कही व्यापक और विस्तृत मताधिकार हैं वहाँ दलो की उपस्थिति अनिवार्य है और नि सन्देह शासन का नियत्रण उस दल के हाथो मे रहेगा जिसका बहुमत होगा अर्थात् जिसके पक्ष मे सर्वसाधारण का बहुमत होगा।"

स्पष्ट है राजनीतिक दल लोकतत्र की रक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इनके अभाव मे या तो कोई दल नही होगा या एक दलीय पद्धति होगी। यदि प्रभावशाली विरोधी दल न होगा तो सरकार के निरकुश होने की सम्भावना बनी रहेगी। राजनीतिक दल असख्य मतदाताओ की भीड के स्थान पर व्यवस्था स्थापित करते है। मेरियट दलो को सरकार की पूरक संस्था मानते है।

राजनीतिक दल की परिभाषा

विभिन्न विद्वानो ने राजनीतिक दल को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है –

लीकॉक के अनुसार–"राजनीतिक दल सगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते है जो इकट्ठे मिलकर एक राजनीतिक इकाई के रूप मे कार्य करते है। उनके विचार सार्वजनिक प्रश्नो पर एक जैसे होते हैं और एक सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार पर अपना कब्जा जमाना चाहते हैं।"

गैटेल के शब्दों में–"राजनीतिक दल नागरिको का वह समुदाय है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करता है और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार को नियत्रित करना तथा अपनी सामान्य नीति की पूर्ति करना चाहता है।"

गिलक्राइस्ट के अनुसार–"एक राजनीतिक दल उन नागरिको का एक सगठित समूह है जिनके राजनीतिक विचार एक से होते हैं तथा जो एक राजनीतिक इकाई की तरह काम करके सरकार पर नियत्रण करने की चेष्टा करते हैं।"

एडमण्ड बर्क के अनुसार–"राजनीतिक दल ऐसे लोगो का समूह होता है जो किसी सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वे एक मत हो, अपने सामूहिक प्रयत्नो द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता स बधे हो।"

मैकाइवर के शब्दों में–राजनीतिक दल किसी विशेष नीति या सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए उस सघ या समिति को कहते है जो वैधानिक उपायो का प्रयोग करके उसी सिद्धान्त या नीति द्वारा सरकार का निर्माण करने का प्रयत्न करें।"

राजनीतिक दल को सामाजिक समूह मानते हुए हर्बर्ट साइमन कहते हैं– "इस प्रकार के समूह अन्तर-निर्भर प्रकार्य की व्यवस्थाएँ है। जिनके अन्तर्गत अनेक प्राथमिक समूह अवश्य निहित हैं और ये व्यवस्थाएँ ऐसे सुनिश्चित व्यवहार के निर्देशन

से प्रेरित होती हैं जिसका प्रयोजन उन लक्ष्यों की प्राप्ति करना है जो सर्वमान्य की अभिस्वीकृति तथा अपेक्षाओं से सम्बद्ध है।

न्यूमैन के अनुसार- एक स्वतंत्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को राजनीति दल कहते हैं जो शासनतंत्र को नियंत्रित करना चाहता है और उसके लिए जन सहमति में भाग लेकर अपने कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है।

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि राजनीति दल ऐसे व्यक्तियों का निकाय है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर सामान्य दृष्टिकोण रखते हैं। पहले दल के सामूहिक प्रयास से शासन में स्थान प्राप्त करते हैं फिर दल के उद्देश्यों को क्रियान्वित करने में विश्वास रखते हैं। संक्षेप में व्यक्तियों का समूह जो सामान्य उद्देश्य प्राप्ति के लिए कार्यरत है दल कहलाता है। राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित व्यक्ति समूह राजनीतिक दल कहलाते हैं।

राजनीतिक दल की विशेषताएँ

उपर वर्णित विभिन्न विद्वानों द्वारा परिभाषित राजनीतिक दलों में निम्न लिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं-

राजनीतिक दल की विशेषताएँ

- संगठन
- सामान्य सिद्धान्तों एवं विचारों में एकता
- वैध व शांतिपूर्ण साधनों का अनुसरण
- राष्ट्रीय हित का संवर्द्धन
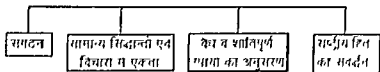
1 संगठन-दल को स्थायी एवं मजबूत बनाने के लिए संगठन का होना आवश्यक है। संगठन से तात्पर्य है कि दल के कुछ अपने लिखित एवं अलिखित नियम उपनियम कार्यालय पदाधिकारी होने चाहिए जो दल के सदस्यों को अनुशासित रखते हैं। संगठन के अभाव में दल के अनुयायी एक बिखरी हुई भीड़ मात्र होंगे और वे अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पायेंगे। राजनीतिक दलों की शक्ति उनके संगठन पर निर्भर करती है। संगठन द्वारा दल शक्ति प्राप्त करते हैं। वस्तुतः संगठन ही राजनीतिक दल की शक्ति का आधार स्तम्भ है। जिसके कारण वह राजशक्ति प्रयोग को अपने हाथ में कर लेने में समर्थ हो जाते हैं।

2 सामान्य सिद्धान्तों व विचारों में एकता-दल व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य सार्वजनिक प्रश्नों पर एक से विचार रखते हैं। इन प्रश्नों की बारीकियों पर उनमें मतभेद हो सकता है। परन्तु दल के सभी सदस्य मौलिक सिद्धान्तों पर एक मत होते हैं। यदि दल की नीतियों और विचारधारा के प्रति उसके सदस्यों में असहमति है तो उस दलीय संगठन का एक इकाई के रूप में कार्य कर सकना असम्भव हो जाता है। सिद्धान्तों की एकता दल को ठोस आधार प्रदान करती है। सैद्धान्तिक व विचारों की

एकता के अभाव में दल की जड़ हिल जायगी और उसका विघटन हो जायेगा। अतः यह आवश्यक है कि राजनीतिक दल के प्रत्येक अनुयायी व सदस्य को अपने दल के विशिष्ट विचारों व सिद्धान्तों में विश्वास रखना चाहिए और राजनीतिक दलों की विभिन्नता का आधार सिद्धान्तों की विभिन्नता ही होना चाहिए।

3 **वैध व शांतिपूर्ण उपायों का अनुसरण**–राजनीतिक दलों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा वैध व शांतिपूर्ण उपायों का अनुसरण करना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन अमेरिका, फ्रांस, भारत आदि राज्यों में विविध राजनीतिक दल अपने विचारों का जनता में प्रचार करते हैं। लोगों को अपना अनुयायी बनाने का प्रयत्न करते हैं और चुनाव के समय मतदाताओं के मत प्राप्त कर विधानमण्डल में अपना बहुमत स्थापित करने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दल के कार्य का यही तरीका होता है। पर इतिहास से हमें यह पता चलता है कि अनेक दल केवल वैध व शांतिपूर्ण उपायों से संतुष्ट नहीं रहते हैं। वे गुप्त उपायों द्वारा सशस्त्र क्रांति करके या अपनी व्यक्तिगत सेनायें संगठित करके राजशक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और इन अवैध उपायों से अपनी सरकार का निर्माण कर अपने विचारों को क्रिया में परिणित करते हैं। जर्मनी में नाजी दल ने, इटली में फेसिस्ट दल ने इसी ढंग से शक्ति प्राप्त की थी। रूस में बोल्शविक दल ने जारशाही को क्रान्तिकारी साधना से सत्ता प्राप्त कर आपदस्थ किया था। इसी भाँति चीन में साम्यवादी दल ने च्यांग-काई शेक की सरकार को हटाकर स्वयं को सत्तारूढ़ किया। नेपाल में भी एक दल ने इसी प्रकार से शक्ति प्राप्त करने का प्रयास 1950 में किया था। पर लोकतन्त्र के लिए जिन राजनीतिक दलों का उपयोग है उनके लिए आवश्यक है कि वे वैध उपायों का अवलम्बन करें और मतपेटी को ही शक्ति प्राप्त करने का एक मात्र साधन समझें।

4 **राष्ट्रीय हित का संवर्द्धन**–राजनीतिक दलों के लिए यह आवश्यक है कि उनका निर्माण जिन सिद्धान्तों एवं विचारों के अनुसार हुआ हो, उनका उद्देश्य राष्ट्रीय हित हो। किसी विशेष जाति या वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर भी राजनीतिक दलों का निर्माण किया जाता है। विशेषतः भारत में राष्ट्रीय दलों के साथ क्षेत्रीय दलों का भी उद्भव हुआ है। द्राविड मुनेत्र कषगम अथवा अकाली दल इस प्रकार के क्षेत्रीय दल हैं जो क्षेत्रीय अथवा धार्मिक आधारों पर संगठित हैं जिन्होंने चुनावी प्रक्रिया से राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर अपनी नीतियों का क्रियान्वयन करने का प्रयास किया है। इनका उद्देश्य विशिष्ट वर्ग के हितों का सम्पादन था। पर लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए इस प्रकार के दल हानिकारक होते हैं। लोकतन्त्र के लिए उन्हीं राजनीतिक दलों का उपयोग है जो राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखकर सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए किसी विशिष्ट नीति का निर्माण करें और जनता में उसका प्रचार कर शक्ति प्राप्त करें तथा फिर अपनी नीति व विचारों के अनुसार राष्ट्रीय हित का संवर्द्धन करें।

उक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर गठित राजनीतिक दल का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है– "राजनीतिक दल मनुष्यों के उस संगठित समुदाय को कहते हैं जिसके सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट विचार हों और जो उन विचारों

को क्रिया मे परिणित करने के उद्देश्य को सम्मुख रखकर वैध उपायो द्वारा सरकार का सचालन राष्ट्रहित के सवर्द्धन हेतु अपने हाथ मे लेने का प्रयत्न करें।

राजनीतिक दलो के आधार

राजनीतिक दलो का गठन निम्नलिखित आधार पर होता है –

1 मनोवैज्ञानिक आधार–दलो के निर्माण का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। कुछ व्यक्ति प्राचीन व्यवस्था अथवा आदर्शों से चिपके रहना चाहते हैं और किसी प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन पसन्द नहीं करते हैं। जबकि दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हे अतीत से कोई लगाव नही होता है और वे नित नूतन परिवर्तन करके प्रगति को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इन आधारो पर समान विचार वाला व्यक्ति राजनीतिक कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से विभिन्न दलों मे सगठित हो जाते हैं। इस भाँति प्राय चार प्रकार के व्यक्ति देखने मे आते हैं–

1 प्रथम, वे जो प्राचीन सस्थाओ और रीति-रिवाजों में वापिस लौटना चाहते हैं प्रतिक्रियावादी कहलायेगे।
2 द्वितीय वे जो वर्तमान मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही चाहते हैं अनुदारवादी कहलायेगे।
3 तृतीय, वे जो वर्तमान परिस्थितियो में सुधार करना चाहते हैं उदारवादी कहलायेगे, और
4 चतुर्थ वे व्यक्ति जो वर्तमान सस्थाओं का उन्मूलन करना चाहते हैं उग्रवादी कहलायेगे।

स्पष्ट है, मानव स्वभावानुसार प्रतिक्रियावादी, अनुदारवादी उदारवादी और उग्रवादी दल बन जायेगे।

2. धार्मिक आधार–कई बार बहुत से लोग धार्मिक आधार पर राजनीतिक दल गठित कर लेते है। उनका मुख्य उद्देश्य अपने धर्म के अनुयायियो की रचना करना है। यूरोपीय देशो में कैथोलिक दल इसी आधार पर बने। भारतवर्ष मे मुस्लिम लीग, अकाली दल हिन्दू महासभा के गठन का आधार धार्मिक ही था ।

राजनीति दल के गठन का आधार

मनोवैज्ञानिक	धार्मिक	आर्थिक	वातावरण	जातीय	नेतृत्त्व	विचारधारा
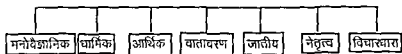
3 आर्थिक आधार–दलों के निर्माण का तीसरा आधार आर्थिक है। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक कार्यक्रम के अभाव में कोई दल अधिक दिनो तक नही बना रह सकता है। किसी भी राजनीतिक दल को राष्ट्रीय महत्त्व तभी प्राप्त होता है जब उसके पास आर्थिक कार्यक्रम हो। शिक्षित जनता पर तो दल की आर्थिक नीतियो का

काफी प्रभाव पडता है। एक सामान्य आर्थिक कार्यक्रम द्वारा ही राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गों मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

4 वातावरण का प्रभाव–दलो के निर्माण म वातावरण का प्रभाव होता है। बालक जिस वातावरण मे रहता है उसका व्यापक प्रभाव उसके मानस पर पडता है। साम्यवादी वातावरण मे पला बडा बालक उस दल का स्वत अनुयायी बन जाता है। इग्लैण्ड मे आज भी कई ऐसे परिवार ह जिनके सदस्य अनुदारवादी दल के कार्यक्रमो मे परम्परागत रूप से विश्वास रखते ह।

5 जातीय आधार–राजनीतिक दलो के निर्माण में जाति एक आधार है। जैसे–जर्मन मे नाजी पार्टी भारतवर्ष मे अखिल भारतीय परिगणित सघ का आधार जाति है। दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण रोडेशिया में काले गोरो ने अपनी-अपनी रक्षा के लिये अलग-अलग सघ बना रखें हैं।

6 नेतृत्व–प्राय राजनीतिक दल अपने उच्चतम नेता के व्यक्तित्व की प्रतिछाया होता है। वह जिन आदर्शों को आगे बढाना चाहता है, उसके अनुयायी बिना समझे-बुझे उसी के साचे में ढलते जाते हैं क्योंकि दल में प्रत्येक व्यक्ति न तो विचारशील होता है और न ही उसमे तार्किक बुद्धि होती है। वह तो नेता के चारों ओर घूमने वाला नक्षत्र मात्र होता है।

7 विचारधारा आधार–राउसैक के शब्दों मे," एक राजनीतिक आन्दोलन को जीवित रखने के लिए विचारधारा होना अति आवश्यक है। विचारधारा के अभाव में आन्दोलन अन्धकार तथा अनिश्चितता में ही छलाग लगाता रहेगा।" सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा मे आम सहमति दल के सदस्यों को आपस में जोड़ती है।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि प्रत्येक जन समुदाय में विभिन्न विचारों के लोग पाए जाते हैं। इनमें से कुछ विचार परस्पर विरोधी होते हैं। इन विचारों का प्रतिपादन करने वाले व्यक्तियों में से कुछ नेता बन जाते हैं और अन्य नागरिक उनका अनुमोदन और समर्थन करने लगते हैं। आगे चलकर इन्हीं लोगों से सगठित राजनीतिक दल बन जाते हैं। इन दलों का मनोवैज्ञानिक आधार मनुष्य की चार प्रवृतियाँ– सहानुभूति अनुकरण प्रतिरोध और प्रतिस्पर्धा है। इन्हीं कारणो से व्यक्ति समूह सामान्य नीतियों और सिद्धान्तो के आधार पर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पृथक सगठन बना लेते हैं।

राजनीतिक दलों के कार्य

इसमे सन्देह नहीं है कि राजनीतिक दल लोकतत्र शासन के लिए अपरिहार्य हैं। प्रत्येक शासन व्यवस्था में राजनीतिक दलो की सक्रिय भूमिका अनेक प्रकार की है। किसी देश के राजनीतिक दल कार्य दल की सरचना देश की व्यवस्था और कार्यों की प्रवृत्ति तथा अन्य दलों की उपलब्धियों से प्रभावित होते हैं।

राजनीतिक दल अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। मेरियम के अनुसार राजनीतिक दल के प्रमुख पाच कार्य हैं–

(1) पदाधिकारियो का चुनाव करना
(2) नीति निर्धारण
(3) शासन का संचालन तथा उसकी रचनात्मक आलोचना
(4) राजनीतिक प्रचार और प्रशिक्षण
(5) व्यक्ति और शासन के मध्य मधुर सम्बन्धो की स्थापना ।

लोकतन्त्रात्मक शासन मे राजनीतिक दल सामान्यत निम्नलिखित कार्य करते है–

राजनीतिक दलो के कार्य

1 **पदाधिकारियों का चुनाव करना**–राजनीतिक दलो का सर्वप्रथम कार्य पदाधिकारियो का चुनाव है। राजनीतिक दलों द्वारा सत्ता पर वैधानिक साधनो के माध्यम से प्रभुत्व की इच्छा विद्यमान रहती है। अत सभी राजनीतिक दलो का यह सम्भव प्रयास रहता है कि चुनावों के माध्यम से सत्ता के विभिन्न स्थानो पर आधिपत्य स्थापित किया जाय। राजनीतिक दल चुनाव के लिए अपने उम्मीदवारों के चयन घुनाव घोषणा-पत्र और उसका प्रचार करते हैं। दल हर तरीके से चुनाव जीतने के लिए मतदाता को खुश करने और बहुमत प्राप्त करने के लिए नम्र निवेदन के साथ-साथ हर सम्भव प्रयास करते हैं। हरमन साइमन के शब्दो मे– "राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो बिल्कुल असहाय हो जायेगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियो को ही अपनाकर राजनीतिक यत्र को ही नष्ट कर दिया जाएगा।"

2 **सार्वजनिक नीति-निर्धारण**–राजनीतिक दल किसी समूह विशेष का हित साधन नही करते हैं। वरन् सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र का समर्थन प्राप्त करने के लिए नीतियो और योजनाओं का जोरदार प्रचार करते है। वे जनता को सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक समस्याओ से अवगत कराते हैं। समाज या राष्ट्र को आगे बढाने की दिशा मे जनता के पास बहुत से विकल्प हैं। विभिन्न राजनीतिक दल अपने-अपने कार्यक्रम जनता के सामने रखते हैं। जनता उनमे से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का शासन के लिए चयन

कर लेती है। जनता द्वारा चयनित राजनीतिक दल शासन का सचालन करते समय अपनी नीतियो के साथ-साथ अन्य दलो की नीतियो एव कार्यक्रमो को भी सम्मिलित कर सार्वजनिक नीति का निर्धारण करता है। यही कारण है कि राजनीतिक दलो को विचारो का दलाल कहा जाता है। प्रो लास्की के शब्दो मे "आधुनिक राज्यो के भ्रातिपूर्ण वातावरण मे समस्याओ का चयन करके यह आवश्यक है कि वरीयता के आधार पर कुछ को अत्यन्त शीघ्र निपटाने के लिए छाटना चाहिए और उनके निदान जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किए जाने चाहिए। चयन का यह कार्य दलो द्वारा ही होता है।"

3 शासन का सचालन एव आलोचना–राजनीतिक दल चुनाव मे विजयी होने के तुरन्त बाद सरकार का निर्माण करते है। ससदीय शासन व्यवस्था मे बहुमत प्राप्त दल अपने दल मे से ही मत्री नियुक्त करते है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था मे जिस दल का राष्ट्रपति निर्वाचित होता है वह अपने दल के विचारो से सहमति रखने वाले व्यक्तियो को मत्री नियुक्त करता है। सभी शासन व्यवस्थाओ मे राजनीतिक दल शासन का सचालन करता है। सत्तारूढ दल अपने चुनाव घोषणा पत्र के वायदे को पूरा करने का प्रयास करते है। राजनीतिक दल सत्ता प्राप्ति की दौड मे लगे रहते है। सत्ता प्राप्त कर शासन की बागडोर सभालते है। यदि किसी राजनीतिक दल को चुनाव मे बहुमत प्राप्त नही होता है तो वह विरोधी दल के रूप मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विरोधी दल के रूप मे उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे शासन को सचेत रखे। विरोधी दल रचनात्मक सत्तारूढ दल के कार्यक्रमो की आलोचना करके वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत करता है तथा सत्तारूढ दल को निरकुश नही होने देता है। विरोधी दल शासन की कमियो को जनता के सामने रखकर उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करता है। स्पष्ट है कि राजनीतिक दल शासन का सचालन एव आलोचना दोनो मे ही महत्त्वपूर्ण कार्य करते है।

4. लोकमत का निर्माण–लोकतत्र व्यवस्था मे दल लोकमत का निर्माण करते हैं। राजनीतिक दल विभिन्न समस्याओ को जनता के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करते है कि जन समुदाय उन समस्याओ को समझ सके। लार्ड ब्राइस ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है– "लोकमत को प्रस्तुत करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति मे राजनीतिक दलो द्वारा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते है– जिस प्रकार ज्वारभाटा महासागर के जल को ताजा और तरगित रखता है उसी प्रकार राजनीतिक दल राष्ट्र के मस्तिष्क को ताजा और तरगित रखते है।"

5 जनता का राजनीतिक प्रशिक्षण–लोकतत्र मे जनता का राजनीतिक प्रशिक्षण आवश्यक है। राजनीतिक दल जनता को राजनीतिक शिक्षा देते है। सभाओ अधिवेशनों पत्र-पत्रिकाओं द्वारा वे जनता की समस्याओ के विभिन्न पहलुओ से परिचित कराते है। अत वे जनता मे राजनीतिक जागरण तथा चेतना के प्रादुर्भाव के मुख्य साधन हैं।

6 सामाजिक एव सास्कृतिक कार्य–राजनीतिक दल केवल राजनीतिक कार्य ही नही करते है वरन वे सामाजिक तथा सास्कृतिक उत्थान के लिए भी कार्य करते हैं।

विशेषकर पिछडे देशो में दलो के ये कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भारत में राजनीतिक दलों ने हरिजनोद्धार छुआछूत मिटाने जमीदारी प्रथा का उन्मूलन भूमि वितरण कुटीर उद्योग के विकास इत्यादि द्वारा सामाजिक और आर्थिक उत्थान में काफी सहयोग दिया है।

7 सरकार के विभिन्न अगों में सामजस्य स्थापित करना– राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अगो के बीच कड़ी का काम करते है। सरकार पृथक-पृथक विभागो मे बटी रहती है। लेकिन सम्पूर्ण सरकार एक सावयव के समान है। अत यदि विभिन्न विभागो मे सामजस्य स्थापित न किया जाय तो शासन तत्र का पुर्जा-पुर्जा अलग हो जाएगा और सरकार विफल हो जाएगी। राजनीतिक दल विभिन्न विभागो में सामजस्य स्थापित करने का सर्वोत्तम साधन है। ससदात्मक शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में अभिन्न सम्बन्ध रहता है क्योंकि दोनो के सदस्य एक ही राजनीतिक दल के होते हैं। अत एक ही दल के अनुशासन तथा कार्यक्रमों से बधे रहते हैं। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था मे भी दलो का महत्त्व इस अर्थ मे काफी बढ़ जाता है क्योकि विभिन्न शासन अगों की पूर्ण पृथकता को दल व्यवस्था से ही दूर किया जाता है। दलीय बधन तीनों विभागो को एक सूत्र मे बाधता है। सक्षेप मे सरकार की एकता को बनाए रखने में दल सराहनीय कार्य करते हैं।

8 दलीय कार्य– प्रत्येक राजनीतिक दल अपने दल से सम्बन्धित कई कार्य करते हैं जैसे– मतदाताओं को दल का सदस्य बनाना सार्वजनिक सभाओं का आयोजन दल के लिए चन्दा एकत्रित करना आदि।

उक्त कार्यों के अतिरिक्त राजनीतिक दल सत्ता के वैधीकरण के माध्यम के रूप मे भी कार्य करते है। रावर्ट सी बोन मानते हैं कि राजनीतिक दल एक ऐसा परिवर्तन है जो तीन प्रकार की भूमिका एक साथ निभाने की क्षमता रखता है। उनके अनुसार– "राजनीतिक दल एक साथ मध्यवर्ती स्वतत्र और आश्रित परिवर्त्य के रूप मे गत्यात्मक भूमिका निभा सकता है या इनमे से कोई एक भूमिका निष्पादित कर सकता है।"

दलीय पद्धतियाँ

विश्व में सत्ता सचालन की दलीय पद्धतियों को मुख्यत तीन वर्गों में रखा जाता है–

(1) एकदलीय पद्धति
(2) द्वि-दलीय पद्धति
(3) बहुदलीय पद्धति

1 एक दलीय पद्धति– यह वह व्यवस्था है जिसमे केवल एक ही राजनीतिक दल का अस्तित्व होता है। अनिवार्य रूप से सरकार पर इसी दल का अस्तित्व रहता है। अधिनायकवादी तथा साम्यवादी जैसे– नाजी फासिस्ट, इटली स्पेन सोवियत रूस साम्यवादी चीन आदि में व्यवस्था है। इस पद्धति के समर्थकों का कहना है कि यह सच्चे अर्थ मे जनतात्रिक है। जनतत्र सम्पूर्ण जनता का शासन है विभिन्न वर्गों का नहीं। सारी जनता इसका प्रतिनिधित्व कर सकती है अनेक दल नहीं। प्रजातत्र मे अनेक दलो का

अस्तित्व तो एक विरोधाभास है। एक दलीय व्यवस्था मे जनता के विभाजन और गुटबन्दी का भय नहीं रहता है, राष्ट्रीय एकता बनी रहती है। इस व्यवस्था में विरोधी दल का अभाव रहता है, अत विरोध के अभाव मे दल दृढतापूर्वक कार्य करता है।

सुनिश्चित दिशा मे नीतियो का निर्माण करता है। इस पद्धति मे त्रुटियाँ हैं क्योंकि—

(1) यह पद्धति अप्रजातान्त्रिक है।
(2) प्रजातत्र का आधार विचारधाराओ मे टकराव एव वाद-विवाद है।
(3) इस पद्धति में विचार का बहुमुखी विकास नही हो सकता है।
(4) यह व्यक्ति की स्वतत्रता समाप्त करती है।
(5) एक दल का शासन होने से अधिनायकतत्र की स्थापना होती है।
(6) जनतत्र का विनाश होता है। देश की उन्नति अवरुद्ध होती है।

2 **द्वि-दलीय पद्धति**—इसमे दो दलो की प्रधानता होती है। इसके अतिरिक्त अन्य छोटे दल भी रहते हैं, लेकिन देश की राजनीति में उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं होता है। दो प्रमुख दलों में से एक बहुमत प्राप्त दल सत्तारूढ रहता है और अल्पमत दल विरोधी दल होता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण अमेरिका तथा इग्लैण्ड हैं। यह प्रणाली प्रजातान्त्रिक है। भले ही बहुमत दल का शासन होता है, विरोधी दल होने से सत्तारूढ दल निरकुश नही हो पाता। सरकार को अपनी त्रुटियाँ जानने का अवसर मिलता है। मत्रीमण्डल की स्थापना बड़ी आसानी से हो जाती है। इसमे जनता का राजनीतिक प्रशिक्षण भी हो जाता है। विरोधी दल हर समस्या के विभिन्न पहलुओ को जनता के समक्ष रखते हैं।

इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि शासन पर बहुमत का एकाधिकार हो जाता है। मन्त्रिमण्डल की तानाशाही स्थापित हो जाती है। ससद की स्थिति कमजोर हो जाती है। मन्त्रिमण्डल हा में हा मिलाने वाला एक सभा मात्र रह जाता है। निर्वाचकों को मतदान की स्वतत्रता नहीं रहती है। बाध्य होकर उन्हे दो मे से किसी एक को मत देना होता है। उनके समक्ष कोई दूसरी इच्छा नहीं रहती है।

3. **बहुदलीय पद्धति**—इसमें अनेक राजनीतिक दल होते हैं और एक से अधिक राजनीतिक दल प्रभावशाली रहते हैं। सभी दल समकक्ष होते हैं। किसी एक दल को विधानसभा में इतना प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता है कि वह सरकार बना सके। कई दल मिलकर सरकार का निर्माण करते हैं। सयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाया जाता है। बहुदलीय पद्धति फ्रास इटली, भारत मे पाई जाती है। इस पद्धति में किसी एक दल की निरकुशता नहीं पाई जाती है और न ही व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल के हाथ का खिलौना मात्र ही रहती है। विभिन्न वर्गों तथा स्वार्थों को शासन में पूर्ण प्रतिनिधित्व मिलता है।

पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि सयुक्त सरकार अस्थायी होती है। पलो में सरकार बनती और बिगड़ती है। फ्रास में 1870-1974 ई के बीच 88 मन्त्रिमण्डलो का निर्माण हुआ। निर्बलता के कारण सरकार की नीतियो में एकरूपता भी नहीं हो पाती।

दूसरी ओर कभी-कभी मंत्रिमण्डल भी उच्छृंखल और अनियंत्रित हो जाता है। व्यवस्थापिका का उस पर नियंत्रण नही रहता। मतभेद के कारण सरकार दृढता पूर्वक किसी योजना का क्रियान्वयन भी नही कर पाती है।

राजनीतिक दलो के लाभ या गुण

राजनीतिक दल सरकार का निर्माण करते हैं। राजनीतिक दलो को लोकतंत्र के प्राण की सज्ञा भी दी जाती है। यदि राजनीतिक दल न रहे तो प्रजातंत्र के अन्तर्गत सरकार को व्यावहारिक रूप देना कठिन हो जायेगा। राजनीतिक दलों के निम्नलिखित लाभ या गुण है–

राजनीतिक दलो के लाभ

राजनीतिक दल पर निर्भर सरकार की सफलता	मानवीय प्रकृति के अनुसार	लोकमत के अनुसार सरकार का सचालन	सरकार की निरकुशता पर रोके है	शासन के विभिन्न अगो म सामजस्य	महत्ताओ का ध्यान बडी समस्याओ की और आकृष्ट करना	जनता के राजनीतिक प्रशिक्षण के साधन।	श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण करते है	सामाजिक एव सास्कृतिक	वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा करते है	दलीय प्रतिनिधियों मे अनुशासन एव नियत्रण रखते है	राष्ट्रीय एकता स्थापित करते है	एक सुन्दर एव स्वस्थ राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन का निर्माण करते है

1 **राजनीतिक दल पर निर्भर प्रतिनिधि सरकार की सफलता**–प्रतिनिधि सरकार की सफलता राजनीतिक दलो के अस्तित्व पर निर्भर करती है। यह पूरे देश की जनता को किसी सामान्य सिद्धान्त पर सहमत होने और उन सिद्धान्तो के समर्थन मे परस्पर मिलकर कार्य करने योग्य बनाती है। सगठित राजनीतिक दलो के अभाव मे साधर्पात्मक विचार समूह होगे, जिसमे सामजस्य के लिए कोई ऐसी सर्वमान्य बात नही होगी जो उन्हे इकट्ठे मिलकर प्रभावपूर्ण ढग से कार्य करने योग्य बनाए। लीकॉक ने ठीक ही कहा है कि– "राजनीतिक दलों की उपस्थिति लोकतंत्र सरकार को व्यवहारिक बनाती है क्योकि अकेले रहकर व्यक्तियो के लिए शासन करना कठिन है।

2 **मानवीय प्रकृति के अनुसार**–मानवीय विचारो मे विभिन्नता प्रकृति का नियम है। यही विभिन्न विचार विभिन्न राजनीतिक दलो को जन्म देते हैं। अत उदार अनुदार जटिल, सरल, कठोर, लचीले दल मानवीय प्रकृति के अनुसार हैं।

3 **लोकमत के अनुसार सरकार का सचालन**–मैकाइवर के शब्दों में– "दल प्रणाली के बिना राज्य मे न तो लोच होती है और न सच्चा आत्म निश्चय ही। लोकतंत्र का आधार जनसहमति तथा लोकमत है शक्ति नही।" यह विवशता की अपेक्षा प्रेरणा को अधिक उचित और शास्त्र सघर्ष के बजाय विचार-सघर्ष को अधिक रचनात्मक मानती है। दल व्यवस्था द्वारा विचारों का आदान प्रदान होता है। सरकार की आलोचना की जाती

है। यदि सरकार जनता की इच्छानुसार नीतियां का निर्माण नही करती तो जनता उसे दलो के माध्यम से अपदस्थ कर सकती है। राजनीतिक दल के रहत हुए भी सरकार का सचालन जनमत के अनुसार होता है।

4 सरकार की निरकुशता पर रोक–लोकतत्र मे विरोधी राजनीतिक दल सत्तारूढ सरकार के गलत कार्यों की आलोचना करते हैं और सदैव सरकार का जनहित मे कार्य करने के लिए बाध्य करते हैं । वे सत्तारूढ दल की मनमाने ढग से कार्य करने की प्रवृत्ति पर अकुश लगाते हैं तथा शासन म सतुलन बनाये रखते हैं। विचार-विमर्श का अवसर नागरिको का प्रदान करके विरोधी दल निरकुशता के अकुरो को आरम्भ म ही नष्ट कर देते है।

5 शासन के विभिन्न अगों में सामजस्य–राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अगो मे सामजस्य स्थापित करते है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे जहा शक्ति विभाजन का सिद्धान्त व्यवहार में पाया जाता है राजनीतिक दल विशेष रूप से कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को एक सूत्र मे बाधने का कार्य करते हैं। अगर कभी दोना अगों मे टकराव स्थिति उत्पन्न होती है तो उनमे दल ही सामजस्य स्थापित करता है। ससदीय व्यवस्था मे भी दल ही दोनो मे सामजस्य स्थापित करते हैं। उनके मध्य कडी का कार्य करते हैं, उन्हे एक-दूसरे से जोडते हैं।

6 मतदाताओं का ध्यान बडी समस्याओं की ओर आकृष्ट करना–राजनीतिक दल जनता का ध्यान छोटी-छोटी निजी बाता से हटाकर राष्ट्र के समक्ष उपस्थित बडी-बडी समस्याओ पर केन्द्रित करते हैं। राजनीतिक दल इस प्रक्रिया मे अहम् भूमिका निभाते हुए समस्याओ के स्पष्टीकरण के साथ-साथ जनता के साथ मिलकर समस्या का विवेक सम्मत हल ढूँढने का प्रयत्न भी करते हैं।

7 जनता के राजनीतिक प्रशिक्षण के साधन–राजनीतिक दल जनता के राजनीतिक प्रशिक्षण के प्रमुख साधन हैं। वे जनता की राजनीतिक निद्रा भग करते हैं, उनमे राजनीतिक जागरण पैदा करते हैं तथा सार्वजनिक प्रश्नो के प्रति सक्रिय रुचि पैदा करते हैं। ये व्याख्यानों सभाओ पत्र-पत्रिकाओ आदि द्वारा नागरिको को राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं से अवगत कराते हैं। नागरिक उत्साह की वृद्धि करते हैं तथा लोकतत्रात्मक भावना पैदा करते हैं।

8. श्रेष्ठ कानूनों के निर्माता–राजनीतिक दलो से श्रेष्ठ कानूनो का निर्माण होता है। एक दल दूसरे दल की त्रुटियो को उजागर करता है। व्यवस्थापिका सभाओं में विरोधी दल कानून निर्माण में सत्तारूढ दल का आलोचनाओं तथा सुझावों द्वारा परामर्श देता है। कानून बनाते समय जो उतावलेपन या राजनीतिक झख (ragaries) पैदा हो जाता है उसे दल दूर करते हैं। लॉवेल के शब्दो म "दल सगठन राजनीतिक झख (ragaries) को नियत्रित करते हैं।"

9. सामाजिक, सास्कृतिक कार्य सम्पादन–लोकतत्रात्मक शासन व्यवस्था मे अनेक राजनीतिक दल राजनीति के अतिरिक्त सामाजिक और सास्कृतिक कार्य भी करते

है और इस सदर्भ म बड़े-बड़े कार्यक्रम बनाते हैं। भारत म राजनीतिक दलो ने हरिजनाद्धार स्त्री शिक्षा बाल-विवाह दहज मृत्युभोज मद्य निषेध आदि कार्यक्रमो को सफल बनाने म सक्रिय योगदान दिया हे। पिछड़ो देशा मे सामाजिक कुरीतियो को दूर करना दलो का प्रमुख कार्य है। इसके लिये जनमत का निर्माण करते हैं अन्वेषण करवाते हैं राजनीतिक और विशेषज्ञ समितियो का निर्माण करते हे।

10 वैयक्तिक स्वतत्रता के रक्षक–राजनीतिक दल व्यक्तिगत स्वतत्रता के रक्षक भी हैं। विरोधी दल शासन की गलतियो के विरुद्ध सदा आवाज उठाते हैं। दल सरकार को सदा सकेत करते हैं कि अपनी शक्तियो का दुरुपयोग न करे। लास्की के शब्दो मे–"राजनीतिक दल देश म नौकरशाही से हमारी रक्षा करने के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।"

11 दलीय प्रतिनिधियों के अनुशासक और नियत्रक–राजनीतिक दल व्यवस्थापिका मे अपने प्रतिनिधियों के बीच अनुशासन और नियत्रण रखते हैं जिससे एक निश्चित नीति का विकास होता है तथा शक्तिशाली शासन की स्थापना होती है।

12 राष्ट्रीय एकता के स्थापक–राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता स्थापित करते हैं। स्थानीयता जातीयता धार्मिकता तथा क्षेत्रीय सकीर्णता त्यागकर ये नागरिकों को वृहत् स्वार्थों की ओर ले जाते है।

13 स्वस्थ राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन के निर्माता– अन्त मे राजनीतिक दल देश मे सुन्दर तथा स्वस्थ राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन का निर्माण करते हैं तथा समस्त राष्ट्र को भ्रातृत्व के सूत्र मे बाधते है। डा फाइनर ने कहा है कि– "राजनीतिक दल इस प्रकार कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सारे राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाय जो अन्य प्रकार से समय और प्रदेश की दूरी के कारण प्राप्त करना असम्भव है।

दलीय पद्धति के दोष

उक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि लोकतन्त्र के सचालन में राजनीतिक दलों की अहम् भूमिका है। लेकिन राजनीतिक दलो के उक्त लाभों से यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है कि राजनीतिक दल पूर्णत दोष रहित हैं। वास्तव मे सिक्के के दो पहलुओं की भाँति लोकतत्र मे राजनीतिक दलो के लाभ और दोष दोनों ही विद्यमान हैं। राजनीतिक दलो के प्रमुख दोष निम्नलिखित है–

दलीय पद्धति के दोष

द्वेष एव कटुता विस्तारक	देश की एकता के नाशक	नागरिको के पतन के लिए उत्तरदायी	राष्ट्रीय हित का उल्लघन	शासन हथियाने के लिये विरोध	योग्य व्यक्तियो की सेवा से वचित	स्वार्थी राजनीतिक साहसियो और अवसरवादियो को प्रोत्साहन	लोकतत्र के स्थान पर अधिनायकवाद की स्थापना	सुयोग्य नागरिक सार्वजनिक कार्यों से विमुख	वैयक्तिक स्वतत्रता का अपहरण	पूजीपति वर्ग का शासन	साम्प्रदायिक द्वष एव गुटबन्दी

1. द्वेष एवं कटुता के विस्तारक–दलीय व्यवस्था अस्वाभाविक है। यह मानव स्वभाव का परिणाम नहीं है। यह कृत्रिम व्यवस्था है। व्यक्तियों में कोई मौलिक पारस्परिक अंतर नहीं है। राजनीतिक दल उनके बीच झूठ-मूठ का विभाजन करते हैं तथा कृत्रिम समझौता कर उन्हें पुन संगठित करते हैं। वे जन जीवन में बेईमानी, असत्य भ्रष्टाचार अवसरवादिता आदि बुराइयाँ फैलाते हैं। निर्वाचन के समय नैतिक मूल्य त्यागकर भ्रामक प्रचार करते हैं तथा जनता को गुमराह करते हैं। लार्ड ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि– "दल सामान्य देशभक्ति के स्थान पर क्रोध और कड़वाहट को स्थान देते है।"

2 देश की एकता के नाशक–राजनीतिक दलों के चलते देश कई गुटों में बट जाता है। इन विरोधी समूहों या गुटों में निरंतर संघर्ष चलता रहता है जो देश की एकता का नाश कर देता है। देश की गुटबन्दी ने गाँवों तथा घरों तक को विभाजित कर दिया है। निर्वाचन के समय राजनीतिक दल युद्ध के समान जनता की भावनाओं को उखाड़ने की चेष्टा करते हैं। जिससे जनता के पारस्परिक सम्बन्ध में तनाव एवं कड़वाहट उत्पन्न होती है, दंगे तक हो जाते हैं। लार्ड ब्राइस ने लिखा है– "दल केवल व्यवस्थापिका सभा को ही नहीं वरन् राष्ट्र को भी दो परस्पर विरोधी पक्षों में बाट देते हैं और विदेशी राज्यों के सामने देश का विभाजित रूप प्रस्तुत करता है।" ऐसे ही विचार अमेरिकी राष्ट्रपति ने दलीय व्यवस्था के दोषों का उल्लेख करते हुए व्यक्त किये थे– "यह देश और समुदाय को दूषित ईर्ष्याओं से झूठे भय से, एक दल को दूसरे दल के विरुद्ध शत्रुओं को उत्तेजित करते है और कभी-कभी उपद्रव और राजद्रोह रचते हैं।

3. नागरिकों के पतन के लिये उत्तरदायी–राजनीतिक दल नागरिकों के पतन के लिए भी उत्तरदायी हैं। वे सार्वजनिक जीवन में बेईमानी भ्रष्टाचार तथा अवसरवादिता प्रोत्साहित करते हैं और सत्य को दबाते हैं। मत प्राप्ति के लिए अनैतिक तथा निम्न कोटि के उपायों की शरण लेते हैं। एक दल दूसरे दल पर कीचड़ उछालते हैं तथा अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करते है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में– "दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।" चुनाव के दिनों में दल मतदाताओं को खूब पैसा बाटते हैं। जब इतना पैसा खर्च करके कोई दलीय उम्मीदवार विजयी होता है तो वह अप्रत्यक्ष रूप से अनेक तरीकों से दल को लाभ पहुचाने का प्रयास करता है। अमेरिका की राजनीति लूट प्रथा व दलीय भ्रष्टाचार का प्रत्यक्ष उदाहरण है। स्पष्ट है दलीय व्यवस्था में तर्क और विवेक का गला घोंट दिया जाता है, और सामान्य नागरिकों का नैतिक स्तर गिरा कर उन्हें पतन की ओर ले जाने वाली बनती है।

4. राष्ट्रीय हितों का उल्लंघन–दलीय व्यवस्था में दल हित को प्रोत्साहन मिलता है तथा राष्ट्रीय हितों का उल्लंघन होता है उन्हें नजरअंदाज किया जाता है। दल के प्रति वफादारी राष्ट्रीय हित के लिए खतरनाक है। इस सम्बन्ध में मैरियट का

विचार है कि– "देशभक्ति के आधिक्य से देश भक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड सकता है, मत प्राप्त करने की बात पर अत्यधिक ध्यान देने से दलो के नेता और उनके प्रबधक देश की उच्चतम आवश्यकताओ को भूल सकते हैं।"

5 **शासन हथियाने के लिए विरोध**–गिल क्राइस्ट के अनुसार– "दलीय व्यवस्था किसी देश के राजनीतिक जीवन को यत्रवत् बना देती है। विरोधी दल का एक मात्र उद्देश्य होता है सत्तारूढ दल का विरोध करना। ये शासक दल के हर कदम का अन्धाधुध विरोध करते हैं भले ही वह कदम गलत हो या सही उपयोगिता और तर्क से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। उनका दृष्टिकोण इतना सकीर्ण तथा सकुचित हो जाता है कि एक-दूसरे का विरोध कर शासन को हथियाना उनका एक मात्र लक्ष्य रह जाता है।" विरोधी दल शासन के उन कार्यों की भी आलोचना करते हैं जो लोकहित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हैं। ब्राइस के शब्दो मे– "ससद एक राजनीतिक अखाडा बन जाती है, जहाँ वाद-विवाद और आपसी झगडो में जनहित भुला दिया जाता है।"

6 **योग्य व्यक्तियों की सेवा से वचित**–दलीय व्यवस्था के कारण शासन योग्य व्यक्तियों की सेवा से वचित हो जाता है। शासन कार्य मे केवल बहुमत दल के व्यक्तियो को लेने का मौका मिलता हैं। भले ही वे योग्य हों या अयोग्य। बहुमत दल के प्रभावशाली व्यक्ति ही मत्री, राज्य मत्री उपमत्री के पद पर आसीन किए जाते हैं। बहुत से अच्छे नेता विरोधी दल मे आ जाते हैं उनकी सेवाये शासन को रचनात्मक रूप से नहीं मिल पाती हैं। इस प्रकार दूसरे दलो के योग्य व्यक्ति शासन कार्य मे भाग लेने से वचित रह जाते हैं।

7 **स्वार्थियों, राजनीतिक साहसियों और अवसरवादियों को प्रोत्साहन**– राजनीतिक दल स्वार्थियो साहसियों अवसरवादियों को प्रोत्साहित करते हैं। वे नित्य नये दलों का निर्माण करते हैं, अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए जनता को भटकाने तथा दल शक्ति को अपने हाथ में करने के लिए गलत रास्ता अपनाते हैं। राजनीतिक जीवन, स्वार्थियो तथा भ्रष्ट व्यक्तियों का गढ बन जाता है। कहा गया है कि– "जिस प्रकार हर मुर्गा अपने निजी टीले पर खड़ा होना चाहता है उसी तरह राजनीतिक अवसरवादी अपने स्वार्थी लक्ष्यों की वृद्धि के लिए अपना जन्म अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलो का बरसाती मेढकों की तरह जहाँ-तहाँ पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है।"

8 **लोकतत्र के स्थान पर अधिनायकवाद की स्थापना**–अधिकाश राजनैतिक दलों का आन्तरिक सगठन अप्रजातात्रिक होता है। पूरे दल पर कुछ नेताओं या गुटो का नियत्रण हो जाता है। ये गुट मनचाहे रूप से सभी निर्णय लेते है, जनता की इच्छा की उन्हे तनिक चिता नही होती है। इस प्रकार दलशाही की आड में तानाशाही कायम हो जाती है। जैनिग्ज के अनुसार– "जिस शासन की पीठ पर प्रबल बहुमत का हाथ है वह कुछ समय के लिए अधिनायकवाद स्थापित कर लेता है।"

9 सुयोग्य नागरिक सार्वजनिक कार्यो से विमुख–दलीय व्यवस्था मे व्याप्त गन्दगी अनेक सुयाग्य नागरिको को सार्वजनिक जीवन से विमुख कर देती है। राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियो की विवेकशीलता ज्ञान और अनुभव से वचित हो जाता है जो या तो निर्वाचन भीरू हैं अथवा दल सचेतक और दलीय अनुशासन म रहने से इन्कार करते हैं।

10 वैयक्तिक स्वतत्रता का अपहरण–राजनीतिक दलो के कारण वैयक्तिक स्वतत्रता का अपहरण होता है। सभी सदस्य दल के नियत्रण म रहते हैं उन्हे दल की निर्धारित नीतियों का समर्थन अनिवार्य रूप से करना पडता है अन्यथा दलीय अनुशासन का कोपभाजन बनना पडता है। गिलबर्ट ने लिखा है– "मैने हमेशा अपने दल के अनुसार मत दिया है और स्वय कभी भी कुछ नहीं सोचा।" इस प्रकार नागरिको की स्वतत्रता का अपहरण होता है क्योकि अनिच्छा के बावजूद उन्हें किसी न किसी दल का समर्थन करना पडता है। लीकॉक के शब्दो म– "दलीय व्यवस्था उस व्यक्तिगत विचार और कार्य सम्बन्धी स्वतत्रता का दमन करती है जिसे लोकतत्रात्मक सरकार का आधारभूत सिद्धान्त समझा जाता है।"

11 पूँजीपति वर्ग का शासन–अनेक देशो मे राजनीतिक दलो के माध्यम से पूँजीपति वर्ग शासन पर नियत्रण कर लेता है। दल पूँजीपतियों से आर्थिक सहायता लेते है। अत वे उनके हाथ की कठपुतली बन जाते हैं। सरकार पर दल नियत्रण के चलते पूँजीपति वर्ग अदृश्य सरकार बना लेते हैं।

12 साम्प्रदायिक द्वेष एव गुटबन्दी–राजनीतिक दल मत प्राप्त करने के लिए, तात्कालिक उद्देश्य को सम्मुख कर साम्प्रदायिक भावनाओ को उभार कर विद्वेष फैलाने लगते हैं। विशेष तौर पर धार्मिक आधार पर बने राजनीतिक दल विद्वेष फैलाने में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं। दलबन्दी से गुटबन्दी की भावना भी मजबूत होती है। देशभक्ति का विचार कोसों पीछे रह जाता है और दलबन्दी की भावना उग्र होती है। जार्ज वाशिंगटन ने इस सदर्भ में कहा है कि– यह जाति की दूषित ईर्ष्याओ से, झूठे मतो से एक दल की दूसरे दल के विरुद्ध शत्रुता को उजागर करती है और कभी कभी यह उपद्रवों और राजद्रोहो के जाल रचती है।

दलीय व्यवस्था के सुधार हेतु आवश्यक उपाय

निस्सन्देह दलीय व्यवस्था म कतिपय दोष है लेकिन इन दोषों के चलते उसे जडमूल से समाप्त कर देना असम्भव तथा अस्वाभाविक है। आधुनिक काल में लोकतत्र के सचालन के लिए दलीय व्यवस्था अनिवार्य बन गई है। आज तक किसी भी विद्वान ने यह मार्गदर्शन नहीं किया है कि दलीय व्यवस्था के बिना लोकतत्र मे शासन किस प्रकार किया जा सकता है। अत दलीय पद्धति को समाप्त करने के स्थान पर, उसमें व्याप्त दोषो को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। इस दल व्यवस्था मे व्याप्त दोषों को दूर कर उसमे सुधार लाया जा सकता है। दलीय व्यवस्था में सुधार हेतु निम्नलिखित उपाय किये जा सकते है–

1 सर्वप्रथम, दलो का निर्माण तथा सगठन राजनीतिक सिद्धान्तो के आधार पर होना चाहिए।
2 *शिक्षित जनता ही राजनीतिक समस्याओं को समुचित रूप से समझ* सकती है तथा दल की नीतियो और कार्यक्रमों का सही मूल्याकन कर सकती है। अत जनता को शिक्षित किया जाना चाहिए।
3 जनता की गरीबी दूर करनी चाहिए जिससे कोई दल उनके मत को खरीद न सके तथा दल पर पूँजीपतियो का नियत्रण न हो सके।
4 दलों को भी अपना दृष्टिकोण वृहद करना चाहिए। उन्हें दलीय हित त्यागकर राष्ट्रीय हित को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।
5 सरकार को चाहिए कि वह दलों की अनैतिक अवैधानिक तथा अनुचित कार्यवाहियों पर कडा नियत्रण रखे। सकुचित आधारों पर सगठित राजनीतिक दलो– साम्प्रदायिक धार्मिक जातीय आधार आदि को अवैधानिक करार देना गलत नहीं होगा। सरकार किसी एक दल का पक्षपात न करे। सभी दलो को समान एव उचित अवसर प्रदान करे।
6 सत्तारूढ दल को चाहिए कि वह अपने विरोधी दलों के अच्छे सुझावो का आदर करे तथा उन्हें क्रियान्वित करने का प्रयास करे।
7 *राजनीतिक दलों की सख्या यथासम्भव कम होनी चाहिए। दो या तीन दल* होने से स्थिर सरकार का निर्माण सम्भव है।
8 राजनीतिक दलों के सदस्यो में सहिष्णुता की भावना विकसित होनी चाहिए। विरोधी दलों को भी चरित्र हनन की गन्दी राजनीति से दूर रहना चाहिए।

सिजविक ने दलीय पद्धति के दोषों को दूर करने के कुछ व्यवहारिक साधन बताये है। अध्यक्षात्मक शासन पद्धति में उनके अनुसार "राष्ट्रपति का निर्वाचन व्यवस्थापिका *द्वारा किया जाना चाहिए तथा कार्यपालिका के कर्मचारियों का पद दलबन्दी के अनुसार* नहीं होना चाहिए। ससदीय शासन पद्धति में निर्माण का भार कार्यपालिका के अतिरिक्त धारा सभाओ की अन्य समितियों को भी प्रदान किया जा सकता है। विभागीय अध्यक्षों की नियुक्ति दलीय आधार पर नहीं होनी चाहिए तथा विधायिका सभा के अविश्वास प्रस्ताव के बाद मन्त्रिमण्डल को पद त्याग करना चाहिए।"

निरसदेह, प्रतिनिध्यात्मक सरकार के लिए दल अनिवार्य हैं। दल ही वैधानिक सरकार को जीवन-शक्ति प्रदान करते हैं, उसे गति प्रदान करते हैं। दल ही सरकार चलाते हैं। अत दल व्यवस्था में विद्यमान दोषो को यथासम्भव दूर किये जाने हेतु उपाय किए जाने चाहिए।

दबाव समूह

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राजनीतिक प्रक्रिया मे दबाव समूहों का महत्त्व पहचाना गया। आज राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों का विशिष्ट महत्त्व है। एक समय

ऐसा था जब दबाव समूहो को राजनीति को भ्रष्ट करने वाला एव अनैतिक माना जाता था। कार्ल जे फेडरिक ने लिखा है– "क्या कूडा ढोने वाले और राजनीति के गम्भीर अध्येता सभी इन दबाव समूहो को घटिया एव हेयदृष्टि से देखते थे। इन्हे ऐसी पापात्मा शक्ति माना जाता था जो लोकतत्र की जडे कमजोर करने अथवा प्रतिनिध्यात्मक शासन को विचलित कर सकती थी।" परन्तु आज दबाव समूह लोकतत्र के सहयोगी एव पक्षपोषक माने जाते हैं।

दबाव समूह किसी न किसी हित का प्रतिनिधित्व करते है। अत इन्हें हित दबाव समूह कहा जाता है। समाज में अनेक प्रकार के हित पाए जाते हैं। जैसे कृषक, व्यवसायी, राज्य कर्मचारी मजदूर मालिक विद्यार्थी धर्म जाति इत्यादि। समाज के विभिन्न हित अपने-अपने समूह बना लेते हैं। ये समूह शासन व्यवस्था की कार्य प्रणाली को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक दल सभी समाज के वर्गों के हित का प्रतिनिधित्व नही करते है। ऐसी स्थिति मे समाज के ये विभिन्न हित सघटित रूप धारण कर लेते हैं तो उन्हे हित समूह कहा जाता है। जैसे– छात्र सघ, मजदूर सघ– इटक और एटक, शिक्षक सघ, व्यापारी एव व्यवसायियों का चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज, सरकारी कर्मचारी सघ इत्यादि। ये हित समूह सरकार पर अपने हित के लिए दबाव डालते हैं।

'दबाव समूहों' को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है– प्रभावक गुट, हित समूह , गैरसरकारी सगठन, लॉबीज, अनौपचारिक सगठन, हितबद्ध गुट इत्यादि। दबाव समूह व्यक्तियो के ऐसे समूह है जो किसी कार्यक्रम या घोषणा-पत्र द्वारा निर्वाचकों को प्रभावित नही करते हैं। लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष समस्याओ से होता है। यह राजनीतिक रूप से सगठित नही है और न ही चुनावो में अपने प्रत्याशी ही खडे करते है।

वस्तुत दबाव समूह व्यक्तियों के सगठित समूह हैं जो सरकार के निर्णयो को अपने विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। यह ऐसा निजी समुदाय है जो सार्वजनिक नीति को प्रभावित करता है। एवरीलाइजरसन के अनुसार– "दबाव समूह प्राय अपने आप को ऐसे लोगो का गैर राजनीतिक सगठन घोषित करता है जो विशिष्ट सिद्धान्तों की प्राप्ति भौतिक हितो की रक्षा अथवा उसके सवर्द्धन के लिए तथा समूह की दृष्टि मे उसके अस्तित्व के लिए महत्त्वपूर्ण आदर्श उद्देश्यो की रक्षा के लिए एकजुट रहता है।" एलेनबाल के अनुसार "सरकार की नीति को प्रभावित करने वाले प्रभावक गुट दबाव समूह कहलाते हैं।"

ओडिगार्ड के विचारानुसार, "दबाव समूह ऐसे लोगो का औपचारिक सगठन है जो सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयास करते है ताकि वे अपने हितो की रक्षा एव सवर्द्धन कर सके। राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हित समूह जब सार्वजनिक नीतिया तथा प्रशासनिक अधिकारियों को अपने हितो की पूर्ति के लिए प्रभावित करते है तो वे दबाव समूह कहलाते है।" माइनर वीनर लिखते हैं– "हित

समूह या दबाव गुटो से हमारा तात्पर्य शासन के ढाचे के बाहर स्वैच्छिक रूप से सगठित ऐसे गुटों से होता है जो प्रशासनिक अधिकारियों की नामजदगी और नियुक्ति विधि-निर्माण और सार्वजनिक नीति के क्रियान्वयन को प्रभावित करने मे प्रयत्नशील रहते हैं।"

दबाव समूहों का प्रारम्भ अमेरिका से माना जाता है। वहाँ दबाव समूह के लिए लॉबी शब्द प्रयोग किया जाता है। लॉबी का अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो व्यवस्थापिका के सदस्यों को अपने समूह के विशेष हितों के अनुरूप मत देने के लिए प्रभावित करने का अभियान चलाते है। अमेरिका मे इस प्रकार के हित समूहों के लोग व्यवस्थापिका से सलग्न कमरों बरामदों या दर्शक दीर्घा में बैठकर सरकारी निर्णय को अपने पक्ष में प्रभावित करना चाहते रहे हैं। ऐसा करने के लिए वे किसी भी वैधानिक या अवैधानिक साधन अपनाने में सकोच नहीं करते। अमेरिका से आरम्भ लॉबी आज विश्व की सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में पायी जाती है।

उक्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव समूह में निम्नलिखित प्रमुख लक्षण पाये जाते है–

दबाव समूह के लक्षण

- विशिष्ट हितों से सम्बन्ध
- गैर राजनीतिक सगठन
- अज्ञात साम्राज्य
- सरकार पर अधिपत्य की अनिच्छा
- औपचारिक सगठन
- ऐच्छिक सदस्यता
- अनिश्चित कार्यकाल
- सर्वव्यापक प्रवृति
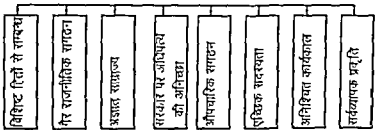
1 **विशिष्ट हितों से सम्बन्ध**–दबाव समूहो का सम्बन्ध विशिष्ट मामलो से होता है। उनकी गतिविधियाँ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति तक ही सीमित होती हैं। विशिष्ट हित की प्राप्ति के लिए जब कुछ व्यक्ति सगठित होते हैं तो ऐसे समूह को दबाव समूह माना जाता है। उदाहरणार्थ, गन्ना उत्पादक किसान जब अपने उत्पादन के हितों की रक्षा करने के लिए गन्ना उत्पादक सघ का गठन करते हैं तो उसका आधार अपने विशिष्ट हित की रक्षा करना है।

2 **गैर राजनीतिक सगठन**–दबाव समूह गैर-राजनीतिक सगठन होते हैं। उनका सम्बन्ध सार्वजनिक हितों की अपेक्षा निजी हित से ही होता है। गैर-राजनीतिक होने के कारण इन्हें राजनीतिक हितों से भिन्न माना जाता है। इनका उद्देश्य राजनीतिक नहीं होता है पर निजी हित एव व्यावसायिक हित इनका लक्ष्य होता है।

3 **अज्ञात साम्राज्य**–प्रोफेसर एस ई फाइनर ने दबाव गुटों को अज्ञात साम्राज्य' कहा है, क्योंकि यह खुले रूप से राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं।

इसी कारण हैरी एक्सटीन ने दबाव समूहों को राजनीतिक और गैर राजनीतिक म मध्य स्तरीय क्रिया बतलाया है। इनका उद्देश्य अपने हित विशेष के लिए सरकारी नीतिया एव ढाँचे को प्रभावित करना मात्र होता है। कार्य विधि की दृष्टि से ये राजनीतिक क्रिया को शासन सरचना से अलग रह कर अपने हितो के अनुरूप कार्य करने के लिए प्रभावित करते हैं।

4 सरकार पर अधिपत्य की अनिच्छा–राजनीतिक दलो की भाँति दबाव समूहो का उद्देश्य सत्ता प्राप्ति नही होता है और न ही उनका लक्ष्य सरकार पर अधिपत्य स्थापित करना होता है। वे शासन के ढाचे से पृथक रहकर कार्य करते हैं।

5 औपचारिक सगठन–दबाव समूह औपचारिक रूप से सगठित समूह है। व्यक्तियो के झुण्ड या भीड को दबाव समूह नही कहा जा सकता है। अत दबाव समूहो का औपचारिक रूप से सगठित होना जरूरी है। विशेष हितो का समर्थन करने वाले समूह की तरफ से वकालत करने वाले समूह के द्वारा निर्वाचित या मनोनीत प्रतिनिधियो की व्यवस्था ही दबाव समूह है। सगठित होने के लिए दबाव समूह के अपने नियम सदस्यता शुल्क नियम निर्माता समिति तथा कार्यकारिणी होती है। ये सब तत्व दबाव समूह को औपचारिक सगठन बनाते हैं।

6 ऐच्छिक सदस्यता–दबाव समूहो की सदस्यता ऐच्छिक होती है, क्योकि इनकी सदस्यता वही व्यक्ति प्राप्त करते हैं जिनके हितो की पूर्ति इनके द्वारा होने की सम्भावना होती है। अन्य व्यक्तियों को इनका सदस्य बनने के लिए बाध्य नहीं किया जाता है। एक बार सदस्य बनने के बाद भी अगर व्यक्ति यह अनुभव करता है कि इससे उसका हित साधन नही होने वाला है तो वह सदस्यता त्याग सकता है।

एक व्यक्ति एक ही समय मे एक से अधिक दबाव समूहो की सदस्यता ग्रहण कर सकता है, क्योकि एक ही समय मे उसके कई हित हो सकते हैं।

7. अनिश्चित कार्यकाल–दबाव समूहो का कार्यकाल अनिश्चित होता है। ये विशेष हितों की पूर्ति के लिए अस्तित्व मे आते हैं। विशेष हित की पूर्ति होने पर लुप्त हो जाते हैं। सभी दबाव समूह इस प्रकृति के नही होते हैं। मजदूर और व्यावसायिक सगठन निरतर बने रहते हैं। अत इनसे सम्बन्धित दबाव समूह भी निरन्तर बने रहते हैं।

8. सर्वव्यापक प्रकृति–इनकी सर्वव्यापक प्रकृति होती है। सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं म इनका अस्तित्व पाया जाता है। लोकतत्रात्मक शासन व्यवस्था में दबाव समूह लोकतत्र के प्राण माने जाते हैं। राजनीतिक दल तो केवल चुनाव के समय ही सक्रिय होते हैं, किन्तु दबाव समूह दो आम चुनावों के बीच के अन्तराल मे जनता व सरकार के बीच निरन्तर सम्पर्क स्थापित करने की भूमिका निभाते हैं।

दबाव समूहों का महत्त्व

दबाव समूहो का महत्त्व दिन-प्रतिदिन व्यापक होता जाता है। अधिकाश देशो के सविधान इस बात को स्वीकार करते हैं कि यहाँ पर इस प्रकार के समूहो के विकास

के लिए उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान की जाएँ। ये समूह प्रशासन को जन इच्छा के अनुकूल बनाने मे महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। दबाव समूहो की उपयोगिता तथा महत्त्व के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं –

दबाव समूहो का महत्त्व

लोकतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति	शासन के लिये सूचनाएँ एकत्रित करने वाला सगठन	शासन को प्रभावित करने वाला सगठन	सरकार की निरकुशता को सीमित करने वाला	समाज और शासन मे सतुलन स्थापित करने वाला	व्यक्ति और सरकार के बीच सचार साधन	विधान मण्डल के पीछे विधान मण्डल का कार्य

1 ***लोकतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति***–आधुनिक समय मे दबाव समूह लोकतत्रीय प्रक्रिया का अग माना जाता है। आज यह लोकतान्त्रिक भावना की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतत्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना जरूरी होता है ताकि किन्ही नीतियों का विरोध या समर्थन किया जा सके। लोकमत को विकसित एव शिक्षित करके आकडे एकत्रित करके विधि निर्माताओ के पास आवश्यक सूचनाएँ पहुँचाकर अपने वाछित ध्येय को प्राप्त करना लोकतत्र प्रक्रिया का प्रमुख कार्य है। प्राय यह देखा जाता है कि सरकार अपनी नीतियों के समर्थन एव क्रियान्वयन मे जिन तथ्यो को नही जुटा पाती है दबाव समूह उन्ही तथ्यो को अपने शोध साधनो से एकत्र कर सरकार की नीतियो का समर्थन एव विरोध करते हैं। इस प्रकार दबाव समूह तथ्यों के आधार पर अपनी नीतियों के समर्थन के लिए जनमत तैयार करते हैं।

2 **शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाला सगठन**–शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उनके पास पर्याप्त सूचनाएँ हों। शासन की सूचनाओ के गैर सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आकडे एकत्रित करते हैं शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

3 **शासन को प्रभावित करने वाला सगठन**–वर्तमान मे दबाव समूहो का अस्तित्व एक ऐसी सस्था के रूप में है जिसके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए शासकीय मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सके।

4 **सरकार की निरकुशता को सीमित करने वाला**–प्रत्येक सरकार की शासन व्यवस्था मे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ रही है। आज सम्पूर्ण शक्तियाँ सरकार के

हाथो मे केन्द्रित होती जा रही है। दबाव समूह अपने साधनो द्वारा सरकारी निरकुशता को सीमित करते हैं।

5 समाज और शासन में सतुलन स्थापित करने वाला–राज्य म दबाव समूहो की उपस्थिति का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितो के बीच सतुलन बना रहता है। कोई भी एकमात्र प्रभावशाली सत्ता का उदय नही होता है। सभी सघ–व्यापारी श्रमिक कृषक कर्मचारी जाति या धर्म सम्बन्धी सभी अपने स्वय के हितो को प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं, उन्हे एक-दूसरे सघ से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जाता है। फलत समाज और शासन मे अनूठा सतुलन स्थापित हो जाता है और यह सन्तुलनकारी प्रवृति समाज को उस स्थिति से बचाती है जिसम व्यक्तिगत समुदाय की सारी शक्ति हथिया लेते हैं।

6. व्यक्ति और सरकार के बीच सचार के साधन–दबाव समूह व्यक्तिगत हितो का राष्ट्रीय हितो के साथ सामजस्य स्थापित करते है। ये समूह नागरिक और सरकार के मध्य सचार साधन का कार्य करते हैं। रॉडी के अनुसार– "निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचको की इच्छा आकाक्षा का पता लगा लेते हैं। अत इन्हें गैर सरकारी सचार सूत्र कहा जा सकता है।"

7 विधानमण्डल के पीछे विधान मण्डल का कार्य–दबाव समूह विधि निर्माण मे विधायको की सहायता करते हैं। डी एम वर्मन ने अपने एक लेख मे लिखा है– "अपनी विशेषता तथा ज्ञानरूपता के कारण ये गुट विधि निर्मात्री समितियो के सदस्यो को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनकी परामर्श और सहायता दोनो ही इतनी उपयोगी होती हैं कि इन्हे विधान मण्डल के पीछे विधान मण्डल कहा जाने लगा है।"

वस्तुत दबाव समूह लोकतत्रात्मक व्यवस्था का पर्याय है। निरकुश शासन तत्र में भी दबाव समूह विद्यमान रहते हैं। साम्यवादी देशो मे भी दबाव समूह सक्रिय रहते हैं।

दबाव समूह एवं हित समूह

समाज मे अनेक प्रकार के हित पाये जाते हैं। जैसे– मजदूर, मालिक, कृषक, व्यवसायी, कर्मचारी इत्यादि। सभी हित अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए समूह बना लेते हैं। सभी समूहों का उद्देश्य अपने सदस्यो का सामाजिक, आर्थिक एव व्यावसायिक उत्थान करना होता है। जब यह सगठित हित समूह अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सरकारी सहायता चाहते हैं या सरकार के निर्णय को अपने पक्ष मे कराना चाहते हैं तो ये हित समूह ही दबाव समूहो मे बदल जाते हैं। अत दबाव समूह एव हित समूह मे अन्तर करना बडा कठिन है। एक तरफ ऑमण्ड रोमन कोकोविज हिचनर व हम्बोल्ट जैसे विद्वान हित समूह को दबाव समूह के स्थान पर केवल हित समूह कहना ही उचित समझते हैं। जबकि दूसरी तरफ जीन ब्लोण्डेल रॉबर्ट सी योन, माइनर, वीनर तथा एस ई फाइनर जैसे विद्वान दबाव समूह व हित समूह को पर्यायवादी मानते हैं तथा इन दोनों म कोई अन्तर नही मानते हैं। वस्तुत दोनों दबाव समूह व हित समूह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अगर कहीं दोनों में कोई अन्तर है तो वह उनके सैद्धान्तिक महत्त्व का है। अर्थ लगम

के अनुसार– "सभी हित समूह दवाव समूह नहीं होते हैं, किन्तु समय आने पर सभी हित समूह दबाव समूह का रूप धारण कर लेते हैं। छात्र हितो से सम्बन्धित छात्र समूह डाक्टरो से सम्बन्धित डाक्टर समूह मजदूर समूह व्यवसायी समूह आदि सभी प्रारम्भ मे हित समूह ही हैं क्योकि वह अपने-अपने हितो का प्रतिनिधित्व करते है। जब यह हित समूह राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने लगते हैं तो दबाव समूह या प्रभावक समूह बन जाते हैं। यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब हित समूहो के हित सकट में होते हैं अथवा जब उन्हे कतिपय स्वार्थों की प्राप्ति करनी होती है अन्यथा दबाव समूह हित समूहो के रूप मे निष्क्रिय ही बने रहते हैं।

दबाव समूह के तरीके

अपने हितों की पूर्ति के लिए दबाव समूह कई तरीके अपनाते हैं। प्राचीन समय में दबाव समूहो के साधन अनुचित माने जाते थे। परन्तु आज इन्हे बुरा नही माना जाता है। *दबाव समूहो द्वारा अपनाए जाने वाले विभिन्न तरीके इस प्रकार हैं–*

दबाव समूह के तरीके

- प्रचार व प्रसार के साधन
- आंकड़ो का प्रकाशन
- गोष्ठी आयोजन
- ससदीय लॉबियो मे सक्रियता
- रिश्वत बेईमानी तथा अन्य उपाय
- लॉबीइग
- ससद सदस्यो के मनोनयन मे रुचि
- प्रदर्शन

1 प्रचार व प्रसार के साधन–अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जनता मे अपने पक्ष मे सद्भावना का निर्णय करने के लिए तथा विधायको के दृष्टिकोण को अपने पक्ष मे करने के लिए विभिन्न दबाव समूह प्रेस समाचार पत्र रेडियो तथा टेलीविजन का प्रयोग करते है।

2 आँकड़ो का प्रकाशन–नीति निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव समूह आकडे प्रकाशित करते हैं ताकि अपनी माग पूरी करवा सके।

3 गोष्ठी आयोजन–वर्तमान मे दबाव समूह विचार-*विमर्श तथा वाद-विवाद के* लिए गोष्ठियाँ सेमीनार वार्ताएँ तथा भाषण मालाएँ आयोजित करते हैं। इन गोष्ठियो मे विधान मण्डल के सदस्यो तथा प्रशासन के प्रमुख अधिकारियो को आमन्त्रित करते हैं और उन्हे अपने दृष्टिकोण से *प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।*

4 ससद की लॉबियों में सक्रियता–दबाव समूह अपने एजेण्टो के माध्यम से ससद के सभाकक्षों मे जाकर सदस्यो को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यावसायिक

संगठन संसद की लॉबियो मे संसद सदस्यो का प्रभावित करने के लिए चतुर वकीलो या एजेण्टो को नियुक्त करते हैं जो उनके स्वार्थ की पूर्ति के लिए कठोर परिश्रम करते हैं। लॉबी क्षेत्र के एजेन्ट अपने न्यायसगत अधिकारो की रक्षा के लिए खुले उपायो का भी सहारा लेते हैं। ये विधायको के साथ सम्पर्क स्थापित करते है उनकी गतिविधियो पर निगरानी रखते है और उनकी मनोवृत्तियो का बदलने का प्रयास करते है।

5 **रिश्वत, बेईमानी तथा अन्य उपाय**–अपने अभीष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिए दबाव समूह रिश्वत व घूस देने से भी नही कतराते। बेईमानी के तरीके भी अपनाए जाते हैं। व्यवसायिक दबाव समूह धन खर्च करके अपने हितो की प्राप्ति म लगे रहते है। प्रत्येक राज्य की राजधानी मे दबाव समूह के प्रतिनिधियो की सक्रिय क्रियाशीलता देखी जा सकती है। दबाव समूह विधायको के लिए भारी दावतो सुरा और सुन्दरी की व्यवस्था भी करते हैं। इन तरीको को अपनाने के कारण दबाव समूहो की आलोचना भी की गई है। प्रो वी ओ की का कथन है कि– "दबाव समूह को एक धूर्त लॉबिस्ट के रूप मे देखा जाता है क्योकि वह एक सदाचारी विधायक को पथ-भ्रष्ट कर अपने उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयास करता है।"

6. **लॉबीइग**–लॉबीइग से तात्पर्य है– "सरकार को प्रभावित करना।" यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉबीस्ट का कार्य करने वाले व्यक्ति दबाव समूहो और सरकार के बीच मध्यस्थ होते है। लेस्टर गिल्बर्थ के अनुसार ये लॉबीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैं–

(1) सूचनाये प्रसारित करते है।

(2) नियोजनकर्ता के हितो की रक्षा करते हैं

(3) विधियों के राजनीतिक प्रभावो को स्पष्ट करते हैं। लॉबीस्ट के माध्यम से दबाव समूह विधि निर्माताओ को प्रभावित करते है और वाछित लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं।

7 **ससद सदस्यों के मनोनयन में रुचि**–दबाव समूह ऐसे व्यक्तियो को दलीय चुनावो मे उम्मीदवार मनोनीत करवाने मे सहायता करते हैं जो आगे चलकर ससद में उनके हितो की रक्षा मे सहायता कर सके। कहावत है– "लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में ससद सदस्य दबाव समूहों की जेबो मे रहते हैं।" चुनावो मे उम्मीदवार को पैसा चाहिए और पैसा दबाव समूह उपलब्ध करवाते है और बदले मे उन्हे दबाव समूहो का समर्थन करना पडता है।

8 **प्रदर्शन**–दबाव समूह कभी-कभी उग्र आन्दोलनात्मक और प्रदर्शनकारी तरीकों का भी प्रयोग करते हैं। प्राय प्रदर्शनकारी दबाव समूहो द्वारा ही इस प्रकार के तरीकों का अधिक उपयोग किया जाता है। दबाव समूह आजकल तो दूसरे दबाव जैसे हडताल, जुलूस रैली आदि तरीके भी काम म लेने लगे हैं।

एच ए बोन ने दबाव समूहों के कार्य करने की तकनीक का उल्लेख अग्रलिखित रूप से किया है –

1 सरकार की विभिन्न आधारभूत शाखाओ पर दबाव डालना
2 विधायको तथा प्रशासकों से मिलना
3 व्यवस्थापिका की समितियो का प्रयोग करना
4 अन्य दबाव समूहो के साथ गठबधन एव पारस्परिक सहयोग करना
5 मित्रों अथवा विरोधियो के चुनावो को प्रभावित्त करना
6 आवश्यकता पड़ने पर न्यायलयों के हस्तक्षेप का सहारा।

ओडिगार्ड के अनुसार दबाव समूह सामान्यतया तीन प्रकार से क्रियाशील होते हैं–

1 दबाव समूह चुनावो के समय सक्रिय रहते हैं,
2 वे विधानाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और लॉबीइग करते हैं, और
3 प्रचार माध्यमों से लोकमत को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करते हैं।

यदि सरकार कम से कम आर्थिक कार्यो का सम्पादन करती है तो दबाव समूह सुषुप्त रहेंगे और यदि सरकार अधिक से अधिक आर्थिक कार्य करती है तो दबाव समूह सक्रिय रहेंगे।

दबाव समूहो का वर्गीकरण

जी ए आलमण्ड तथा जी बी पावेल ने अपनी पुस्तक कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स में दबाव समूहो को चार श्रेणिया मे बाटा है–

1 सस्थात्मक दबाव समूह
2 समुदायात्मक दबाव समूह
3 गैर समुदायात्मक दबाव समूह ओर
4 प्रदर्शनात्मक दबाव समूह
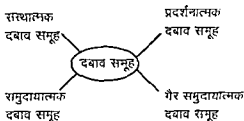
1 **सस्थात्मक दबाव समूह**–सस्थात्मक दबाव समूह राजनीतिक दलो विधान मण्डलों नौकरशाही इत्यादि में सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक सगठन होते हैं। ये स्वायत्त रूप से क्रियाशील रहते हैं अथवा विभिन्न सस्थाओ की छत्रछाया में पोषित होते हैं। ये अपने हितों की अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

2. समुदायात्मक दबाव समूह–समुदायात्मक दबाव समूह हितों की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत संघ होते हैं। इसकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है। ये अपने आधुनिक परिवेश में प्रत्येक देश की राजनीति में सक्रिय दिखलाई देते हैं। इनमें प्रमुख हैं– व्यावसायिक संगठन, श्रमिक संगठन, छात्र संगठन इत्यादि।

3. गैर-समुदायात्मक दबाव समूह–गैर-समुदायात्मक दबाव समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अभिव्यक्ति करते हैं, इनके संगठित संघ नहीं होते और इनको परम्परावादी दबाव-गुट भी कहते हैं। गैर-समुदायात्मक दबाव-समूहों में साम्प्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय आदि लिये जा सकते हैं।

4. प्रदर्शनात्मक दबाव समूह–प्रदर्शनकारी दबाव समूह वे हैं, जो अपनी मांगों को लेकर अवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य आक्रमणकारी रवैये अपना लेते हैं। प्रदर्शनात्मक विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही के कई प्रकार हैं– जनसभाएँ, गली-कूचा बैठक, पदयात्रा, रैली, विरोध दिवस, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन, घेराव आदि। इन उपायों के प्रभावक समूह न केवल अपना असंतोष व्यक्त करते हैं अपितु सरकार के निवेश तथा निर्गत ढाँचे को भी प्रभावित करते हुए नियम निर्माण, नियम प्रयुक्ति एवं नियम अधिनिर्णयन के रूप को भी छू लेते हैं। ये गुट किसी विशिष्ट नीति को बनवाने अथवा बदलने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं।

ब्लाण्डेल ने दबाव समूहों को दो वर्गों में विभाजित किया है– (1) साम्प्रदायिक दबाव समूह, (2) संसर्गात्मक।

1. साम्प्रदायिक दबाव समूह–ब्लाण्डेल ने जिन दबाव समूहों की स्थापना के मूल में व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, साम्प्रदायिक या सामाजिक दबाव समूह कहा है। साम्प्रदायिक दबाव समूहों को पुनः दो वर्गों में प्रथागत एवं संस्थागत रूप में विभाजित किया है।

2. संसर्गात्मक दबाव समूह–ब्लाण्डेल के अनुसार वे दबाव समूह जिनकी स्थापना के पीछे किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति का प्रेरक तत्व होता है, संसर्गात्मक दबाव समूह कहलाते हैं। इस प्रकार के दबाव समूहों को भी संरक्षात्मक तथा उत्थानात्मक वर्गों में वर्गीकृत किया है।

ब्लोण्डेल का दबाव समूहों का वर्गीकरण
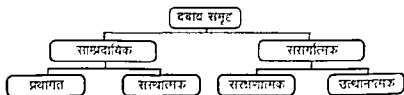
इसी प्रकार ओमण्ड ने दवाव समूहों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है –

1 सस्थात्मक
2 असमुदायात्मक
3 चमत्कारिक
4 समुदायात्मक या ससर्गात्मक ।

दवाव समूहो की आलोचना

दवाव समूहों में व्याप्त दोषों के आधार पर दवाव समूहों की आलोचना की गई है। दवाव समूहों के आलोचक इनमें निम्न प्रमुख दोषो का उल्लेख करते हैं–

1 सार्वजनिक हितों की उपेक्षा–दवाव समूह अपने सकीर्ण स्वार्थो की पूर्ति हेतु सार्वजनिक कल्याण का निरादर करते हैं। कभी-कभी उनके वर्गीय हितों से सामान्य हितों को भी हानि पहुँचने का खतरा बना रहता है।

2 राजनीतिक प्रक्रिया में फैला भ्रष्टाचार–अधिकाश दवाव समूह राजनीति जीवन मे भ्रष्टाचार फैलाते हैं। रिश्वत खोरी और अनेक घृणित उपायों का आश्रय लेते हैं। वे विधायको को घूस देने व अनुचित और अनैतिक आचरण के कार्य भी करते हैं जिनका सार्वजनिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विलसन का अनुभव था कि– अमेरिकन कॉग्रेस की इच्छा के पीछे हित समूहों की इच्छा व्याप्त थी।

3 सकुचित दृष्टिकोण–दवाव समूह अपने सकीर्ण हितों को बढावा देते हैं। ये सगठित होते हैं। अत राष्ट्रीय हितों के स्थान पर सकुचित समूह-हितों को महत्त्व दिया जाता है।

4 लॉबीइग–अनेक दवाव समूह लॉबीस्ट द्वारा कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा भ्रष्टाचार और अनैतिकता में बढोतरी होती है। वी ओ की के अनुसार– "दवाव शब्द का प्रयोग मस्तिष्क मे एक ऐसी शैतान लॉबीस्ट का चित्र अकित कर देता है जो उचित पथगामी विधायक की सार्वजनिक हित की धारण को हटाने के लिए अनुचित दवाव डालने का प्रयास करता है।"

5 हिंसा की राजनीति के सगठित स्रोत–दवाव समूह सरकार के विरुद्ध हिसात्मक तरीकों का भी प्रयोग करते हैं। मायरन वीनर लिखते हैं कि– "गैर-पश्चिमी देशों में हिंसा का सगठित प्रयोग किया जाता है किन्तु अधिकाश में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ अचानक नहीं हो पातीं अपितु सगठित और योजनावद्ध होती हैं।" हिंसा और जनआन्दोलन से अराजकता उत्पन्न होती है। ऐसी अव्यवस्था राज्यव्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न कर देती है।

निस्सदेह दवाव समूहों का आधार अलोकतात्रिक है। इनके कार्य के तरीके भी सिद्धान्तहीन एव भ्रष्ट होते हैं। इनके नियत्रण की डोरी प्रच्छन्न रूप से कार्य करने वाले नेताओ के हाथों मे होती है जो स्व-स्वार्थानुसार उन्हें कठपुतली की तरह नचाते हैं। ये अपनी नीतियो के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नही होते फिर भी शक्ति का भोग करते हैं।

इस प्रकार उक्त आधारों पर दबाव-समूहों की आलोचना की जाती है।

दबाव समूह एवं राजनीतिक दल

दबाव समूह और राजनीतिक दल एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। दोनों में पारस्परिक निर्भरता का सम्बन्ध है। कई बार तो दोनों के बीच स्पष्ट भेद करना मुश्किल हो जाता है। दोनों के मध्य भेद करने की कठिनाई गुटो की परिभाषा तथा वर्गीकरण की समस्या से जुड़ी है। इस कारण स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता है। अमेरिका और ब्रिटेन मे दबाव समूह और राजनीतिक दलो के बीच गहरा सम्बन्ध होता ही नही है। अत वहा भेद करने की समस्या उग्र नहीं होती है। ब्रिटेन में कुछ ट्रेड संघो और ब्रिटिश लेबर पार्टी के बीच निकटतम सम्बन्ध है। जहाँ तक विकासशील देशो का प्रश्न है वहाँ दलीय पद्धतियो में कुछ कमियाँ पाई जाती हैं जिसके कारण दबाव समूह और राजनीतिक दलों के बीच अन्तर करना कठिन हो जाता है। सोवियत रूस तथा सर्वाधिकारवादी देशो मे दबाव समूहो की स्थिति दलो के अधीन होती है। वहा राजनीतिक दल दबाव समूहों को निदेशित और नियत्रित करते हैं।

प्रो हरमन फाइनर का कहना है कि– "जहाँ सिद्धान्त और सगठन में राजनीतिक दल कमजोर होगे वहाँ दबाव समूह पनपेगे। जहा दबाव समूह शक्तिशाली होगे वहा राजनीतिक दल कमजोर होगे और जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होगे वहाँ दबाव समूह दबा दिये जायेगे।" परन्तु राजनीतिक दलो की सुदृढता और कमजोरी को दबाव समूहो की शक्ति और दुर्बलता से नहीं जोडा जा सकता है। ब्रिटेन में राजनीतिक दलों के सगठन और अनुशासन की दृष्टि से सुदृढ होने पर भी वहा दबाव समूह कमजोर नहीं है। भारत और फ्रास में राजनीतिक दल सगठन एव सिद्धान्त की दृष्टि से कमजोर हैं। परन्तु दबाव समूहों को किंग मेकर्स के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई है। भारतवर्ष में दबाव समूह विभिन्न राजनीतिक दलों के गठजोड़ हैं जो दल के भीतर दलीय नीतियों को प्रभावित करते हैं।

दबाव समूह और राजनीतिक दल दोनों ही गैर सवैधानिक अभिकरण हैं। इनकी विशिष्टता यह है कि दोनो ही गैर सवैधानिक होते हुए भी सवैधानिक अभिकरणों और संस्थाओ को आधार एव प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, वरन् एक दूसरे के सहायक एव पूरक हैं।

दबाव समूह व राजनीतिक दलों में समानताएँ होते हुए भी बहुत अन्तर पाया जाता है। प्रो न्यूमैन ने दलों तथा दबाव समूहों के बीच किए जा सकने वाले भेदों का वर्णन किया है– "मूल रूप में दबाव समूह हित चाहने वाले समरूप हितो की प्रतिमूर्ति होते हैं। जब किसी दबाव समूह का सुस्पष्ट उद्देश्य होता है तब वह प्रभावी एव शक्तिशाली होता है। इसके विपरीत राजनीतिक दलों के अन्तर्गत विभिन्न विषय रूप समूह सम्मिलित होते हैं जिनका लक्ष्य राजनीतिक पदों की प्राप्ति एव नीति सम्बन्धी निर्णयों को निदेशित करना है। वास्तव में राजनीतिक समाज के अन्तर्गत बिखरी हुई शक्तियों के बीच सम्पर्क सूत्र स्थापित करना इस तरह के दलों का मुख्य कार्य होता है। राजनीतिक दलों का कार्य एकीकरण होता है और यह दबाव समूहों के कार्य क्षेत्र के बाहर की चीज है।" प्रसिद्ध

विचारक हाइनर और लेवीन ने कहा है कि– "दोनों मे मौलिक अन्तर यह है कि जहा तक राजनीतिक दल एक निश्चित अवधि के बाद मतदाताओं के समक्ष शासन की सत्ता को ग्रहण करने के लिए अपना दावा प्रस्तुत करते हैं वहीं दबाव समूह न तो यह दावा प्रस्तुत करते हैं और न ही सरकार चलाने की जिम्मेदारी लेना चाहते हैं।" डी वी बेनी ने दबाव समूह और राजनीतिक दलो के मध्य अन्तर के सदर्भ में लिखा है– "दोनों में यहीं मुख्य अन्तर है कि एक (राजनीतिक दल) चुनाव में भाग लेकर सरकार बनाने की महत्त्वाकाक्षा रखता है जबकि दूसरा (दबाव समूह) चुनाव को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है किन्तु सरकार बनाने की इच्छा नहीं रखता है।"

दबाव समूह और राजनीतिक दलों में निम्नलिखित अन्तर किये जा सकते हैं–

1 **सगठनात्मक अन्तर**–राजनीतिक और दबाव समूह में सगठन सम्बन्धी अन्तर होता है। राजनीतिक दलो दबाव समूहों से बडे सगठन होते है। ये राष्ट्रव्यापी होते हैं और साम्यवादी दल जैसे कुछ दल अन्तरराष्ट्रीय भी होते हैं। दबाव समूहों में केवल एक हित से सम्बन्धित व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं अत दबाव समूहों का सगठन छोटा और सकीर्ण होता है। इनका ध्येय भी सीमित और सकुचित होता है।

2 **उद्देश्यात्मक अन्तर**–राजनीतिक दलों और दबाव समूहो में उद्देश्य सम्बन्धी अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। राजनीतिक दलों का उद्देश्य सामान्य और सम्पूर्ण समाज की हित भावना है अत इनका ध्येय विस्तृत होता है। दबाव समूहों का उद्देश्य सीमित होता है। वह अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं। समाज पर या सामान्य जन पर उनका क्या प्रभाव होगा– इससे दबाव समूहो का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है।

3 **सदस्यात्मक अन्तर**–राजनीतिक दलों और दबाव समूहो में महत्त्वपूर्ण अन्तर उनकी सदस्यता है। कोई भी व्यक्ति एक समय में एक राजनीतिक दल का सदस्य ही हो सकता है। अगर उसे दूसरे राजनीतिक दल की सदस्यता स्वीकार करनी है तो पहले दल की सदस्यता छोडनी पड़ती है। इसके विपरीत कोई भी व्यक्ति एक ही समय कई दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है जैसे– एक व्यक्ति अपने व्यवसाय जाति धर्म और क्षेत्रीय दबाव समूहों का सदस्य एक साथ बन सकता है।

4 **प्रक्रियात्मक अन्तर**–राजनीतिक दल राजनीति मे सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। अत इनकी आचरण प्रक्रिया पूर्णत राजनीतिक होती है। दबाव समूह राजनीति से बाहर रहकर राजनीति पर दबाव डालते हैं। वे राजनीति प्रक्रिया के भागीदार नहीं बनते हैं। यह तो केवल निर्णय कर्त्ताओं और निर्णयों को प्रभावित करने में रुचि रखते हैं। वे स्वय निर्णय कर्त्ता नही बनना चाहते हैं। राजनीतिक दल चुनाव लड़कर विजयी होने की इच्छा रखते हैं। दबाव समूह चुनाव लडने में कभी रुचि नही रखते हैं और न ही चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार ही खडे करते हैं। दबाव समूह केवल चुनाव प्रक्रिया पर प्रभाव डालते हैं।

5 कार्यात्मक अन्तर–राजनीतिक दलो का कार्यक्षेत्र विधानमण्डल होता है। यदि बहुमत वाला दल है तो सरकार बनाता है और अल्पमत मे है तो सरकार की नीतियो का विरोध करता है और विकल्प प्रस्तुत करता है। दबाव समूहो का कार्यक्षेत्र विधानमण्डल के बाहर होता है। प्रत्येक विधायिका भवन के साथ लगे हुए कमरे या बरामदे को लॉबी कहा जाता है, जिसमे विधायिका के सदस्य अवकाश के समय बैठते है। इस समय दबाव समूहों के प्रतिनिधि उनसे मिलने उनसे बातचीत करने और अपने-अपने विचारो से राजनीतिक प्रतिनिधियो को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

6 साधनात्मक अन्तर–राजनीतिक दल और दबाव समूहो द्वारा काम मे लाए जाने वाले साधनो मे भी अन्तर है। राजनीतिक दल सदैव सवैधानिक साधनों का प्रयोग करने मे प्रयत्नरत रहते हैं। जबकि दबाव समूह सवैधानिक और गैर सवैधानिक सभी प्रकार के साधनो को अपनाते हैं और अपना सकते हैं क्योंकि उन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नही होता है।

राजनीतिक दलो और दबाव समूहो मे उक्त अन्तर होने पर भी विकासशील राज्यो मे दोनो का पतन और उत्थान रोचक जान पड़ता है। चुनाव के दिनों में कई नये राजनीतिक दलो का गठन होता है। चुनाव के पश्चात् उनमें से अधिकाश समाप्त हो जाते है। ऐसा ही दबाव समूहों के सम्बन्ध मे देखा जाता है। यह कहना कठिन होगा कि राजनीतिक दल और दबाव समूह दोनो पूर्णत पृथक हैं। अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि राजनीति दलो और दबाव समूहों मे सहयोग, सहायता और परस्पर निर्भरता के सम्बन्ध हैं। विभिन्न दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक दलों पर प्रभाव डालते है और राजनीतिक दल उन्हे समर्थन देकर अपने प्रभाव क्षेत्र को विस्तृत करते हैं। दोनो ही राजनीतिक दल और दबाव समूह समाज की आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक मॉगों से जुड़े हैं और उन्हीं के लिए कार्यरत हैं। दोनो ही देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्थान के लिए कार्य करते हैं।

दबाव समूह और विधानमण्डल में विरोधी राजनीतिक दल– दोनों सार्वजनिक नीतियो में परिवर्तन हेतु प्रयासरत रहते हैं। दबाव समूह सत्तारूढ राजनीतिक दल पर (सरकार पर) दबाव बनाते हैं और विरोधी उनकी सहायता करते हैं। दबाव समूह हड़ताल, प्रदर्शन बद घेराव करते समय राजनीतिक दल से सहारा लेते हैं। विरोधी दल तो शीघ्र अपना समर्थन दे देता है परन्तु सत्तारूढ राजनीतिक दल को भी समर्थन देना पड़ता है। दबाव समूह चुनाव में कई प्रकार से राजनीतिक दलो की सहायता करते हैं। राजनीतिक दल और दबाव समूह दोनो ही लोकमत प्रभावित करने के लिए समाचार-पत्रों का सहारा लेते हैं। आज राजनीतिक दल और दबाव समूह एक-दूसरे के विपरीत और विरोधी नहीं हैं वरन् सहयोगी और पूरक हैं। दोनों ही समाज के हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजनीतिक दल सवैधानिक प्रक्रिया अपनाते हैं तो दबाव समूह गैर सवैधानिक। दोनो ही लोकतात्रिक प्रक्रिया के प्रतिरूप हैं।

सदर्भ एव टिप्पणियाँ

मुनरो	माडर्न गवर्नमेंटस
मैकाइवर	माडर्न स्टेट
लीकॉक	एलीमेन्टस ऑफ पॉलिटिकल साइस
गेटल	पॉलिटिकल साइस
गिलक्राइस्ट	पॉलिटिकल साइस
रावर्ट सी वोन	उद्धृत सी बी गेना तुलनात्मक राजनीति एव राजनीतिक सस्थाएँ।
लॉस्की	ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स
लॉवेल	पार्टी ऑर्गनाइजेशन्स चैक पॉलिटिकल वेगेरीज
कार्ल जे फ्रेडरिक	कॉन्स्टीट्यूशनल गवर्नमेंट एण्ड डेमोक्रेसी ऑक्सफोर्ड एण्ड आई वी एच
के बी ओ	पॉलिटिक्स पार्टीज एण्ड प्रेशर ग्रुप्स क्रोवेल न्यूयार्क
ऐलेन बाल	आधुनिक राजनीति और शासन मैकमिलन इडिया
वर्मन डी एम	दि लेजिस्लेटिव प्रासेस इन यू एस काग्रेस– दि जॉरनल ऑफ कान्स्टीटयूशनल एण्ड पार्लियामेन्ट्री स्टडीज
वी ओ की	पॉलिटिकल पार्टीज एण्ड प्रेशर ग्रुप्स
लेस्टर गिल्प्रेथ	लॉविइग एण्ड कम्यूनिकेशन प्रासेस, पब्लिक ओपिनियन क्वार्टर्ली
एच ए वोन	अमेरिकन पॉलिटिक्स एण्ड द पार्टी सिस्टम
गेन सी बी	ब्लोण्डेल वर्गीकरण उद्धृत तुलनात्मक राजनीति एव राजनीति सस्थाएँ

❑❑❑

अध्याय—11
भारत में वित्त आयोग

भारत एक संघात्मक राज्य है। संघवाद की मूल विशेषता संघ एवं संघ की इकाइयों से निर्मित होने वाली द्विस्तरीय शासन व्यवस्था में संविधान द्वारा किया जाने वाला सत्ता विभाजन माना जा सकता है। इस व्यवस्था में संघ एवं संघ की इकाइयाँ अपने-अपने निर्धारित क्षेत्रों के अन्तर्गत आने वाले दायित्वों का निर्वाह करते हुए एक-दूसरे से सहयोग करती हैं। संविधान में संघ और राज्यों के बीच विषयों का बँटवारा निम्नलिखित रूप में किया गया है –

(1) केन्द्र सूची के विषय
(2) राज्य सूची के विषय
(3) समवर्ती सूची के विषय
(4) अवशिष्ट विषय

(1) केन्द्रीय सूची–इस सूची में राष्ट्रीय महत्त्व के ऐसे विषय रखे गए हैं जिनके सम्बन्ध में सम्पूर्ण देश में एक रूप विधायन एवं क्रियान्वयन की आवश्यकता होती है। इस सूची में वर्णित विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार केन्द्रीय संसद को प्राप्त है। इस सूची में 97 विषय हैं।

(2) राज्य सूची–इस सूची में स्थानीय व क्षेत्रीय महत्त्व के ऐसे विषय हैं जिन पर निर्माण और क्रियान्वयन का अधिकार राज्यों को है। राज्य सूची में कुल 66 विषय हैं।

(3) समवर्ती सूची–इस सूची में उन विषयों को रखा गया है जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय महत्त्व के हो सकते हैं। अतः इस सूची के विषयों पर केन्द्र और राज्य दोनों को विधि निर्माण का अधिकार है। इस सूची में कुल 47 विषय हैं।

संविधान संशोधन (42वां संशोधन) अधिनियम 1976 के माध्यम से संघ राज्य अधिकार विभाजन की विषय सूचियों के स्वरूप में परिवर्तन किया गया है। राज्य-सूची के चार विषय (शिक्षा, वन, वन्य पशु-पक्षियों की सुरक्षा, और नाप तौल) को समवर्ती सूची में सम्मिलित कर दिया गया है तथा समवर्ती सूची में एक नया विषय जनसंख्या नियंत्रण एवं परिवार कल्याण (नियोजन) भी सम्मिलित किया गया है।

(4) अवशिष्ट विषय–उक्त तीन विषय सूचियों के बाहर रहे अवशिष्ट विषयो पर विधि निर्माण का अधिकार राज्यो को न देकर केन्द्र को प्रदान किया गया है।

भारतीय संविधान मे केन्द्र और राज्यो के बीच विधायी और प्रशासनिक सत्ता विभाजन के साथ बटवारे के लिए भी सवैधानिक प्रावधान हैं। दोनों के बीच वित्तीय स्रोतो का भी विभाजन किया जाता है। वित्तीय स्रोतो के इस विभाजन के आधार पर केन्द्र और राज्यो के बीच वित्तीय सम्बन्धो का निर्धारण होता है।

भारतीय संविधान मे सघ व्यवस्था से सम्बन्धित वित्तीय पक्षों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं– प्रथम केन्द्र ओर राज्यो के बीच कर निर्धारण शक्ति का विभाजन और द्वितीय केन्द्र और राज्यो के बीच राजस्वों का वितरण।

केन्द्र के प्रमुख राजस्व स्रोत हैं– निगम कर सीमा शुल्क निर्यात शुल्क कृषि भूमि से भिन्न अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क विदेशों से ऋण रेलें रिजर्व बैंक तथा शेयर बाजार आदि। राज्यो के प्रमुख राजस्व स्रोत हैं– प्रति व्यक्ति कर कृषि भूमि पर कर सम्पदा शुल्क भूमि व भवनो पर कर पशुओं तथा नौकाओ पर कर विद्युत् उपभोग तथा विक्रय कर तथा वाहनो पर चुँजी कर (जो की हाल ही मे समाप्त कर दिया गया है) इत्यादि।

सघ द्वारा उदगृहीत और सगृहीत तथा विनियोजित किये जाने वाले करो मे बिल विनिमयो प्रोमिसरी नोटो हुण्डियों चैकों आदि पर मुद्राक शुल्क और दवा मादक द्रव्य पर कर शृगार प्रसाधन सामग्री पर कर तथा उत्पादन शुल्क आदि का वर्णन किया जा सकता है।

केन्द्र और राज्यों के बीच विभाजनीय करों के राजस्व विभाजन व केन्द्र अनुदानों की राशि के निर्धारण व इसे राज्यो के बीच वितरण के लिए सुझाव प्रेषित करने मे वित्त आयोग की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि संविधान के प्रारम्भ से दो वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् प्रत्येक पाच वर्ष की समाप्ति पर अथवा उससे पूर्व राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो आदेश द्वारा वित्त आयोग का गठन किया जाएगा जिसमे एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य होगे। वित्त आयोग का यह कर्त्तव्य होगा कि वह केन्द्र और राज्यों के बीच करों के विभाजन के बारे मे भारत की संचित निधि में से राज्य सरकारों को राजस्व सहायता एव अनुदान निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों के बारे मे वित्त के स्थायित्व और राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए विषयो के बारे मे सिफारिश करे। आयोग अपनी प्रक्रिया निर्धारित करेगा और अपने कृत्यो के पालन मे उसे ऐसी शक्तियाँ होगी जो ससद तथा विधि द्वारा उसे प्रदान करे।

वित्त आयोग मे सदस्यो की अर्हताएँ

सन् 1951 के वित्त आयोग अधिनियम जिसे 1955 मे सशोधित किया गया है के अन्तर्गत वित्त आयोग के अध्यक्ष एव सदस्यो की अर्हताएँ निम्न प्रकार वर्णित हैं--

आयोग का अध्यक्ष ऐसे व्यक्तियों में से चुना जाएगा जिन्हे सार्वजनिक कार्यों का अनुभव हो और अन्य सभी सदस्य ऐसे व्यक्तियो मे से चुने जायेगे–

(1) जो किसी उच्च न्यायालय के न्यायधीश हो या रह चुके हो या इस प्रकार की नियुक्ति की योग्यता रखता हो अथवा

(2) जिन्हे सरकार के वित्त और लेखो का विशेष ज्ञान हो अथवा

(3) जिन्हे वित्तीय मामलो या प्रशासन का विस्तृत अनुभव हो अथवा

(4) जिन्हे अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान हो।

अधिनियमानुसार राष्ट्रपति अध्यक्ष को छोडकर शेष चारो सदस्या की नियुक्ति उक्त योग्यताओं को धारण करने वाले व्यक्तियों मे से ही करेगे। इसके साथ राष्ट्रपति को वित्त अयोग के सदस्यो की नियुक्ति करते समय यह भी देखना चाहिए कि जिस व्यक्ति को आयोग का सदस्य नियुक्त किया है उसके कोई निहित आर्थिक स्वार्थ तो नहीं हैं, जो वित्त आयोग में सदस्य नियुक्त होने के पश्चात् उसके कर्त्तव्यो या कार्य प्रणाली को प्रभावित करेगे।

वित्त आयोग के कार्य

सविधान के अनुच्छेद 280 में वित्त आयोग के कार्यों अथवा कर्त्तव्यों का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया गया है –

(क) केन्द्र तथा राज्यो के बीच मे करों के शुद्ध आगम को, जो इस आशय के अधीन उनमें विभाजित हाता है या हो, वितरण के बारे मे तथा राज्यों के बीच ऐसे आगम के तत्सम्बन्धी अशो के बटवारे में

(ख) भारत की सचित निधि म से राज्या के राजस्वों के सहायक अनुदान देने म पालनीय सिद्धान्तो के बारे मे,

(ग) सुस्थिर वित्त के हित मे राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए किसी अन्य विषय के बारे मे राष्ट्रपति को सिफारिश करेगा।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वित्त आयोग के प्रमुख तीन कार्य हैं–

(1) प्रथम के अन्तर्गत राष्ट्रपति को उन करो से प्राप्त शुद्ध आय का केन्द्र और राज्या के बीच वितरण जिनका दोनो में विभाजन होना है तथा उस आय के राज्यो म आवटन के सम्बन्ध में सुझाव देना।

(2) *द्वितीय क अन्तर्गत उन सिद्धान्तो को निश्चित करना जिनके आधार पर* राज्य देश की सचित निधि से सहायतानुदान प्राप्त करते हैं।

(3) तृतीय के अन्तर्गत वित्त आयोग से उस कार्य की अपेक्षा की गई जिसे राष्ट्रपति न सुव्यवस्थित वित्त के हित में आयोग को सौंपा है।

डा सी पी भाम्भरी ने वित्त आयोग द्वारा किए जाने वाले कार्यों का विवरण इस प्रकार दिया है –

वित्त आयोग राष्ट्रपति को निम्नलिखित विषयो मे सिफारिश करेगा–

1 सघीय सरकार तथा राज्यो के बीच विभाजित होने वाले अनिवार्य करों की कुल राशि के राज्यो को दिए जाने वाले हिस्से का प्रतिशत,
2 केन्द्रीय राजस्व को राज्यो को दिए जाने वाले अन्य वैकल्पिक स्रोतो का प्रतिशत
3 भारत सरकार की सचित निधि से राज्यो को दिए जाने वाले अनुदान के वितरण का आधार का निश्चय
4 जन जातीय क्षेत्रो को दिए जाने वाले अनुदान,
5 किसी भी राज्य को दी जाने वाली विशेष सहायता।

डा सी पी भाम्भरी के कथनानुसार– "वित्त आयोग दो कार्यों का सम्पादन करता है– पहला केन्द्र और राज्यो के बीच विभाजित होने वाले करो का प्रतिशत निर्धारित करना और दूसरा सचित निधि से विभिन्न राज्यो को दी जाने वाले सहायतानुदान के आधार की सिफारिश करना।

वित्त आयोग की कार्य विधि

सविधान मे यह स्पष्ट वर्णित है कि वित्त आयोग अपनी कार्य विधि स्वय निर्धारित करेगा तथा अपने कर्त्तव्यो के पालन मे उसे ऐसी शक्तियाँ प्राप्त होगी जो ससद कानून द्वारा उसे प्रदान करे।

वित्त आयोग की नियुक्ति वित्त मत्रालय द्वारा राष्ट्रपति के आदेश की घोषणा द्वारा की जाती है। वित्त आयोग की ओपचारिक नियुक्ति से पूर्व इसके सदस्य सचिव को केन्द्रीय वित्त मत्रालय मे ऑफिसर ऑन स्पेशल डयूटी (ओ एस डी) नियुक्त कर दिया जाता है। सदस्य सचिव का कार्य आयोग गठन के बारे मे प्रारम्भिक कार्य करना है। वह आयोग द्वारा चाहे जाने वाले आकडो और सूचनओ का सग्रह करता है। इन सूचनाओ को प्राप्त करने के लिए विभिन्न केन्द्रीय मत्रालयों राज्य सरकारो नियत्रक और महालेखा परीक्षक और राज्यो के महालेखा परीक्षकों को सम्बन्धित सूचनाएँ उपलब्ध कराने के लिए लिखता है। वह केन्द्र ओर राज्य सरकारो को आयोग द्वारा विचाराधीन अगामी पॉच वर्षो की सिफारिशो से सम्बन्धित आय-व्यय के पूर्वानुमानों को प्रस्तुत करने के लिए लिखता है। यह विशेष अधिकारी वित्त आयोग के कार्य के लिए आवश्यक आधार तैयार करता है। वित्त आयोग की नियुक्ति की घोषणा सामान्यत ससद मे बजट प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् की जाती है।

वित्त आयोग का अस्तित्व उसके अध्यक्ष एव सदस्यों के कार्य भार सम्भालने की तिथि से माना जाता है। वित्त आयोग द्वारा अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत कर देने की तारीख से उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वित्त आयोगो ने औसतन चौदह माह मे अपने प्रतिवेदन राष्ट्रपति को सौंप दिए हैं। श्री ए के चन्दा की अध्यक्षता मे गठित तृतीय वित्त आयाग ने अपना प्रतिवेदन औसत से कम अवधि मात्र बारह माह में राष्ट्रपति

को सौंपा था। श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता मे गठित पाँचवे वित्त आयोग ने औसत से अधिक साढे सोलह माह मे अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को दिया था। अब तक ग्यारह वित्त आयोगो ने अपनी सिफारिशे दी हैं। प्रस्तुत सारिणी मे अब तक नियुक्त वित्त आयोगों का विवरण इस प्रकार है–

सारिणी

वित्त आयोग	वर्ष	प्रतिवेदन वर्ष	अध्यक्ष
प्रथम	1951	1953	श्री के सी नियोगी
द्वितीय	1956	1957	श्री के सन्थानम्
तृतीय	1960	1962	श्री ए के चन्दा
चतुर्थ	1964	1965	डा पी वी राजामन्नार
पचम	1968	1969	श्री महावीर त्यागी
षष्टम	1971	1973	श्री ब्रह्मानद रेड्डी
सप्तम	1977	1978	न्यायमूर्ति जे एम शेलट
अष्ठम	1982	1984	श्री वाई वी चव्हाण
नवम्	1987	1989	श्री एन के पी साल्वे
दशम	1992	26 नवम्बर 1994	श्री के सी पत
एकादश	1999	8 जुलाई, 2000	श्री ए एम खुसरो

कार्यप्रणाली

वित्त आयोग की स्थापना की घोषणा होते ही सदस्य अपना पद भार सम्भालते हैं। तुरन्त ही सदस्य आयोग के कार्य का कार्यक्रम निर्धारित कर लेते हैं। सर्वप्रथम आयोग राज्य सरकारो से उनके आगामी पाँच वर्षो मे उनके राजस्व व्यय और राजस्व आय के आकलन माँगता है। जैसे ही आयोग को राज्यो के आकलन प्राप्त होते हैं वह उनकी विश्वसनीयता की जाच करता है और आवश्यक स्पष्टीकरण के लिए सम्बन्धित राज्य अधिकारियो को दिल्ली बुलाता है। स्पष्टीकरण प्राप्त करने के पश्चात् राज्यो की असाधारण एव असामान्य मदो को निकाल कर विभिन्न राज्यों के आकलनों की तुलना करता है। आयोग का यह कार्य प्रथम चरण का है। आयोग प्रथम चरण मे राज्यो से अपने कार्यालय मे बैठकर सम्पूर्ण आकलनो की जानकारी एव तुलना का कार्य करता है।

आयोग के दूसरे चरण के कार्यो मे सभी राज्यो का मुख्यत उनकी राजधानियो का दौरा होता है। दौरों का मुख्य उद्देश्य वित्त आयोग द्वारा राज्यो के पक्ष सुनना है। दौरे के दौरान वित्त आयोग राज्यो के मुख्य मत्री, वित्त मत्री और उनके सहायकों से बातचीत करता है। प्रत्येक राज्य अधिक स अधिक वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए अपने पक्ष का समर्थन आयोग के सम्मुख रखता है। सामान्यत दूसरे चरण की सुनवाई बन्द कमरे में होती है यद्यपि समाचार-पत्रों में प्रेस विज्ञप्तियों द्वारा प्रचार होता है। वित्त आयोग इसके अतिरिक्त राज्य की विभिन्न संस्थाओं और सामान्य व्यक्तियों से भी ज्ञापन प्राप्त कर सकता है और उनकी सुनवाई कर सकता है आयोग ऐसा करता भी है।

वित्तीय आयाग का द्वितीय चरण का कार्य काफी कठिन [illegible] क्योंकि 25 राज्यो म लाखो विशेषज्ञ हैं जो अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते समय आयोग का काफी समय लेते हैं। द्वितीय चरण के पश्चात्- आयोग का अतिम कार्य प्रतिवेदन तैयार करना है। आयोग प्रतिवेदन को अतिम रूप देने के लिए दिल्ली मे अपनी बैठक आयोजित करता है। आयोग के प्रतिवेदना से यह जानकारी प्राप्त करना अति कठिन होता है कि वह अपनी कार्य पद्धति उपागम दृष्टिकोण राज्यो के प्रतिनिधियो को मिलने से पूर्व तैयार करता है या बाद मे। अब तक के ग्यारह म से दस वित्त आयोगों की कार्य प्रणाली देखने से पता चलता है कि ये पहले तैयार किये जाते हैं और अतिम रूप रखा प्रतिनिधिया संस्थाओ और व्यक्तियो का पक्ष सुनने के बाद तैयार की जाती है। आयोग अपना तैयार प्रतिवेदन राष्ट्रपति को देता है। आयोग अपना प्रतिवेदन ससद म बजट प्रस्तुत करने से कुछ माह पूर्व देता है। राष्ट्रपति वित्त आयोग के प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए केन्द्रीय मत्रिमण्डल से सिफारिश करते हैं। केन्द्रीय मत्रिमण्डल केन्द्रीय वित्त मत्रालय के परामर्श के आधार पर आयाग की सिफारिशों की स्वीकृति या अस्वीकृति का निर्णय करता है। केन्द्रीय मत्रिमण्डल द्वारा आयाग की सिफारिशे स्वीकृत हो जाने पर वित्त आयोग के प्रतिवेदन को ससद में रखा जाता है। ससद द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने पर वित्त आयोग की सिफारिशो को कार्यान्वयन हेतु केन्द्रीय बजट में शामिल कर लिया जाता है।

वित्त आयोग की सिफारिशे

वित्त आयोग द्वारा दी जाने वाली सिफारिशो को मुख्यत तीन भागो म विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है –

1. आयकर उत्पादन शुल्क व अन्य केन्द्रीय करो के विभाजन और वितरण सम्बन्धी सिफारिशे
2. राज्यो को सहायतानुदान
3. राज्यो को दिये जाने वाले केन्द्रीय ऋण की सिफारिश।

पिछले दस वित्त आयोगों द्वारा उक्त तीन भागों मे दी गई सिफारिशों का विवरण नीचे दिया जा रहा है –

1 आयकर-(केन्द्र और राज्य के बीच विभाजन)

सविधान की सप्तम अनुसूची की प्रथम सूची में उल्लेखित मद सख्या 82 से 92 अ तक कर सघीय कर कहलाते हैं। आयकर उनमें से एक है। सविधान के अनुच्छेद 270 के अनुसार कृषि आय के अतिरिक्त आयकर का करारोपण एव एकत्रण केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है। आयकर द्वारा होने वाली शुद्ध आय का विभाजन केन्द्र और राज्य के बीच आयकर का विभाजन केन्द्र और राज्य के बीच करने का आधार निश्चित करने हेतु वित्त आयोग को सुझाव देने होते हैं। विभिन्न वित्त आयोगों की आयकर वितरण सम्बन्धी सिफारिशें अग्र प्रकार हैं–

विभिन्न वित्त आयोगो की सिफारिशो को देखने से ज्ञात होता है कि राज्य सरकारो द्वारा प्राप्त किए जाने वाले आयकर के हिस्से मे लगातार वृद्धि हुई है। प्रथम वित्त आयोग ने आयकर का 55 प्रतिशत भाग राज्यो को वितरित करने का सुझाव दिया था। छठे वित्त आयोग तक राज्यों को आयकर का 80 प्रतिशत भाग दिये जाने का सुझाव था। सातवे एव आठवे वित्त आयोग ने 85 प्रतिशत आयकर वितरण राज्यो को करने के सुझाव दिये। सभी आयोगो ने आयकर वितरण का समान भाग राज्यों को मिल सकने के लिए आयकर वितरण का आधार राज्यों की जनसख्या रखा। नवें वित्त आयोग ने आयकर का 90 प्रतिशत भाग राज्यो को जनसख्या के आधार पर और 10 प्रतिशत पिछडेपन के आधार पर दिये जाने की सिफारिश की थी। दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश थी कि 1995-2000 के दौरान प्रत्येक द्वितीय वर्ष में राज्यो को 77.5 प्रतिशत भाग आयकर का दिया जाय। जैसा कि नीचे सारिणी में दर्शाया गया है –

सारिणी

आयकर के सम्बन्ध में वित्त आयोगों की सिफारिशें

वित्त आयोग	आयकर के सम्बन्ध मे राज्यो का हिस्सा	राज्यों को वितरण करने का आधार	
		जनसख्या	कर सकलन
पहला	55%	80	20
दूसरा	60%	90	10
तीसरा	66%	80	20
चौथा	75%	80	20
पाचवा	75%	90	10
छठा	80%	90	10
सातवा	85%	90	10
आठवा	85%	90	10 (पिछडेपन के आधार पर)
नवा	85%	90	10 (पिछडेपन के आधार पर)
दसवा	77.5%	–	–

वित्त आयोग ने केन्द्र प्रशासित राज्यों के लिये भी आयकर वितरण सम्बन्धी सुझाव दिए हैं। प्रथम वित्त आयोग ने आयकर का 2.75 प्रतिशत भाग केन्द्र प्रशासित राज्यों मे वितरण का सुझाव दिया। प्रथम वित्त आयोग से लेकर नवे वित्त आयोग तक केन्द्र प्रशासित राज्यो ने आयकर का न्यूनतम 1 प्रतिशत और अधिकतम 2.75 प्रतिशत भाग प्राप्त किया। दसवें वित्त आयोग ने केन्द्र प्रशासित राज्यों में आयकर का 0.927 प्रतिशत भाग वितरण का सुझाव दिया था।

2. उत्पाद शुल्क वितरण सम्बन्धी वित्त आयोग की सिफारिशें–राष्ट्रीय कर सूची में अफीम व एल्कोहलिय पेय पदार्थो को छोडकर शेष वस्तुओं के सम्बन्ध मे उत्पाद

शुल्क (औषधि एवं प्रसाधन उत्पादनों सहित) है। यह केन्द्रीय कर हैं इनका विभाजन केन्द्र और राज्यों के बीच किया जाता है। संविधान ने वित्त आयोग को केन्द्र और राज्यों के बीच उत्पाद शुल्क के वितरण के सम्बन्ध में सिफारिश करने के निदेश दिए है। उत्पाद शुल्क सम्बन्धी नीति निर्धारण संसद का कार्य है। प्रथम वित्त आयोग ने केवल तीन वस्तुओं के उत्पादन शुल्क को राज्यों को वितरित करने का सुझाव दिया था। द्वितीय वित्त आयोग ने आठ वस्तुओ के उत्पादन शुल्क राज्यो को वितरित करने का सुझाव दिया था। तृतीय वित्त आयोग ने 35 वस्तुओ के उत्पादन शुल्क के हिस्सो में राज्यों के वितरण की सिफारिश की थी। यह द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशो से चार गुने से भी अधिक का सुझाव था। इसके बाद इन विषयो मे निरन्तर वृद्धि हुई है।

नवे वित्त आयोग ने कुल उत्पाद शुल्क का 45 प्रतिशत हिस्सा राज्यो को वितरित करने का सुझाव दिया था। जिसमें से 90 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर और 10 प्रतिशत अन्य आधार पर तय किया गया था। दसवें वित्त आयोग ने केन्द्रीय उत्पाद शुल्क मे 47 5 प्रतिशत राज्यो के विभाजनीय अश की सिफारिश की जो कि 1995-2000 के दौरान प्रत्येक वर्ष राज्यो को वितरित की जाएगी जो सारिणी मे दर्शाया गया है।

सारिणी

उत्पाद शुल्क के सम्बन्ध में वित्त आयोगों की सिफारिशें

आयोग	उत्पाद शुल्क में राज्यो का हिस्सा	जनसख्या प्रतिशत	अन्य परिस्थितियाँ (राज्यों का पिछड़ापन आदि) प्रतिशत
पहला	40	40	60
दूसरा	25	–	–
तीसरा	20	–	–
चौथा	20	80	20
पाचवा	20	80	20
छटा	20	75	25
सातवा	40	75	25
आठवा	45	90	10 अन्य आधार
नवा	45	90	10 अन्य आधार
दसवा	45	90	10 अन्य आधार

अतिरिक्त उत्पाद शुल्क की निखल प्राप्तियो मे 2 203 प्रतिशत केन्द्र सरकार द्वारा केन्द्र प्रशासित राज्यो के लिये रख कर शेष राज्यो में विभाजित किए जाने की सिफारिश दसवे वित्त आयोग ने की।

3 सहायतानुदान (केन्द्र से राज्यों को) के सम्बन्ध में वित्त आयोग की सिफारिशें–सहायतानुदान केन्द्र के आर्थिक स्रोतो से राज्यो को मिलने वाला आर्थिक

अनुदान है। केन्द्र की तुलना मे राज्यो के आय के स्रोत कम है। विभिन्न राज्यो की विकासात्मक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उनकी आय भी भिन्न-भिन्न है। राज्यो की आय और व्यय के असन्तुलन की स्थिति मे केन्द्र अपनी आय म से अनुदान दे कर राज्यों की सहायता करता है। वित्त आयोग का प्रमुख कार्य है कि वह सिफारिश करे कि राज्यो को किन परिस्थितियो मे और कितना अनुदान दिया जा सकता है। इस सदर्भ म उल्लेख है कि प्रथम वित्त आयोग ने आठ राज्या के लिए प्राथमिक शिक्षा और उनके विकास कार्यो के लिए, साथ ही 7 अन्य राज्यो को उनकी वित्तीय आवश्यकताओ के अनुसार सामान्य अनुदान देने की सिफारिश की थी। द्वितीय वित्त आयोग ने बम्बई उत्तर प्रदेश मद्रास को सन् 1957 से 1962 तक के समय के लिये छोडकर 11 राज्यों को 1875 करोड रुपये सहायतानुदान देने की सिफारिश की थी। तृतीय वित्त आयोग ने राज्या के नियोजित और अनियोजित व्यय को देखते हुए सहायतानुदान देने की सिफारिश की थी।

चौथे वित्त आयोग ने अपने पूर्व गठित आयोगा की सिफारिशो का अनुमोदन करते हुए नियोजित अनुदान और विशेष कार्यक्रमा के लिए दिए जाने वाले सहायतानुदान को इससे पृथक रखा था। पाँचवे वित्त आयाग ने दस राज्यो के लिये पाच वर्ष की अवधि हेतु सहायतानुदान दिए जाने की सिफारिश की थी। छठे वित्त आयोग ने अनियोजित मदों के घाटे की पूर्ति हेतु सन् 1974-79 की अवधि के लिये सहायतानुदान दिये जाने की सिफारिश की थी। सातवें वित्त आयोग ने अनुदान के दो भाग कर दिए– प्रथम भाग सामान्य अनुदान– यह गैर योजना मद के अन्तराल की पूर्ति के लिए था जिसे आठ राज्यो मणिपुर त्रिपुरा मेघालय नागालैंड सिक्किम जम्मू-काश्मीर, हिमाचल प्रदेश और उडीसा को दिए जाने की सिफारिश की। सामान्य अनुदान 1173 करोड रुपये का था। दूसरा भाग विशेष अनुदान– यह पिछडे राज्यों के प्रशासन स्तर को सुधारने के लिए दिया जाने वाला अनुदान था। वित्त आयोग ने यह भी सिफारिश की कि इन राज्यो को न्यायिक प्रशासन राजस्व जिला और जनजाति प्रशासन पुलिस प्रशासन, जेल प्रशासन और राजकीय प्रशासन के क्षेत्र मे प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए 437 करोड रुपये पृथक अनुदान दिया जाय।

आठवें वित्त आयोग ने राज्यों को विशेष समस्याओं से निपटने के लिए सहायता अनुदान की सिफारिश की थी। वित्त आयाग ने गैर योजना मद के राजस्व अन्तराल को दूर करने के लिए सन् 1985 से 1989 तक घाटे वाले राज्या को 1553 93 करोड रुपये अनुदान देने की सिफारिश की। घाटे की अर्थव्यवस्था वाले राज्य थे– असम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-काश्मीर, मणिपुर, मेघालय नागालैंड, उडीसा, सिक्किम, त्रिपुरा और पश्चिम बगाल, राजस्थान को 1984 से 1986 तक इस श्रेणी में माना गया। सन् 1986 के बाद राजस्थान को इस श्रेणी मे नहीं रखा।

आठवे वित्त आयोग ने राज्य सरकारों पर उनके कर्मचारियों को केन्द्रीय कर्मचारियों के समान मँहगाई भत्ता दिया जाने पर पडने वाले भार की पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष

घाटे के अनुदान को 5 प्रतिशत बढाने की सिफारिश की। सातवे वित्त आयोग की भाँति आठवे वित्त आयोग ने प्रशासन के 9 क्षेत्रो का प्रशासनिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए 808 08 करोड़ रुपये अनुदान देन की सिफारिश की। आयोग ने कुछ विशेष समस्याग्रस्त राज्यो को समस्याओ से निपटने के लिए अनुदान देने का सुझाव दिया था। नवें वित्त आयोग ने राज्यो को सूखा बाढ उग्रवादी समस्याओ से निपटने के लिए सामान्य अनुदान 8 राज्यो को दिए जाने और *विशेष अनुदान जनजाति क्षेत्रो के प्रशासन को दिए जाने की* सिफारिश की थी। कुल 1876 78 करोड़ रुपये का अनुदान राज्यों को दिए जाने का सुझाव दिया था।

दसवे वित्त आयोग ने रेल यात्री किराया टैक्स के बदले दिए जाने वाले अनुदान की मात्रा 1995-2000 के लिए 360 करोड रुपये वार्षिक की सिफारिश की। दसवे वित्त आयोग ने समुन्नयन और विशेष कठिनाइयों के लिए कुल 2 608 50 करोड रुपये की राशि अनुदान के रूप मे 1995-2000 की अवधि के लिए सिफारिश की। वित्त आयाग ने *समुन्नयन के क्षेत्र– (अ) जिला प्रशासन– पुलिस अग्नि शमन सेवाएँ जेल अभिलेख* रूम कम्प्यूटरीजेशन कोष मे। (ब) शिक्षा– बालिका शिक्षा उन्नयन, उच्च प्राथमिक स्कूलों को विशेष सुविधाएँ प्राथमिक स्कूलो मे पेयजल व्यवस्था को तिहत्तरवे और चौहत्तरवें सविधान सशोधन अधिनियम के क्रियान्वयन हेतु पचायतीराज सस्थाओं को 4380 करोड रुपये और नगरीय स्थानीय सस्थाओ को 1000 करोड रु अनुदान 1996-2000 की अवधि (चार वर्ष) के लिए दिए जाने की सिफारिश दसवें वित्त आयोग ने की। दसवें वित्त आयोग ने हस्तातरण की वैकल्पिक योजना का प्रस्ताव रखा है। आयोग का कहना है कि *यह बेहतर केन्द्र राज्य सम्बन्ध के हित मे होगा। यदि केन्द्र द्वारा लगाये गये सभी करो* मे प्राप्त राजस्व का एक भाग राज्यो मे वितरित किया जाय। ऐसा करने से वितरण सरल एव पारदर्शी हो जाएगा। इससे केन्द्र को कर नीति के निर्धारण में अधिक स्वतत्रता मिलेगी।

4 ऋण सहायता (केन्द्र द्वारा राज्यों को) पर वित्त आयोग की सिफारिशें–केन्द्र सरकार आवश्यकता पडने पर राज्य सरकारो को ऋण भी देती है। केन्द्र सरकार इस वित्तीय सहायता द्वारा राज्यो पर नियत्रण रखती है। द्वितीय वित्त आयोग ने राज्यो को दिए जाने वाले ऋण पर सुझाव हेतु भी कहा था। द्वितीय वित्त आयोग ने सिफारिश की थी कि कोई राज्य केन्द्र से एक वर्ष मे केवल दो बार ही ऋण ले सकता है। यह ऋण दीर्घावधि और मध्यावधि ऋण हो सकता है।

चौथे वित्त आयोग ने ऋण समस्याओ के समाधान के लिए एक पृथक निकाय के गठन की सिफारिश की थी। पाचवे वित्त आयोग का सुझाव था कि राज्यों को अपना बजट सतुलित रखना चाहिए। राज्य को अपने कार्यों का प्रबन्ध अपनी वित्तीय व्यवस्था के अन्तर्गत करना चाहिए। आयोग के मतानुसार ओवर ड्राफ्ट सैद्धान्तिक रूप से असमर्थ (Untenable) है। छठे वित्त आयोग की सिफारिश थी कि राज्यो द्वारा ऋण

अदायगी की अवधि 15 से 30 वर्ष निश्चित होनी चाहिए। आठवें वित्त आयोग ने इस संदर्भ म कोई नई सिफारिश नहीं की थी। आयोग ने केवल ऋण अदायगी हेतु 481 85 करोड रुपये की व्यवस्था अपनी सिफारिशो मे की थी।

नवें वित्त आयोग ने भोपाल गैस त्रासदी के शिकार लोगो के राहत और पुनर्वास हेतु अनेक सिफारिशे की जिसके अन्तर्गत त्रासदी से उत्पन्न विषम स्थिति का मुकाबला करने के लिए केन्द्र न पहले से जो ऋण दे रखे हैं उनको दीर्घकालीन ब्याज मुक्त ऋणो मे बदल दिया। सरकार ने नव आयाग की आयकर उत्पाद शुल्क बिक्री कर के बदले अनुदान व्यय का वित्त पोषण ऋण राहत के सम्बन्ध मे सभी सिफारिशे मजूर कर ली। दसवे वित्त आयोग ने सभी राज्या के लिये सामान्य घाटा स्कीम की सिफारिश की थीं। राज्यो को विशेष ऋण सहायता अत्यधिक वित्तीय सकट राज्यो के विशेष वर्ग और घाटे की स्थिति मे राज्यो की तरफ विशेष ध्यान देने की सिफारिश की थी।

वित्त आयोग ने सामान्य ऋण सहायता आन्ध्र प्रदेश अरुणाचल, बिहार, गोआ गुजरात हरियाणा, हिमाचल प्रदेश कर्नाटक, केरल महाराष्ट्र, मणिपुर, नागालैंड तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश को वित्तीय प्रबन्ध व्यवस्था सुधारने के लिए वर्ष 1996-97 में 85 83 करोड रुपये देने की सिफारिश की थी। वित्त आयोग ने विशेष ऋण सहायता उडीसा बिहार उत्तरप्रदेश और विशेष वर्ग जैसी अति वित्तीय सकट की स्थिति मे देने के लिए सिफारिश की थी। आयोग ने 5 प्रतिशत बकाया पुन अदायगी राशि जो नवीन केन्द्रीय ऋण 1989-95 के साथ न चुकाई गई है। ये केवल 31 मार्च 1995 तक की बकाया अदायगी समाप्त करने के सदर्भ में वित्तीय वर्षानुसार (1995–2000) सुझाव दिए है–

सारिणी

वर्ष	राशि समाप्ति के लिए
1995-1996	28 44
1996-1997	36 96
1997-1998	41 63
1998-1999	48 25
1999-2000	54 96

दसवें वित्त आयोग का गठन 15 जून 1992 को किया गया। इसके अध्यक्ष श्री के सी पत थे। अन्य चार सदस्य– डा देवीप्रसाद पाल (ससद सदस्य) पी वी आर विट्ठल, डा सी रंगराजन (सदस्य योजना आयोग) और एस सी गुप्ता थे। आयोग से अपना प्रतिवेदन 30 नवम्बर 1993 तक पेश करने को कहा गया। किन्हीं कारणो स आयोग न अपना प्रतिवेदन 26 नवम्बर 1994 को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन और सिफारिशों पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही 14 मार्च 1995 को ससद के समक्ष प्रस्तुत की गई।

आयोग को सौंपे गए विचारणीय विषय थे –

(1) केन्द्र और राज्यों के बीच करो का विभाजन और उनसे प्राप्त राजस्व के वितरण के बारे मे सिफारिशे करना।

(2) सविधान के अनुच्छेद 275 के तहत राज्यों को दी जाने वाली धन राशी और देश की सचित निधि में से राज्यों को सहायतानुदान निर्धारित करने के सिद्धान्त को अन्तिम रूप देना।

आयोग से यह भी अनुरोध किया गया कि वह निम्नाकित विषयो पर वितरण के सिद्धान्तो में परिवर्तन के सुझाव दे–

(1) किसी वित्तीय वर्ष के दौरान राज्यो द्वारा जारी बिक्रीकर के स्थान पर लगाए गए अतिरिक्त शुल्क से प्राप्त धन राशि और

(2) रेलयात्री किराया अधिनियम 1957 के तहत निरन्तर दिए गए करों के बदले राज्यो को दिए जाने वाले अनुदान 31 मार्च 1994 को आधार मानकर राज्यो की ऋण की स्थिति का मूल्याकन करना।

दसवें वित्त आयोग की सिफारिशे निम्नलिखित हैं –

1 दसवें वित्त आयोग न राज्यों को आयकर से होने वाली निखिल प्राप्तियो का 77 5 प्रतिशत भाग प्रत्येक वित्तीय वर्ष मे 1995–2000 के दौरान वितरित करने का सुझाव दिया। केन्द्र प्रशासित राज्यो के लिए सवितरण योग्य कुल प्राप्तियो का 0 927 प्रतिशत की सिफारिश की।

2 आयोग की दूसरी सिफारिश उत्पादन शुल्क के वितरण के सम्बन्ध मे थी। आयोग ने उत्पाद शुल्क से राज्यो का विभाजनीय अश 47 5 प्रतिशत की सिफारिश की। पूर्व मे यह 45 प्रतिशत था जो 1995-2000 के दौरान प्रत्येक वित्तीय वर्ष मे राज्यो को वितरित किया जाना चाहिए। अतिरिक्त उत्पाद शुल्क की निखिल प्राप्तियों में से 22 03 प्रतिशत केन्द्र सरकार द्वारा केन्द्र शासित राज्यों के लिए रख लेने की और शेष भाग राज्यों में विभाजित किये जाने की सिफारिश की गई।

3 आयोग ने हस्तातरण की वैकल्पिक योजना पर प्रस्ताव रखा है। आयोग का कहना है कि बेहतर केन्द्र राज्य सम्बन्ध के हित मे अच्छा होगा यदि केन्द्र द्वारा लगाए गए सभी करो मे प्राप्त राजस्व का एक भाग राज्यों को वितरित किया जाय। ऐसा करने से उर्ध्व वितरण सरल एव पारदर्शी हो जायगा। इसमें केन्द्र की कर नीति के निर्धारण मे अधिक स्वतत्रता मिलेगी।

4 राज्यों को विशेष ऋण सहायता अत्यधिक सकट घाटे की स्थिति की तरफ विशेष ध्यान देने की सिफारिश की थी।

5 आयोग ने रेलयात्री किराया टैक्स के बदले दिए जाने वाले अनुदान की मात्रा 1995-2000 के लिए 360 करोड रुपए वार्षिक की सिफारिश की थी।

6 आयोग ने 1995-2000 की अवधि के लिए समुन्नयन तथा विशेष कठिनाइयों के लिए कुल 2 00850 करोड रुपये की राशि अनुदान के रूप में दिए जाने की सिफारिश की।

वैकल्पिक प्रस्ताव को छोड कर सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशें 1995-2000 की अवधि के लिए स्वीकार कर ली।

ग्यारहवे वित्त आयोग का गठन एव सुझाव

जनवरी 1999 मे ग्यारहवे वित्त आयोग का गठन किया गया था। ग्यारहवे वित्त आयोग ने दिनाक 8 जुलाई 2000 को राष्ट्रपति के आर नारायणन को अतिम रिपोर्ट सौपी। आयोग के अध्यक्ष ए एम खुसरो ने कहा "रिपोर्ट से राज्यो को खुशी होगी।"

वित्त आयोग की इस रिपोर्ट मे केन्द्रीय करो मे राज्यो की हिस्सेदारी मौजूदा एव 29 प्रतिशत से बढाकर 33.5 प्रतिशत करने की सिफारिश की गई है। ग्यारहवे वित्त आयोग का प्रतिवेदन दो खण्डो मे है।

ग्यारहवे वित्त आयोग ने पचायती राज संस्थाओ और शहरी निकायो के काम काज मे धन की कमी को पूरा करने के लिए पहली बार कुछ ठोस और महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए है। वित्त आयोग के अध्यक्ष प्रो ए एम खुसरो ने स्थानीय निकायो के ससाधनो को पूरा करने के लिए राज्यो मे समेकित निधि बढाने के जो उपाय बताए है उनमे भूमि और खेती पर कर लगाने, राज्य करो पर अधिभार या उपकर लगाने तथा व्यवसाय पेशा व्यापार या रोजगार पर एक मुश्त वार्षिक कर लगाने की सिफारिश की है।

राज्य अपनी समेकित निधि से स्थानीय निकायो को धन हस्तातरण करते है। प्रतिवेदन मे स्थानीय निकायो के ससाधनो की वृद्धि के लिए राज्य स्तरीय प्रयासो मे अतिरिक्त-स्थानीय करो तथा दरो मे सुधार की आवश्यकता पर बल दिया है। आयोग ने इसी सम्बन्ध मे सम्पत्ति और गृहकर प्रणाली को मजबूत बनाने, चुगी या प्रवेश कर की जगह ऐसी कर व्यवस्था करने जो स्थानीय स्तर पर ही वसूली जा सके तथा पेयजल तथा अन्य स्थानीय सेवाओ का प्रयोग करने वालो से उसकी पूरी लागत वसूली करने का सुझाव दिया है। भूमि कर के बारे मे आयोग का कहना है कि अनेक राज्यो ने भूमिकर या तो पूरी तरह समाप्त कर दिया है या एक निश्चित आकार तक की जोत को कर से छूट दे रखी है। आयोग की राय मे स्थानीय निकायो के राजस्व आधार बढाने के लिए भूमि या खेती की आय पर किसी न किसी रूप मे कुछ कर लगाये जा सकते है। इसी सदर्भ मे आयोग ने पट्टा किराया लीज रेट मे बढोतरी करने का और इस प्रकार सग्रहित राशि को नागरिक सुविधाओ मे सुधार के लिए स्थानीय निकायो को देने की सिफारिश की है।

आयोग ने इन करो के सग्रह के बारे मे प्रतिवेदन मे बिक्री कर, राज्य उत्पादन शुल्क, मनोरजन कर, स्टाम्प शुल्क, कृषि आयकर मोटर वाहन कर, विद्युत शुल्क आदि का 10 % उपकर या अधिभार लगा कर इससे प्राप्त राजस्व को सामाजिक और आर्थिक

विकारा की योजनाएँ बनाकर उन्हें स्थानीय निकायो को हस्तातरित करन का सुझाव दिया गया है।

वित्त आयोग की भूमिका

वित्त आयोग क गठन उसके कार्य और उसकी सिफारिशो के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आयोग एक महत्त्वपूर्ण सवैधानिक सस्था है। इसे दीवानी न्यायालय का स्तर प्राप्त है। आयोग अपनी प्रक्रिया स्वय निर्धारित करता है। इसका प्रमुख कार्य केन्द्रीय वित्त स राज्यो को मिलने वाले भाग सहायता एव ऋण क सदर्भ मे सिफारिशे प्रस्तुत करना है। इसकी सिफारिशो को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य नही है। व्यवहार में यह एक केन्द्रीय सस्था है और सरकार द्वारा इसकी सिफारिशे मान ली जाती हैं। आयोग की नियुक्ति का अधिकार केन्द्र सरकार को ही है। आयाग अपना प्रतिवेदन भी केन्द्र सरकार को प्रस्तुत करता है। आयोग की सिफारिशो को स्वीकृत या अस्वीकृत करने का अधिकार केन्द्रीय ससद को है।

वित्त आयाग की कार्य प्रणाली मे निम्नलिखित कमियाँ हैं –

1 वित्त आयोग का अध्ययन राज्यों की वित्तीय आवश्कताओ के बारे में राज्यो द्वारा उपलब्ध कराए गए ऑकडा साख्यिकी और सूचनाओ पर निर्भर करता है जो कि हो सकता है केन्द्र से अधिकाधिक वित्तीय सहायता प्राप्ति के लिए ही बनाए जाते हैं।

2 वित्त आयोग के सदस्यो न केवल राज्यो की राजधानियो का भ्रमण किया है। वित्त आयोग के सदस्यो ने केन्द्रीय सहायता द्वारा चलाए जाने वाल कार्यक्रमों की उन्नति को देखने का प्रयास नहीं किया है।

3 वित्त आयोग के सदस्यो न जब राज्यो का भ्रमण किया है उस दौरान अधिकाश राज्यो के सदस्य अनुपस्थित रहे हैं। केवल राज्य के प्रमुख और सचिव सदस्य ने ही वित्त आयोग का सामना किया है।

4 राज्यो की वित्तीय आवश्यकताएँ और राजस्व की साख्यिकी अप्रकाशित होती है।

वित्त आयोग की कार्य प्रणाली में विद्यमान उक्त कमियो मे सुधार किया जा सकता है। एम वी पायली के अनुसार– "भारतीय सघ व्यवस्था म वित्त आयोग राज्यो तथा केन्द्र के बीच एक ऐसे प्रत्यावरोधक का कार्य करता है जो एक निरन्तर अधिक वित्त की माग करने वाले राज्यों को यथासम्भव सहायता प्रदान करने के लिए सघ को विवश करता है।

वित्त आयोग की भूमिका पर योजना आयाग जैसी गैर सवैधानिक सस्था का पर्याप्त प्रभाव पडा है। वित्त आयोग सविधान के अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत राज्यो को दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता एव अनुदान का स्वरूप एव मात्रा तय करता है। 1950 मे योजना आयोग के गठन के साथ ही विवादास्पद स्थिति उत्पन्न हो गई थी।

अशोक चन्दा के अनुसार– "एक सर्वोपरि आर्थिक सस्था के रूप मे योजना आयोग ने सविधान का लक्ष्य समाप्त कर दिया है और कार्यो मे ऐसा विघ्न उपस्थित हो गया है जिसमे योजना आयोग के विचार वित्त आयोग पर प्रभावी होते है।" राज्यो की समस्त विकास योजनाओ को स्वीकृति योजना आयोग देता है और उसी के अनुरूप योजना मद पर व्यय की स्वीकृति दी जाती है। वर्तमान परिस्थितियो मे वित्त आयोग केवल गैर योजना मद के राजस्व और व्यय के सदर्भ मे ही सिफारिशे करने का कार्य करता है।

वित्त आयोग और योजना आयोग दोनो का कार्य लगभग समान है। राज्यो को केन्द्र से दी जाने वाली सहायता के बारे मे दोनो ही योजना आयोग योजनाओ के लिए और वित्त आयोग गैर योजना मद के लिए केन्द्र सरकार को सिफारिश करते है। राज्यो का गैर योजना मद की अपेक्षा कम व्यय होता है। अत राज्यो को केन्द्र से योजना आयोग की सिफारिशो पर अधिक वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। वित्त आयोग की सिफारिशो से प्राप्त होने वाली राशी बहुत कम होती है।

स्पष्ट है कि योजना आयोग ने वित्त आयोग की भूमिका को गौण बना दिया है। ए टी अपेन ने इस सदर्भ मे अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा है– "यथार्थ मे योजना आयोग ने वित्त आयोग को आर्थिक क्षेत्रो मे पदच्युत कर दिया है। वित्त आयोग की भूमिका कम हो गई है। भारत मे केन्द्रीय नियोजन ने वित्त आयोग की भूमिका के सम्बन्ध मे सविधान निर्माताओ की आकाक्षाओ पर पानी फेर दिया है। ऐसी स्थिति मे निष्पक्ष सविधानिक सस्था वित्त आयोग की उपयोगिता पर एक प्रश्न चिन्ह लग गया है।"

द्वितीय वित्त आयोग के प्रतिवेदन मे कहा गया था कि– जहाँ दो आयोगो– वित्त आयोग और योजना आयोग– के कार्य एक-दूसरे पर अतिक्रमण करे वहा आवश्यक तौर पर विवादास्पद स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तीसरे वित्त आयोग ने अपने प्रतिवेदन मे स्पष्ट कहा था कि– "वित्त आयोग के कार्य जिनका वर्णन सविधान मे किया गया है राष्ट्रीय नियोजन हेतु योजना आयोग के गठन के कारण पूरे नही हो सकते है।" चौथे वित्त आयोग के अध्यक्ष डा पी वी राजामन्नार ने भी यही मत व्यक्त किया– "योजना आयोग जैसी सस्था का सविधान मे कोई प्रावधान नही है उन्होने सुझाव दिया था कि योजना आयोग तथा वित्त आयोग के कार्यो एव क्षेत्र को स्पष्टत परिभाषित किया जाना चाहिए। छठे वित्त आयोग ने इस सदर्भ मे सिफारिश की थी कि दोनो– वित्त आयोग और योजना आयोग के कार्य क्षेत्र मे अतिक्रमण दूर किया जाना चाहिए।

प्रो एम वी माथुर ने वित्त आयोग की योजना आयोग मे विलय की जोरदार सिफारिश की थी। सातवे वित्त आयोग का सुझाव था कि एक विशेषज्ञ और गैर राजनीतिक सस्था की स्थापना केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धो के स्वस्थ परिचालन के लिए की जा सकती है। इसी सस्था को वित्त आयोगो की स्वीकृत सिफारिशो के यथा रूप क्रियान्वयन का दायित्व भी सौंपा जा सकता है। इस सुझाव पर विशेष रूप से विचार मथन की आवश्यकता है।

आज तक नियुक्त सभी वित्त आयोगा ने केन्द्र राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धो की स्थापना मे महत्त्वपूर्ण भूमिकाए निभाई हैं। प्रो डी आर गाडगिल वित्त आयोग की सिफारिशों से सतुष्ट है और कहते हैं कि हमारे सविधान के वित्तीय प्रावधानो को लागू करने मे वित्त आयोग की भूमिका सतोषजनक है।

प्रशासनिक सुधार आयोग 1966 के सुझाव

प्रशासनिक सुधार आयोग ने वित्त आयोग की भूमिका में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये हैं–

1 वित्त आयोग को योजना मद हेतु स्वीकृत राज्यो को वित्तीय सहायता के महत्वपूर्ण सिद्धान्तो को स्पष्ट किया जाना चाहिए। "इस सुझाव के क्रियान्वयन के लिये न तो सविधान मे किसी प्रकार के सशोधन की आवश्यकता है और न ही कोई नवीन विधि निर्मित करने की आवश्यकता है। सविधान के अनुच्छेद 280 (3) (c) के अन्तर्गत अन्य कोई भी वित्त सम्बन्धी कार्य राष्ट्रपति वित्त आयोग को दे सकता है।"

2 योजना आयोग के सदस्य को वित्त आयोग का सदस्य बना दिया जाना चाहिए।

3 वित्त आयोग के अन्तर्गत दो सदस्यो को सम्मिलित किया जाना चाहिए। जिनमें से एक को राज्य वित्त प्रशासन और दूसरे को केन्द्र वित्त प्रशासन का अनुभव हो।

4 वित्त आयोग को राज्यो की समस्याओ के लिए अधिक सहायता पर विचार करना चाहिए। कर्मचारियो के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी राज्यों को सहायतानुदान देते समय विचार करना चाहिए।

सरकारिया आयोग (1988) के सुझाव

सरकारिया आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए थे–

1 योजना आयोग में एक वित्तीय प्रकोष्ठ स्थापित किया जाना चाहिए जिसका प्रमुख कार्य राज्यो की वित्तीय स्थिति पर निरन्तर निगरानी करना हो। प्रकोष्ठ को वित्त आयोग के मापदण्डों में परिवर्तन का वार्षिक अनुमान भी लगाना चाहिए।

2 वित्तीय प्रकोष्ठ को योजना आयोग के वित्तीय ससाधन प्रभारी के अधीन कार्य करना चाहिए। ऐसा करने से योजना आयोग और वित्त आयोग के बीच अधिक समन्वय स्थापित हो पाएगा।

3 वित्त प्रकोष्ठ को अधिक शक्तिशाली बनाना चाहिए। जिससे योजना आयोग और वित्त आयोग में घनिष्ठ समन्वय स्थापित हो सके।

4 वित्त आयोग को अपने कार्य के लिए देश के विभिन्न भागो मे विशेषज्ञ नियुक्त करने चाहिए।

5 वित्त आयोग का स्थायी सचिवालय होना चाहिए। सचिवालय को राज्यों की वित्तीय स्थिति पर प्रति वर्ष पुनर्विचार करना चाहिये। वित्त आयोग के सचिवालय में कर्मचारी नियुक्त करने के लिए यदि राज्यों से आवश्यक विशेषज्ञ लिए जाते है तो यह अधिक लाभ दायक होगा।

भारत जैसे संघात्मक राज्य मे केन्द्र और राज्यो के बीच आर्थिक पहलू सर्वाधिक संवेदनशील रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन 1967 तक भारत मे कांग्रेस दल का केन्द्र और राज्यो मे वर्चस्व रहा है। स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू के नेतृत्व मे यह संवेदनशील आर्थिक पहलू दबा रहा और केन्द्र व राज्यो के सम्बन्ध मधुर बने रहे। जैसे-केन्द्र और राज्यो मे गेर कांग्रेसी विरोधी दलो की सरकारे गठित होती गईं राज्य सरकारे आरोप लगाने लगी कि उनको कम आर्थिक सहायता दी जा रही है उनके साथ सौतला व्यवहार किया जा रहा है। राज्यो द्वारा अधिक वित्तीय सहायता प्राप्ति की माग की जाने लगी।

केन्द्र और राज्यो के बीच टकराव की स्थिति न उत्पन्न हो। इस स्थिति से निपटने के लिये केन्द्र और राज्यो के बीच कर राजस्व को समानता और न्याय के आधार पर वितरित करने का प्रयास किया गया है। वित्त आयोग की सिफारिश इस प्रयास मे सहयोगी रही हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि वित्त आयोग जैसी संविधानिक संस्था योजना आयोग जैसी गैर संविधानिक संस्था से प्रभावित होकर महत्त्वहीन न हो जाय।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1 भारतीय संविधान 1950 अनुच्छेद 280 (4) (कार्य विधि)

2 जी विमैया "दास नेगलेक्टेड ऑफ फाइनेन्स कमीशन" जनरल ऑफ कान्स्टीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेन्ट्री स्टडीज (नई दिल्ली) अक्टूबर-सितम्बर 1974 पृ 458

3 एम वी पायली कान्स्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इंडिया, (एशिया, बम्बई) 1977 पृ 677

4 अशोक चन्दा फेडरीलिज्म इन इंडिया 1965 पृ 196

5 ए टी एपेन ए क्रिटिक ऑफ इंडियन फिस्कल फेडरेशन, पब्लिक फाइनेन्स खंड 14 संख्या 4 1969 पृ 537

6 के सन्थानम् फेडरल फाइनेन्शियल रिलेशन्स इन इंडिया (ए डी शर्राफ व्याख्यान माला के अन्तर्गत) पृष्ठ 24

7 समाचार पत्र –
राजस्थान पत्रिका
दैनिक नवज्योति
हिन्दुस्तान टाइम्स

❑

अध्याय–12

योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद्

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में नियोजन बीसवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है। इसका प्रारम्भ 1928 में सोवियत प्रयोगों से हुआ है। धीरे-धीरे विश्व के दो तिहाई राष्ट्रों ने नियोजन को स्वीकार कर लिया। विकासशील देशों के लिए चाहे वह प्रजातान्त्रिक हों *या सत्तात्मक राष्ट्र हो सतुलित सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए नियोजन प्रथम* आवश्यकता है। फेयल के अनुसार नियोजन का अर्थ है– "पूर्व दृष्टि जिसका तात्पर्य है आगे की ओर देखना अर्थात् यह स्पष्ट पता चल जाए कि क्या-क्या काम किया जाना है? प्रत्येक वह क्रिया नियोजन कहलाती है जो दूरदर्शिता विचार-विमर्श तथा उद्देश्यों एव उनकी प्राप्ति हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों की स्पष्टता पर आधारित हो। दूसरे शब्दो मे किसी कार्य की पूर्व तैयारी ही नियोजन है।" निश्चित अवधि मे विशेष ध्येय की प्राप्ति के लिए किए गए कार्यक्रम को नियोजन कहते हैं।

पश्चिमी विकासशील देशों मे नियोजन एक रूप है या उनकी आर्थिक व्यवस्था का सम्पूर्ण भाग है। यह केवल सांकेतिक है। नियोजन सम्भावित उन्नति के निदेश हैं आदेश नहीं। स्वाधीनता के पूर्व भारत में नियोजन का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया था। बाम्बे प्लान पीपल्स प्लान और गाँधियन प्लान में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों से *सम्बन्धित योजनाओं पर विचार-विमर्श किया गया था। कांग्रेस पार्टी ने नेहरू की अध्यक्षता* मे एक उच्च स्तरीय समिति को राष्ट्रीय नियोजन कार्य सौंपकर इस क्षेत्र मे प्रयास किया था। समिति ने कार्य हेतु 26 उपसमितियाँ गठित की थीं। सन् 1944 में भारत सरकार ने नियोजन और विकास विभाग की स्थापना की। द्वितीय युद्ध के कारण नियोजन अपनाने का वातावरण नहीं बन सका था। 1946 में एक परामर्शदाता नियोजन बोर्ड भी गठित किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नियोजन पर गहन विचार किया गया और आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन की अवधारणा स्वीकार की गयी।

भारत सरकार द्वारा 15 मार्च 1950 को योजना आयोग का गठन किया गया। प्रथम पचवर्षीय योजना एक अप्रैल 1951 में बनी। भारतवर्ष में योजना आयोग ने निम्न लिखित पचवर्षीय योजनायें बनाई है –

1 प्रथम पचवर्षीय योजना (1951–56)
2 द्वितीय पचवर्षीय योजना (1956–61)
3 तृतीय पचवर्षीय योजना (1961–66)

4 वार्षिक योजना (1966–69)
5 चतुर्थ पचवर्षीय योजना (1969–74)
6 पाचवी पचवर्षीय योजना (1974–79)
7 वार्षिक योजना (1979–80)
8 छठी पचवर्षीय योजना (1980–85)
9 सातवी पचवर्षीय योजना (1985–90)
10 वार्षिक योजना (1990–92)
11 आठवी पचवर्षीय योजना (1992–97)
12 नवीं पचवर्षीय योजना (1997–01)

1966–69, 1979–80 और 1990–92 को आवश्यक योजना अवकाश अवधि थीं। इन वर्षों में बनाई गई योजनाए वार्षिक योजनाएँ कहलाई गईं। यह छ वर्ष राजनीतिक और आर्थिक पद्धति की अस्थिरता का समय था।

भारत में नियोजन की आवश्यकता

स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में निम्नलिखित प्रमुख कारणों से नियोजन की आवश्यकता अनुभव की गई –

1 सर्वप्रथम देश की निर्धनता,
2 देश के विभाजन से उत्पन्न आर्थिक असतुलन तथा अन्य समस्याएँ,
3 बेरोजगारी की समस्या,
4 सामाजिक तथा आर्थिक विभिन्नताएँ,
5 बेरोजगारी की समस्या
6 औद्योगीकरण की आवश्यकता,
7 शरणार्थी पुनार्वास की समस्या,
8 देश का पिछडापन,
9 धीमी गति का विकास,
10 विस्फोटक जनसख्या,
11 उपजाऊ क्षेत्रो का पाकिस्तान की सीमा मे चला जाना आदि।

उक्त सभी समस्याएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इनके निवारण व देश के आर्थिक विकास के लिए नियोजन ही एक मात्र विकल्प है।

भारतीय नियोजन की विशेषताएँ

उदारीकरण प्रक्रिया से पूर्व सन् 1991 तक भारतीय नियोजन की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं–

1 नियोजन का क्षेत्र विस्तृत एव अधिकाशत आर्थिक था।

2 नियोजन प्रजातात्रिक था। योजना निर्माण और क्रियान्वयन में जन सहयोग और उनके प्रतिनिधियों को स्थान था।

3 नियोजन के प्रजातान्त्रिक स्वरूप के साथ-साथ नोकरशाही स्वरूप भी था। योजना निर्माण और क्रियान्वयन में प्रशासकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

4 यद्यपि नियोजन बहुस्तरीय था। ससाधनों का शिखर स्तर पर (केन्द्र सरकार के अभिकरणों मे) केन्द्रीयकरण होने के कारण नियोजन का प्रजातान्त्रिक केन्द्रीकरण किया गया था। निम्न स्तर पर प्रजातान्त्रिक संस्थानों को नियोजन की आवश्यकताओ पर विचार-विमर्श की स्वतत्रता और अवसर प्रदान किया गया था। ससाधनों के लिए उनकी शिखरीय अभिकरण पर निर्भरता के कारण प्रमुख नीतिगत निर्णय केन्द्र द्वारा ही लिए जाते थे।

5 भारतीय नियोजन दीर्घकालीन (पचवर्षीय) और थोडे समय के लिए (वार्षिक) दोनो प्रकार का है।

सन् 1991 के पश्चात् उदारीकरण प्रक्रिया को अपनाने के साथ भारतीय नियोजन की विशेषताओं में परिवर्तन आया है। योजना आयोग ने अपने प्रतिवेदनों वर्ष 1992-93 और 1993-94 में भावी भारतीय नियोजन पद्धति के स्थान पर साकेतिक नियोजन पद्धति को प्रयुक्त किया है। भारत में सकेतिक नियोजन पद्धति को पश्चिमी राष्ट्रो की भाँति नहीं अपनाया जा सकता है। भारत मे वातावरण की दुर्बलता गरीबी *बेरोजगारी और क्षेत्रीय असन्तुलन राज्यों की भूमिका के कारण इस पद्धति को अपनाना* असुविधाजनक है। हो सकता है कि निकट भविष्य मे इनमे कुछ कमी आए। भारतीय अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था है।

नियोजन प्रक्रिया

नियोजन तत्र का स्वरूप और भूमिका नियोजन के स्वरूप पर निर्भर होगी। नियोजन संस्थानों का अध्ययन करने से पूर्व केन्द्र स्तर पर नियोजन प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

भारत मे नियोजन की प्रक्रिया पिछडी हुई और प्रगतिशील है। व्यवहार में सफलता के बहुत समीप और सफलता मे समन्वय स्थापित करने वाली है। विस्तार एव सक्षेप में केन्द्र स्तर पर भारतीय नियोजन के निम्नलिखित स्तर हैं–

1 **दीर्घकालीन लक्ष्य वाली**–योजना आयोग राष्ट्रीय उद्देश्यो की पूर्ति के लिए 15-20 वर्षीय दीर्घकालीन विकास योजनाओं का निर्माण करता है। उन उद्देश्यों का वर्णन नही किया जा सकता है परन्तु उनकी पृष्ठभूमि को पचवर्षीय योजनाओं में विस्तार से *लक्षित किया जाता है।*

2 **मार्गदर्शिका का निर्माण**–प्रत्येक सेक्टर मे असख्य केन्द्रीय कार्यसमूहों की सरचना की अस्थायी मार्गदर्शिका लक्षित करने वाली पचवर्षीय योजनाएँ हैं। इन समूहो मे विशेषज्ञो अर्थशास्त्रियों केन्द्रीय मत्रालयों और योजना आयोग के प्रशासको को स्थान दिया जाता है। ये क्रमश सेक्टर, उसकी आवश्यकता और ससाधनों को ध्यान में रखकर लक्ष्य निर्धारित करते हैं। योजना आयोग राज्यों और अन्य केन्द्र प्रशासित राज्य सरकारों से योजना की सरचना के सुझाव मगवाते हैं।

3 **प्रस्ताव पत्र की तैयारी**–कार्य समूहो के प्रतिवेदनो राज्य सरकारो एव केन्द्र प्रशासित राज्यो द्वारा प्राप्त विस्तृत जानकारी के आधार पर योजना आयोग पॉच वर्ष का एक प्रस्ताव पत्र तैयार करता है। जिस पर राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा विचार-विमर्श किया जाता ह तथा उसे स्वीकृति प्रदान की जाती है। आवश्यक हो तो उसमे परिवर्तन किए जाते है।

4 **योजना प्रारूप का प्रकाशन**–स्वीकृत प्रस्ताव-पत्र के आधार पर योजना आयोग पचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार कर प्रकाशित करता है। योजना की क्रियान्विति से कई माह पूर्व प्रकाशन का कार्य किया जाता है। योजना प्रारूप मे योजना के उद्देश्यो की स्पष्ट रूप रेखा उपलब्ध ससाधनो की समीक्षा प्राथमिकताओ के विस्तृत सकेतो, विभिन्न सभागो के लक्ष्यो का वर्णन होता है। प्रारूप पर केन्द्र और राज्य स्तरीय सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रो मे विचार-विमर्श किया जाता है।

5 **योजना का अतिम रूप**–केन्द्र राज्य मत्रालयो मे योजना के प्रारूप पर विचार-विमर्श प्रतिक्रिया उत्तर प्राप्ति और परिवर्तन के आधार पर योजना को अतिम रूप दिया जाता है। योजना तकनीकी, वित्तीय प्रशासनिक और राजनीतिक प्रगति और विकास का प्रतिनिधित्व करती है। केन्द्रीय मत्रीमण्डल द्वारा पचवर्षीय योजना को औपचारिक स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् ससद मे रखा जाता है। ससद मे सामान्यत विचार-विमर्श कर स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है।

6 **योजना का क्रियान्वयन**–स्वीकृत योजना को सम्बन्धित केन्द्रीय मत्रालयो और राज्य सरकारो को प्रेषित किया जाता है। वित्त मत्रालय द्वारा वित्तीय स्वीकृति मिलते ही योजना का क्रियान्वयन आरम्भ हो जाता है। राज्य स्तर पर सम्बन्धित राज्य सरकारो के वित्तीय विभागो द्वारा स्वीकृति प्राप्त होते ही राज्यो म योजना क्रियान्वयन कार्य आरम्भ हो जाता है।

7 **योजना का मूल्याकन**–राष्ट्रीय विकास परिषद् योजना आयोग केन्द्रीय मत्रालय राज्य सरकार जिला योजना अधिकारी के स्तर पर योजना का सामयिक मूल्याकन और योजना निष्पति कार्य किया जाता है। योजना मे ही मूल्याकन के कुछ निश्चित निर्देशो का वर्णन भी कर दिया जाता है।

वार्षिक योजनाओ का भी उक्त आधार पर ही निर्माण क्रियान्वयन एव उसका मूल्याकन किया जाता है। वार्षिक योजनाओं पर सितम्बर-अक्टूबर माह मे योजना आयोग और केन्द्रीय मत्रालयो से परामर्श कार्य प्रारम्भ किया जाता है। राज्य सरकार वार्षिक योजनाओ पर नवम्बर दिसम्बर म कार्य करना प्रारम्भ करती है।

उक्त नियोजन प्रक्रिया म निम्न लिखित सस्थाओ की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है –

1 योजना आयोग,
2 राष्ट्रीय विकास परिषद

3 राज्य योजना विभाग और मण्डल

4 जिला योजना अभिकरण योजना के विकेन्द्रित संस्थानों से पोषित अभिकरण

योजना आयोग

भारत सरकार ने 15 मार्च 1950 को एक प्रस्ताव पारित कर योजना आयोग का गठन किया था। योजना आयोग स्वर्गीय पडित जवाहरलाल नेहरू के मस्तिष्क की उपज है। वह योजना आयोग के प्रथम पदेन सभापति (चेयरमैन) थे। भारत सरकार के प्रस्ताव मे स्पष्ट उल्लेख था कि देश में उपलब्ध साधनों के वस्तुनिष्ठ और सतर्क विश्लेषण के माध्यम से निर्मित एक योजना की तत्काल आवश्यकता है। यह उद्देश्य एक ऐसे सगठन द्वारा पूरा किया जा सकता है जो दैनिक प्रशासनिक काम काज के भार से मुक्त हो और भारत सरकार के उच्च राजनीतिक नेतृत्व मे भी रहे।

योजना आयोग की स्थापना मे दो बातें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है– प्रथम योजना आयोग की स्थापना गैर राजनीतिक और प्रशासकीय इकाई के रूप मे की गई। दूसरा इसको विभागीय प्रवगर की नियत्रण प्रकृति से मुक्त रखा गया। इसी प्रस्ताव मे यह भी स्पष्ट किया गया कि योजना आयोग अपनी सिफारिशे सघीय मन्त्रिपरिषद् को प्रस्तुत करेगा। सघीय सरकार इन सिफारिशों को स्वीकार करते समय विभिन्न मत्रालयों राज्य सरकारो और उसके विभिन्न विभागो से परामर्श करेगी। इस सम्बन्ध में निर्णय लेने और उन्हे कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारो का होगा। योजना आयोग केवल मात्र परामर्शदात्री सस्था के रूप मे कार्य करेगी। योजना आयोग को देश के आर्थिक पुनर्निर्माण हेतु निम्नलिखित सात उत्तरदायित्व सौंपे गये –

1 **उपलब्ध ससाधनों का अनुमान एव वृद्धि**–देश के भौतिक ससाधनों और जनशक्ति (तकनीकी व्यक्तियों सहित) का अनुमान लगाना तथा राष्ट्र की आवश्यकतानुसार उन ससाधनो की वृद्धि सम्भावनो का पता लगाना।

2 **योजना निर्माण**–देश के ससाधनो के सन्तुलित उपयोग के लिए अत्यन्त प्रभावकारी योजनाएँ बनाना।

3 **क्रियान्वयन के स्तरों का निर्धारण**–योजना के स्तरो का निर्धारण तथा उनके लिए ससाधनो का नियमन करना।

4 **योजना की सफल क्रियान्विति हेतु परिस्थिति निर्धारण**–आर्थिक विकास के मार्ग मे आने वाली बाधाओ की ओर सकेत करना तथा योजना की सफल क्रियान्विति हेतु परिस्थिति निर्धारण करना।

5 **क्रियान्वयन तत्र का स्वरूप निर्धारण**–योजना के प्रत्येक चरण की सफल क्रियान्विति हेतु आवश्यक तत्र का स्वरूप निर्धारित करना।

6 **निष्पत्ति**–समय-समय पर योजना की चरण वार प्रगति का अवलोकन करना तथा इस बारे मे आवश्यक उपायों की सिफारिश करना।

7 परामर्श—आयोग के कार्यकलापों को सुविधाजनक बनाने तथा वर्तमान परिस्थिति और विकास कार्यक्रम को ध्यान म रखते हुए अंतिम सिफारिश करना अथवा केन्द्र या राज्यों की समस्याओं का समाधान करने के लिए परामर्श देना।

योजना आयोग का सगठन

योजना आयोग का सगठन परामर्शदात्री सरथा के रूप म सरकार द्वारा हुआ। अत इसका स्वरूप एव सगठन में अलग-अलग सरकारो द्वारा समय-समय पर परिवर्तन किया जाता रहा है। परम्परा रही है कि देश का प्रधानमत्री योजना आयोग का सभापति होता है। प्रधानमत्री योजना आयोग की सभी बैठको म भाग लेता है। आयोग के निर्णयों के क्रियान्वयनों पर निगरानी रखता है। व राष्ट्रीय विकास परिषद् के सदस्यों सघीय मत्रिपरिषद् के मध्य सम्पर्क सूत्र के कार्य सहित योजनाओं पर निगरानी उनका निरन्तर मूल्याकन करते हैं और योजना आयोग के कार्यों म समन्वय स्थापित करते हैं। योजना आयोग की स्थिति और प्रभाव प्रधानमत्री के व्यवहार पर निर्भर करता है। स्वर्गीय पडित जवाहरलाल नेहरू योजना आयोग के बैठको म नित्य प्रति-दिन के कार्य की भाँति उपस्थिति होते थ। स्वर्गीय श्रीमती इदिरागाधी योजना आयोग की बैठक कभी-कभी आयोजित करती थी। स्वर्गीय राजीव गाधी के प्रधानमत्रित्व काल में योजना आयोग के मूल्यो म कमी आई। प्रधानमत्री कार्यालय में ही आठवी योजना का निर्माण कर लिया गया। योजना आयोग की स्वायत्तता एक रहस्य बन गई।

प्रधानमत्री योजना आयोग का अशकालीन (पार्ट-टाइम) सभापति होता है। योजना आयोग के कार्यो हेतु पर्याप्त समय नहीं दे पाता है। उपसभापति योजना आयोग का कार्यपालक अध्यक्ष होता है। *योजना आयोग के पचास वर्ष के कार्यकाल में* उपसभापति पूर्णकालिक रहे हैं और उन्होंने योजना आयोग के कार्यों के लिए पर्याप्त समय दिया है। कई बार देखा गया है कि मत्रिमण्डल का मत्री भी योजना आयोग में उपसभापति नियुक्त हुआ है। सन् 1994 म सघीय मत्रीमण्डल म वाणिज्य मत्री श्री प्रणव मुखर्जी को योजना आयोग का उपसभापति नियुक्त किया गया था। उपसभापति को निम्नलिखित विषयो स सम्बन्धित कार्य करने होते हैं—

1 योजना आयोग का प्रशासन
2 बहु-स्तरीय योजना
3 योजना समन्वय
4 राज्य योजना,
5 दीर्घकालीन योजना,
6 पर्वतीय और रेगिस्तान विकास,
7 वित्तीय ससाधन
8 उद्योग और खनिज
9 आदिवासी उप-योजना

10 नागरिक आपूर्ति और जन वितरण पद्धति
11 साख्यिकि और सर्वेक्षण
12 सूचना प्रसारण और सचार
13 राष्ट्रीय आसूचना केन्द्र
14 बीस सूत्री कार्यक्रमों पर निगरानी
15 डाटा बैंक
16 न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम
17 अन्य सभी विषय जिन्हें अन्य किसी को वितरित नहीं किया गया है।

प्रथम योजना आयोग क अध्यक्ष– पडित जवाहरलाल नेहरू (तत्कालिन प्रधानमत्री)

पाँच पूर्णकालिक सदस्य–
(1) *श्री वी टी कृष्णामाचारी*
(2) श्री जी एल मेहता
(3) श्री एस के पाटिल
(4) श्री गुलजारीलाल नन्दा
(5) श्री सी डी देशमुख

अतिम दो सदस्य श्री गुलजारीलाल नन्दा और श्री सी डी. देशमुख केन्द्रीय मत्री होते हुए भी याजना आयोग के सदस्य मनानीत किए गए। समय-समय पर याजना आयोग में अन्य मत्री एव विद्वान मनोनीत किए जाते रह हैं। प्रधानमत्री इसके पदेन अध्यक्ष बने रहे। सन् 1967 मे योजना आयाग के सगठन का लेकर विवाद उत्पन्न हा गया। प्रधानमत्री और वित्त मत्री को याजना आयाग का अध्यक्ष और सदस्य नियुक्त करने पर आपत्ति उठाई गई। योजना आयाग की गैर-राजनीतिक सस्था बनाय जाने पर जोर दिया गया। लेकिन प्रधानमत्री योजना आयाग के पदन अध्यक्ष बने रह। सन् 1971 में प्रधानमत्री योजना आयोग के पदेन अध्यक्ष एव नियोजन मत्री पदेन उपाध्यक्ष बनाए गए। *अधिकाश योजना का कार्य नियोजन मत्रालय को सौंपा गया।* जनता सरकार ने योजना आयोग में निम्न सदस्यो को स्थान दिया।

अध्यक्ष
↓
उपाध्यक्ष – (मत्री होना आवश्यक नहीं है।)
↓
तीन (मत्रिमण्डल के मत्री)
↓
अशकालिक पदेन सदस्य – वित्त गृह एव रक्षा (मत्रिमण्डल के मत्री)
↓
तीन पूर्णकालिक सदस्य

सदस्यों एवं उपाध्यक्ष का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता है। सदस्यों के लिए कोई निश्चित योग्यता नहीं है। सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की इच्छानुसार की जाती है। व्यवहार में सरकार के परिवर्तन के साथ-साथ योजना आयोग का भी पुनर्गठन हो जाता है। सन 1973 में योजना आयोग का पुनर्गठन करते समय प्रधानमंत्री ने इस बात को महत्त्व दिया कि योजना आयोग में विशेषज्ञों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपने सम्बन्धित प्रतिवेदन में यह सिफारिश की थी कि योजना आयोग एक पूर्णतः विशेषज्ञ संस्था होनी चाहिए। राजनीतिज्ञों को इसमें स्थान नहीं दिया जाना चाहिये।

सन् 1973 का योजना आयोग का पुनर्गठन प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों से प्रभावित प्रतीत होता है। प्रधानमंत्री ने यह स्वीकार किया कि योजना आयोग के काम-काज में प्रधानमंत्री अपनी अत्यधिक व्यस्तता के कारण समय नहीं दे पाते हैं। उपाध्यक्ष पद पर भी प्रथम बार विशेषज्ञ की नियुक्ति की गई। यदि उपाध्यक्ष विशेषज्ञ है और उसे अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं तो वह योजना आयोग की प्रभावशीलता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। सन् 1973 में योजना आयोग में अध्यक्ष सहित सात सदस्य थे।

जनता सरकार द्वारा किया गया परिवर्तन इस बात का संकेत देता है कि प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों को अधिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने उपाध्यक्ष पद पर विशेषज्ञ की नियुक्ति को तो जारी रखा किन्तु योजना आयोग में मन्त्रिमण्डलीय सदस्यों की संख्या को सीमित किए जाने की अपेक्षा बढ़ा दी। रक्षामंत्री और गृहमंत्री– जो पहले योजना आयोग के सदस्य न थे– को भी योजना आयोग से सम्बद्ध कर दिया। सन् 1977 में योजना आयोग में अध्यक्ष सहित आठ सदस्य हो गये। योजना आयोग के सन् 1988 के संगठन से यह स्पष्ट होता है कि स्वर्गीय श्री राजीव गांधी भी अपने प्रधानमंत्रित्व काल में योजना आयोग में मंत्री सदस्यों की उपस्थिति को सीमित करने के पक्षधर नहीं रहे। उपाध्यक्ष पद पर उन्होंने विशेषज्ञ की अपेक्षा नियोजन मंत्री को मनोनीत कर दिया। योजना आयोग में अध्यक्ष सहित 11 सदस्य थे। जनवरी 1995 में योजना आयोग में निम्नलिखित विशेषज्ञ सदस्य थे –

1 श्री जी वी रामाकृष्णा
2 डा जयन्त पाटिल
3 मिस मीरा सेठ
4 डा चित्रा नायक
5 प्रो जे एस बजाज
6 डा स्वामीनाथन
7 डा एस जेड कासिम
8 डा अर्जुन के सेनगुप्ता (मेम्बर सेक्रेटरी)

योजना आयोग मे कुल सदस्य सख्या तेरह थे। प्रधानमत्री उपसभापति वित्त मत्री कृषि मत्री और नियोजन राज्य मत्री– आठ विशेषज्ञ जिसमे मेम्बर सेक्रेटरी भी सम्मिलित हैं। पूर्णकालिक विशेषज्ञ सदस्यों के मध्य कार्य का बटवारा निम्न प्रकार किया हुआ था–

श्री जी वी रामाकृष्णा

1 ऊर्जा (ग्रामीण ऊर्जा परमाणु ऊर्जा और कोयला)
2 यातायात
3 प्रोजेक्ट निष्पति
4 प्रोग्राम मूल्याकन।

डा जयन्त पाटिल

1 कृषि
2 ग्रामीण विकास,
3 पचायती राज
4 सहयोग,
5 सिचाई।

मिस मीरा सेठ

1 ऐच्छिक क्रिया सेल
2 सस्कृति
3 ग्राम और लघु उद्योग
4 श्रम रोजगार और मानव शक्ति
5 टूरिजम और
6 महिला और बाल।

डा चित्रा नायक

1 शिक्षा (सामान्य उच्च शिक्षा को छोडकर)
2 समाज कल्याण
3 अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति।

डा एस जेड कासिम

1 विज्ञान,
2 स्पेस
3 सामुद्री विकास
4 पर्यावरण और जगलात।

प्रो जे एस बजाज

1 स्वास्थ्य और परिवार कल्याण,
2 पोषण
3 युवक और खेल।

डा. डी स्वामीनाथन

1 शिक्षा (उच्च और तकनीकी)

2 आवास,

3 नगरीय विकास

4 जलापूर्ति

पूर्णकालिक विशेषज्ञो को सौपे गए उक्त विषयो का विभाजन स्थायी नही है। इसमे समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने सिफारिश की थी कि विशेषज्ञो को कार्य का बटवारा उनके विशेष ज्ञान के आधार पर किया जाना चाहिए। पूर्णकालिक सदस्यो का कार्यकाल पाच वर्ष है। व्यवहार मे परिवर्तन की पुनरावृत्ति अधिक है। सरकार के परिवर्तन के साथ सदस्यो मे भी परिवर्तन आता है।

मेम्बर सेक्रेटरी–यह योजना आयोग का महत्त्वपूर्ण अधिकारी है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने सिफारिश की थी कि योजना आयोग का सचिव उच्च योग्यता प्राप्त व्यक्ति होना चाहिए। काफी लम्बे समय तक मत्रिमण्डलीय सचिव योजना आयोग के मेम्बर सेक्रेटरी रहे है। योजना आयोग के कार्यों मे वृद्धि के साथ पृथक मेम्बर सेक्रेटरी की नियुक्ति की जाने लगी है। सचिव या तो भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता है या व्यवसायिक अर्थशास्त्री इस पद पर नियुक्त किया जाता है। सन् 1995 मे डा अर्जुन के सेनगुप्ता सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री थे जिन्हे योजना आयोग का सचिव बनाया गया था। योजना आयोग के सचिव के आधीन निम्नलिखित प्रमुख क्षेत्र हैं–

1 विकास नीति

2 अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र,

3 वित्तीय ससाधन,

4 उद्योग और खनिज

5 दृश्य नियोजन,

6 योजना समन्वय,

7 प्रशासन।

मेम्बर सेक्रेटरी उपाध्यक्ष योजना आयोग से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखता है। उपाध्यक्ष आयोग के कार्यों में मार्गदर्शन सचिव को देता है। योजना आयोग का अध्यक्ष भी सूचनाओं और सहायता के लिए मेम्बर सचिव पर ही निर्भर करता है।

मेम्बर सेक्रेटरी के नीचे आयोग में एक विशेष सचिव होता है। जिसके पास कार्यात्मक क्षेत्र– सिचाई, कमाड एरिया डेवलपमेंट, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जन जाति, पर्यावरण और जगलात, कृषि और सम्बद्ध गतिविधियॉ, शिक्षा और सस्कृति, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, परमाणु ऊर्जा, स्पेस सचार, ग्रामीण ऊर्जा, निगरानी और सूचना, पोषण, आवास, नगरीय विकास, प्रोग्राम मूल्याकन, सगठन, समाज कल्याण, जल आपूर्ति, यातायात और टूरिज्म, श्रम, रोजगार, मानव शक्ति, सूचना और प्रसारण के कार्य हैं। विशेष सचिव आयोग के सदस्यो को मॉगने पर सहायता प्रदान करता है।

वर्तमान में कार्यरत योजना आयोग का गठन निम्न प्रकार किया गया है–

योजना आयोग का गठन (18 जून, 2001 को)

अध्यक्ष (चेयरमैन)	–	*अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री*
उपाध्यक्ष (डिप्टी चेयरमैन)	–	कृष्णकात पत
सदस्य	–	अरुण शौरी (राज्य मंत्री) सोमपाल मोनटेक सिह आहलूवालिया, डा एस पी गुप्ता डा डी एन तिवारी, डा के वेन्केट सुब्रामन्यम कमालुदीन अहमद नन्दकिशोर सिह।
सचिव सदस्य	–	डा एन सिह सक्सेना।

आयोग की आन्तरिक प्रशासनिक संरचना

योजना आयोग तकनीकी एव विविध विषय डिविजनों की श्रृखलाओं द्वारा कार्य करता है। प्रत्येक डिविजन का अध्यक्ष वरिष्ठ अधिकारी होता है जिसे प्रिंसिपल सलाहकार कहते हैं। इनके नीचे सलाहकार, अतिरिक्त सलाहकार, सयुक्त सलाहकार होते हैं। ये सभी अधिकारी योजना आयोग के मार्गदर्शन और पर्यवेक्षण में कार्य करते हैं। योजना आयोग के डिविजन मुख्यत दो विस्तृत सवर्गों मे विभक्त हैं –

(1) सामान्य सवर्ग– का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विशिष्ट पहलुओ से है।

(2) *विषय सवर्ग– के अन्तर्गत विकास के विशेष क्षेत्र आते हैं।*

योजना आयोग के सामान्य सवर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित डिविजनस् हैं–

1 कम्प्यूटर सर्विस डिविजन
2 वित्तीय ससाधन डिविजन,
3 अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था डिविजन,
4 सामाजिक, आर्थिक शोध इकाई
5 दृश्य नियोजक डिविजन,
6 *श्रम, रोजगार और मानव-शक्ति डिविजन,*
7 साख्यिकी और सर्वेक्षण डिविजन
8 राज्य योजना डिविजन– जिसमें बहुस्तरीय योजना सीमा क्षेत्र विकास कार्यक्रम पर्वतीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम और उत्तरी पूर्वी क्षेत्र।
9 प्रोजेक्ट निष्पत्ति डिविजन
10 निगरानी और सूचना डिविजन,
11 विकास नीति डिविजन,
12 *योजना समन्वय डिविजन।*

योजना आयोग के विषय सवर्ग के अन्तर्गत निम्नलिख्ति डिविजन हैं –

1 कृषि डिविजन

2 पिछड़ा वर्ग डिविजन
3 संचार और सूचना डिविजन
4 शिक्षा डिविजन
5 ऊर्जा नीति डिविजन
6 पर्यावरण और जंगलात डिविजन
7 स्वास्थ्य और परिवार कल्याण डिविजन
8 आवास नगरीय विकास और जल आपूर्ति डिविजन
9 भारत-जापान अध्ययन समिति
10 उद्योग और खनिज डिविजन
11 सिंचाई और कमांड एरिया डेवलपमेन्ट डिविजन,
12 शक्ति और ऊर्जा डिविजन
13 ग्रामीण विकास डिविजन
14 ग्रामीण ऊर्जा डिविजन
15 विज्ञान और प्रौद्योगिकी डिविजन
16 समाज कल्याण और पोषण डिविजन
17 यातायात डिविजन
18 ग्राम और लघु उद्योग डिविजन,
19 पश्चिमी घाट सचिवालय।

उक्त सामान्य और विषय सवर्गीय डिविजनो के अतिरिक्त असख्य गृह कार्य शाखाएँ योजना आयोग में हैं जो स्थापना लेखा सामान्य प्रशासन, सतर्कता, सेविवर्ग प्रशिक्षण के कार्य करती हैं। इन शाखाओ के अलावा योजना आयोग में कार्यालय भाषा इकाई है जो योजना आयोग के कार्यो का हिन्दी सम्पादन हेतु निगरानी रखने का कार्य करती है। एक सम्पर्क अधिकारी है जो अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति और गृह मंत्रालय के मध्य सम्पर्क स्थापित करता है और यह आश्वासन दिलाता है कि आरक्षित पदो को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से ही भरा गया है।

योजना आयोग की स्थापना के समय उसके आन्तरिक सगठन में निम्नलिखित केवल छ खण्ड स्थापित किए गए थे –

1 पूँजीगत साधन तथा आर्थिक सर्वेखण्ड
2 वित्तीय खण्ड
3 खाद्य तथा कृषि खण्ड
4 उद्योग व्यापार तथा संचार खण्ड
5 राष्ट्रीय साधनो के विकास का खण्ड

योजना आयोग संगठन

↓

सभापति–प्रधानमंत्री

↓

उपसभापति

↓

3 सदस्य

(वित्त मंत्री कृषि मंत्री नियोजन राज्य मंत्री)

↓

8 पूर्णकालिक सदस्य

(मेम्बर सेक्रेटरी सहित विशेषज्ञ)

↓

मेम्बर सेक्रेटरी

↓

सामान्य सवर्ग 12 डिविजन

विषय सवर्ग 19 डिविजन

शाखाएँ

सतर्कता

सामान्य प्रशासन

लेखा

संस्थापना

कार्यालय भाषा इकाई

सेविवर्ग प्रशिक्षण

सम्पर्क अधिकारी अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति और गृह मंत्रालय के मध्य

राष्ट्रीय आयोजन परिषद
परामर्शदात्री निकाय
कार्यकारी समूह
अनुसंधान प्रोग्राम समिति
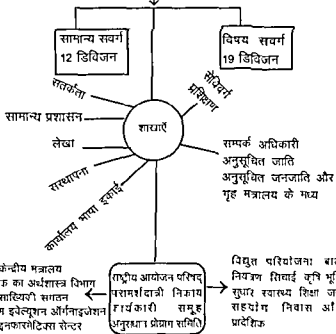
1 विभिन्न केन्द्रीय मंत्रालय
2 रिजर्व बैंक का अर्थशास्त्र विभाग
3 केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन
4 दि प्रोग्राम इवेल्यूशन ऑर्गनाइजेशन
5 नेशनल इनफारमेटिक्स सेन्टर

विद्युत परियोजना बाढ़ नियंत्रण सिंचाई कृषि भूमि सुधार स्वास्थ्य शिक्षा जन सहयोग निवास और प्रादेशिक

योजना आयोग के कार्य

योजना आयोग के कार्यों के सम्बन्ध में स्थापना से लेकर अब तक कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप

से यह कहा था कि जो कार्य इसकी स्थापना के समय इसे दिए गए थे वे समुचित एव पर्याप्त है। 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग को निम्नलिखित कार्य सौपे गए थे।

1 **देश के उपलब्ध साधनों का अनुमान लगाना**–आयोग देश के भौतिक पूँजीगत और मानवीय ससाधनो का अनुमान लगाता है। वह ऐसे साधनो की बढोत्तरी की सभावना का पता लगाता है जिनकी देश मे कमी है। साधनो का अनुमान और उनमे अभिवृद्धि का प्रयत्न– योजना आयोग का बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है क्योकि इसके अभाव मे कोई भी नियोजन असम्भव है।

2 **योजना का निर्माण**–आयोग का दूसरा कार्य योजना का निर्माण करना है। आयोग ऐसी योजना बनाने का कार्य करता है जिससे देश के ससाधनो का सर्वाधिक प्रभावशील और सन्तुलित उपयोग हो सके। योजना आयोग ने अब तक नौ पचवर्षीय योजनाएँ तैयार की हैं।

सामान्यत योजना आयोग के सदस्य राज्य सरकारो, केन्द्र प्रशासित राज्यो की सरकारें और केन्द्रीय मत्रालय के योजना सम्बन्धी कार्य करते हैं। कुछ ही मामले ऐसे होते हैं जो उपाध्यक्ष और अध्यक्ष योजना आयोग के पास भेजे जाते हैं।

योजना आयोग की आतरिक बैठको का आयोजन उपाध्यक्ष के सभापतित्व मे होता है। सन् 1993 94 के मध्य आठ ऐसी बैठको का आयोजन महत्त्वपूर्ण विषयो और मामलो के लिए किया गया।

विस्तृत योजना निर्माण हेतु उपाध्यक्ष, पूर्णकालिक सदस्य और मेम्बर सेक्रेटरी, एक सगठित निकाय के रूप मे कार्य करते हैं। ये आयोग के प्रस्ताव पत्र पचवर्षीय और वार्षिक योजना तथा अन्य कार्यक्रमो के निर्माण के लिए विषय खण्डो की सहायता एव मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं।

योजना आयोग की बैठकें

योजना आयोग की बैठकों मे जब राष्ट्रीय योजनाओं और प्रमुख विकासात्मक विषयो पर महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया जाता है तो योजना आयोग की प्रमुख बैठको की अध्यक्षता प्रधानमत्री करते हैं।

योजना आयोग तथा उसके विभिन्न विभागों तथा उपविभागो के अतिरिक्त कई अन्य सस्थाएँ हैं जो योजना निर्माण, और क्रियान्वयन से सम्बन्ध रखती हैं। जिनमें से कुछ तो योजना आयोग का भाग है जिनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है –

1. **परामर्शदात्री निकाय**–योजना आयोग को परामर्श देने के लिए विभिन्न परियोजनाओं से सम्बन्धित परामर्शदात्री निकाय या विशेषज्ञो के पेनल गठित किए जाते हैं। ये परामर्शदात्री निकाय विद्युत परियोजनाओ, बाढ नियत्रण सिचाई, कृषि, भूमि सुधार, स्वास्थ्य, शिक्षा जनसहयोग हेतु समिति निवास और प्रादेशिक विकास आदि विषयों पर गठित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त ससद सदस्यों की सलाहकार समिति, अनौपचारिक सलाहकार समिति प्रधानमत्री आयोजन हेतु हैं। योजना आयोग योजना निर्माण से पहले और बाद में निजी क्षेत्र की वाणिज्य एव उद्योगों से सम्बद्ध अनेक सस्थाओं

के प्रतिनिधियों से भी परामर्श करता है जैसे फेडरेशन ऑफ इडियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स और इडस्ट्रीज दि एसोसियेट चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स ऑफ इडिया आल इडिया मैन्यूफैक्चर्स ऑरगनाइजेशन इत्यादि।

2 **सम्बद्ध निकाय**–योजना निर्माण मे कुछ सम्बद्ध निकाय भी सहायता करते हैं, जैसे विभिन्न केन्द्रीय मत्रालय भारतीय रिजर्व बैंक का अर्थशास्त्र विभाग केन्द्रीय साख्यिकी सगठन आदि। योजना आयोग इन निकायों द्वारा विभिन्न विषयों पर अध्ययन करवाता है। केन्द्रीय साख्यिकी सगठन विस्तृत ऑंकडे उपलब्ध कराकर योजना निर्माण और मूल्याकन मे सहायता करता है।

3 **कार्यकारी समूह**–योजना निर्माण के समय अनेक कार्यकारी समूह की नियुक्ति आयोग द्वारा की जाती है। इनमें विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों को स्थान दिया जाता है। ये विशेषज्ञ योजना निर्माण के लिए विभिन्न विषयों पर प्रतिवेदन देते हैं जिनके आधार पर योजना बनाई जाती है। तृतीय पचवर्षीय योजना के दौरान 22 कार्यकारी समूह और छठी योजना के समय 21 कार्यकारी सभूह थे।

4 **अनुसधान प्रोग्राम समिति**–योजना आयोग ने प्रथम पचवर्षीय योजना के समय योजना आयोग के उपाध्यक्ष के आधीन अनुसधान प्रोग्राम समिति गठित की थी। तब से यह समिति निरन्तर अनुसधान कार्य कर रही है। समय-समय पर इसमे देश के विशिष्ट विशेषज्ञ वैज्ञानिक शोधकर्त्ता अर्थशास्त्री समाजशास्त्री आदि नियुक्त किए जाते रहे हैं जिनके सम्बन्ध विश्वविद्यालय और शोध तथा अनुसधान सस्थाओ से होते हैं। यह समिति विभिन्न विश्वविद्यालय और शोध अनुसधान सस्थानो को विकास के प्रशासनिक सामाजिक एव आर्थिक शोध पहलुओ के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है।

5 **राष्ट्रीय आयोजन परिषद्**–योजना आयोग प्रत्येक योजना निर्माण के समय एक राष्ट्रीय आयोजन परिषद् का सगठन करता है जो आयोग को योजना सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर परामर्श देती है। इस परिषद् में वैज्ञानिक, अभियता अर्थशास्त्री तथा विशेषज्ञ होते हैं जो अपने-अपने क्षेत्र से जुड़ी समस्याओं का अध्ययन कर योजना आयोग को अपना प्रतिवेदन देते हैं जिन पर विवेचना भी होती है।

6 **राष्ट्रीय विकास परिषद्**–यह नियोजन के क्षेत्र मे समन्वयकारी सस्था है। केन्द्र और राज्यो मे शक्तियों के बटवारे को ध्यान मे रखते हुए योजना तैयार करने मे राज्यों की भागीदारी भी उतनी ही आवश्यक है जितनी केन्द्र की। इसलिए राष्ट्रीय विकास परिषद् गठित करनी पड़ी थी, जो सवैधानिक निकाय नहीं है। सभी राज्यो के मुख्यमत्री इसके पदेन सदस्य हैं।

पचवर्षीय योजना के निर्माण मे इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। योजना पर राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्वीकृति प्राप्त होने पर ही योजना का अतिम प्रारूप तैयार किया जाता है।

उक्त सस्थाओ के अतिरिक्त योजना आयोग के साथ सलग्न निकाय भी कार्यरत हैं। प्रोग्राम इवेल्यूएशन ऑरगनाइजेशन और नेशनल इनफॉरमेटिकस सेण्टर। एक अन्य

सस्थान सरकार के याजना विभाग के अधीन इन्स्टीटयूट ऑफ एप्लाइड एण्ड मनपावर रिसर्च है। योजना आयाग से सलग्न निकाय निम्नलिखित हैं–

1 कार्यक्रम मूल्याकन सगठन (द प्रोग्राम इवैल्यूएशन ऑर्गनाइजेशन)–याजना आयोग क अधीन कार्यरत यह निकाय समय-समय पर सौंप गये विभिन्न विकास कार्यक्रमा के क्रियान्वयन म सहायता करता है। इसके प्रमुख कार्य है –

(1) याजना कार्यक्रम की सफलताआ का अनुमान लगाना ह कि वह निर्धारित उद्दश्य आर लक्ष्या के अनुसार है।

(2) याजनाआ का लाभ प्राप्तकर्त्ता पर प्रभाव का मापन कार्य

(3) समुदाय की सामाजिक आर आर्थिक सरचना पर योजना कार्यक्रम के प्रभाव का मूल्याकन।

(4) समान कार्यविधि और बनावट की यथेष्टता और प्रक्रिया का परीक्षण करना।

यह राज्य मूल्याकन सगठन को तकनीकी परामर्श और मार्गदर्शन का कार्य करता है।

2 राष्ट्रीय तकनीकी सूचना केंद्र (नेशनल इनफोर्मेटिक्स सेन्टर)–यह भारत सरकार का प्रमुख वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी सगठन है। याजना आयोग के अधीन कार्यरत है। मैनजमट सपार्ट सिस्टम क लिए तकनीकी सूचना औजार आकडो के आधार पर विकास मॉडल बेसिस और ज्ञान आधार निर्णय सपोर्टस् सिस्टम भौगालिक सूचना पद्धति फाइल रहित कार्यालय अवधारणा इलेक्ट्रोनिक डाक सेवा, मल्टी मिडिया आधारित भारतीय तकनीकी प्रशिक्षण 60 केन्द्रीय सरकारी विभागों के लिए टेली इन्फार्मेटिव सर्विस का निर्णय लिया गया। सेटेलाइट कम्प्यूटर कम्युनिकेशन नेटवर्क कार्यक्रम 32 राज्य सरकारे एव कन्द्र प्रशासित राज्यो और 450 जिला प्रशासन के लिए लागू किए गए। केन्द्र राज्य और जिला सरकारो के बीच सूचनाओ के आदान-प्रदान के लिए नेशनल इन्फार्मेटिक कम्प्यूटर मेल सर्विस और इलेक्ट्रानिक न्यूज बुलेटिन पटल (Board) की व्यवस्था की गई है।

आयोग और सरकार का सम्बन्ध

योजना आयाग और सरकार के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है। याजना आयाग की सरचना से स्पष्ट है कि प्रधानमत्री इनके पदेन अध्यक्ष हैं और याजना मत्री उपाध्यक्ष। आयोग में केन्द्रीय मत्री वित्त मत्री सहित सदस्य हैं। वित्त मत्री आयोग की बैठकों में भाग ले सकते है और लते भी है। प्रधानमत्री और वित्त मत्री की बैठकों मे उपस्थिति होने के कारण आयोग के पूर्णकालिक सदस्या क स्वतत्र विचार प्रभावित होते है। योजना आयोग मे प्रधानमत्री वित्त मत्री और अन्य मत्रियो की उपस्थिति मे तैयार योजना को मत्रिमण्डल मे स्वीकृति हेतु भेजा जाता है। मत्रिमण्डल की अध्यक्षता प्रधानमत्री करते है। प्रधानमत्री की अध्यक्षता मे याजना आयोग द्वारा तैयार याजना को सभी मत्रिमण्डल क सदस्य

गम्भीरता स नहीं देखते और बिना विचार-विमर्श के स्वीकृति प्रदान कर देते हैं। वे प्रधानमत्री से राजनीतिक दृष्टि से भयभीत रहत हैं। मत्रिमण्डल द्वारा योजना को हरी झण्डी मिल जाने पर ससद म स्वीकृति हेतु रखी जाती है। ससद मे बहुमत का नेता ही प्रधानमत्री पद पर आसीन रहता है। अत ससद द्वारा भी योजना को स्वीकृति मिलने मे कोई अडचन नही आती है।

व्यवहार से स्पष्ट है कि एक बार योजना आयोग द्वारा स्वीकृत योजना हर स्तर पर यथारूप स्वीकृत मानी जाती है। योजना आयोग और सरकार के ऐसे सम्बन्ध देखते हुए आलाचका ने योजना आयोग को समानान्तर सरकार' सर्वोच्च मत्रिमण्डल (सुपर केबिनट) आदि से सम्बोधित किया हैं। योजना आयोग योजना निर्माण म केन्द्रीय महत्त्व की सस्था हो गई है। आयोग के स्वतत्र अस्तित्व का समर्थन करते हुए भी हमें इस बात को स्वीकार करना होगा कि सरकार और योजना आयोग मे घनिष्ट सम्बन्ध रहना आवश्यक है। योजना आयोग का कार्य योजनाओ का निर्माण और मूल्याकन है तथा सरकार का कार्य योजनाओ को क्रियान्वित करना है। योजना आयोग के अध्यक्ष पद पर प्रधानमत्री का बना रहना आवश्यक है क्याकि याजना आयोग एक केन्द्रीय सस्थान है और केन्द्र तथा राज्य दानो के लिए योजनाएँ निर्मित करता है। केन्द्र और राज्य मे योजना समन्वय की दृष्टि से भी प्रधानमत्री का योजना आयोग का अध्यक्ष होना सही है। साथ ही प्रधानमत्री योजना आयोग और मत्रिमण्डल के मध्य समन्वय कडी का काम करता है। अत आलोचका द्वारा इस योजना आयोग को समानान्तर सरकार कह कर आलोचना करना निरर्थक है। कोई भी मत्री योजना आयाग का पूर्ण कालिक सदस्य नहीं है। योजना का निर्माण मूल्याकन और क्रियान्वयन तीना कार्य आपस म घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इन्हे पृथक-पृथक करके नही देखा जा सकता है। अत यह स्वाभाविक है कि तीना कार्यो म सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सरकार और योजना आयोग मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहे है। केन्द्र सरकार का नियोजन मत्रालय मत्री राज्यमत्री उपमत्री सरकार और योजना आयोग मे सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करती है। आयोग एक परामर्शदात्री सस्था है जिसका मुख्य कार्य नियोजन के उद्दश्या की रचना प्राथमिकता निर्धारण नियोजन का मूल्याकन आदि है। इसे यथासम्भव राजनीतिक प्रभाव स दूर रखने का प्रयास किया गया है। योजना के क्रियान्वयन और सचालन का भार सरकार पर है।

नियोजन तत्र के सदर्भ मे प्रशासनिक सुधार आयोग की प्रमुख सिफारिशें

प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपने प्रतिवेदन मे नियोजन तत्र के सदर्भ मे निम्न लिखित सुझाव दिए हैं –

1 प्रधानमत्री को याजना आयोग का सदस्य नही बनाया जाना चाहिए किन्तु योजना आयोग के कार्यो के साथ प्रधानमत्री का घनिष्ठ सम्बन्ध आवश्यक है। याजना आयोग की बैठकों में विचार-विमर्श के लिए आने वाले विषया से प्रधानमत्री को निरन्तर सूचित किया जाना चाहिए।

2 योजना आयोग के कार्यों से वित्त मंत्री का घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। प्रधानमंत्री की भाँति वित्तमंत्री को भी योजना आयोग की बैठकों में विचाराधीन विषयों से सूचित रखा जाय। यदि वह चाहे तो उनकी बैठकों मे उपस्थित भी हो सकता है। वित्त मंत्री योजना आयोग का सदस्य नही होगा। योजना आयोग में अन्य किसी मंत्री को भी सदस्य नही बनाया जाए।

3 योजना आयोग के सदस्यो की संख्या सात से अधिक नहीं होनी चाहिए इनका चयन अनुभव और योग्यता के आधार पर किया जाना चाहिए। सामान्यत सभी सदस्य पूर्णकालीन अधिकारी होंगे किन्तु व्यवहार मे ऐसी स्थिति आ सकती है जब कोई विशेषज्ञ व्यक्ति योजना आयोग मे कार्य करना चाहे किन्तु वह उसे अपना पूरा समय न दे सके। ऐसे विशेषज्ञों की सेवाओ का लाभ उठाने के लिए दो सदस्यो को अंशकालीन आधार पर नियुक्त किया जा सकता है। एक पूर्णकालिक सदस्य इसका अध्यक्ष बनाया जाए। योजना आयोग के सदस्या को राज्यमंत्री और अध्यक्ष को मंत्रिमण्डल मंत्री का दर्जा दिया जाना चाहिए।

4 आयोग के सदस्यो की नियुक्ति पाच वर्ष के निश्चित कार्यकाल के लिए की जानी चाहिए। निरन्तरता बनाए रखने के लिए एक या दो सदस्यों का कार्यकाल एक या अधिक वर्षों के लिए बढाया जा सकता है।

5 आयोग के विभिन्न कार्यो का आवटन सदस्यो की विशेषज्ञता एव ज्ञान को देखकर ही किया जाना चाहिए। महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का निर्णय सदस्यो द्वारा व्यक्तिगत रूप से न लिया जाकर पूरे आयोग द्वारा ही लिया जाना चाहिए।

6 योजना आयोग के सचिवालय के बारे मे आयोग का सुझाव था कि इसमे एक उच्च योग्यता प्राप्त व्यक्ति आयोग का सचिव होना चाहिए। इसके अधीनस्थ ऐसे कर्मचारी होने चाहिए जो तकनीकी और प्रशासनिक ज्ञान रखते हो।

7 आयोग ने यह भी सिफारिश की कि सभी राज्यो मे योजना बनाने और उनका मूल्यांकन करने के लिए पृथक योजना मण्डल होना चाहिए जिसमे पाच सदस्य हो।

8 प्रशासनिक सुधार आयोग ने योजना आयोग को कार्मिक प्रशासन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सिफारिशें दी–

(i) आयोग का सुझाव था कि योजना आयोग के वरिष्ठ पदो पर नियुक्ति के लिए चयन राष्ट्रीय स्तर पर किया जाय। इसमे सरकारी एव गैर-सरकारी उपक्रमो तथा सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों से भी अधिकारी लिए जा सकते हैं। यह चयन एक विशेष समिति द्वारा किया जाय जिसमे योजना आयोग का अध्यक्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का अध्यक्ष तथा योजना आयोग का उपाध्यक्ष सदस्य हो।

(ii) शीर्षस्थ स्तर की सभी नियुक्तियाँ निश्चित समय के लिए समझौते के आधार पर की जानी चाहिए। गैर-सरकारी अधिकारियों को दिए जाने वाले भत्ते आदि की राशि इतनी ऊँची होनी चाहिए कि यथेष्ठ योग्यता प्राप्त व्यक्ति इस ओर आकृष्ट हो सकें। इनका स्तर सरकारी अधिकारियो के अनुरूप होना अनिवार्य नहीं होना चाहिए।

9 योजना कार्य मे आने वाले साख्यिकियों एव अर्थशास्त्रियो को विशेषीकृत सस्थानो मे प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

सरकारिया आयोग की सिफारिशे

सरकारिया आयोग ने योजना आयोग की भूमिका की आलोचना की है। आयोग ने अनुभव किया कि योजना आयोग केन्द्र सरकार के अग के रूप मे राज्यो पर नियत्रण स्थापित करने का उपकरण मात्र है। सरकारिया आयोग योजना आयोग को स्वायत्त सस्था बनाने का पक्षधर नहीं है। *सरकारिया आयोग का सुझाव है कि योजना आयोग को स्वस्थ* परम्पराएँ स्थापित करते हुए महत्त्व दिया जाना चाहिए। सरकारिया आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित हैं–

1 सर्वप्रथम राष्ट्रीय आर्थिक और विकास परिषद् की स्थापना केन्द्र और राज्य के बीच आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों के लिए की जानी चाहिए।

2 योजना निर्माण प्रक्रिया में केन्द्र और राज्य के वास्तविक और विधिवत प्रयास होने चाहिए। सरकारिया आयोग का सुझाव था कि ड्राफ्ट एपरोच पेपर को दो माह पूर्व राज्यो को प्रेषित किया जाना चाहिए।

3 आयोग ने केन्द्रीय कार्यक्रमों के लिए प्रभावकारी विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया था। जिला स्तर पर योजना तत्र की स्थापना की सिफारिश की थी।

4 योजना आयोग और राज्य स्तर पर योजना मण्डल की स्थापना एक विशेषज्ञ निकाय के रूप में करनी चाहिए। योजना आयोग का उपाध्यक्ष ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ हो जो वस्तुनिष्ठता और प्रसिद्धि से केन्द्र के साथ ही राज्यो का भी विश्वास प्राप्त कर सके।

5 योजना आयोग को विशेष ध्यान सरकार की तकनीक और पद्धति को प्रभावित करने वाले आँकड़ों मे निगरानी पद्धति की क्षमता की ओर परामर्श देने मे देना चाहिए।

6 योजना आयोग को वार्षिक योजना और मध्यावधि निष्पति पर पुनर्विचार के अतिरिक्त प्रति पाच वर्ष बाद पचवर्षीय योजना पर पुनर्विचार करना चाहिए। ऐसा करने से आगामी पचवर्षीय योजना के निर्माण में सहायता मिलेगी।

योजना आयोग · एक स्वतत्र सगठन

प्रश्न यह उठता है कि योजना आयोग पूर्णत विशेषज्ञ सगठन होना चाहिए या राजनीति और विशेषज्ञता का मिश्रित मॉडल। अधिकाश विचारको ने योजना आयोग को एक परामर्शदात्री विशेषज्ञ सस्था के रूप मे स्थापित करने का समर्थन किया है। के सन्थानम् के मतानुसार– "यह स्थिति राज्य सरकारो को सहज स्वीकार्य होगी और उनमें अधिक विश्वास का सचार करेगी। एक ऐसी योजना परिषद् जिसकी स्वतत्रता व तटस्थता सदिग्ध हो उसका स्वरूप सम्भवत बदलना ही होगा।"

अब समय आ गया है कि योजना आयोग की सवैधानिक रूप से स्वतत्र सगठन के रूप मे सरचना की जानी चाहिए। जिसमें सभी सदस्य पूर्णकालिक हो विशेषज्ञ हों

उनकी सेवा अवधि निश्चित हो सभी सदस्यो की नियुक्ति एक साथ न कर कुछ अन्तराल के साथ करनी चाहिए ताकि अनुभव प्राप्त व्यक्तियो की योजना आयोग मे निरन्तरता बनी रहे। योजना आयोग की सरचना इस प्रकार से हो कि यह दरान म विशिष्ट कार्य हेतु गठित स्वतत्र सगठन प्रतीत हो। योजना आयोग की वर्तमान सरचना के कारण केन्द्र राज्य सम्बन्धो मे विवाद उत्पन्न हुआ है। केन्द्रीय मत्रालयो ने नीति-निर्माण और क्रियान्वयन मे योजना आयोग का आवश्यक हस्तक्षेप अनुभव किया है।

परम्परानुसार प्रधानमत्री योजना आयोग के अध्यक्ष होते ह। वह योजना आयोग की सभी बैठको का सभापतित्व करते है। योजना आयोग के निर्णयो के क्रियान्वयन पर निगरानी रखते ह। राष्ट्रीय विकास परिषद केन्द्रीय मत्रिपरिषद के साथ सम्पर्क बनाए रखते है। प्रधानमत्री के व्यवहार पर योजना आयोग की स्थिति निर्भर करती है। स्वर्गीय पडित जवाहरलाल नेहरू योजना आयोग की बैठको म नित्य प्रतिदिन के कार्यो की भाति उपस्थित रहते थे। स्वर्गीय श्रीमती इन्दिरा गाधी भी योजना आयोग की बैठको मे कभी-कभार उपस्थित होती थी।

स्वर्गीय श्री राजीव गाधी के प्रधानमत्रित्व काल म योजना आयोग के मूल्यो म कमी आई है। यहाँ तक कि योजना आयोग की स्वायत्तता भी रहस्यपूर्ण हो गई। इस काल म योजना आयोग के हाशिये पर होने का कारण वित्त मत्रालय द्वारा उदारीकरण की नीति का आरम्भ था। इसके अलावा अन्य कारण पेयजल शिक्षा और सचार के लिए योजना आयोग के बाहर तकनीकी मिशन की स्थापना भी था। योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य जे.डी सेठ ने कहा है कि– "अगर प्रधानमत्री योजना आयोग को शीर्षस्थ आर्थिक आयोजन और विकास के रूप मे उपयोग मे लाना चाहता है तो इसका बहुत अधिक महत्त्व है। अगर वह इसका उपयोग नही करना चाहता है तो योजना आयोग निरर्थक है।"

वस्तुत योजना आयोग प्रधानमत्री का प्रोत्साहन प्राप्त होने के कारण प्रभावकारी सस्था हो गई है। इसने वित्त आयोग जैसी सवैधानिक सस्था की सत्ता को भी अस्वीकार कर दिया है। योजना आयोग ने वित्त मत्रालय की शक्तियो मे हस्तक्षेप किया है। अब वित्त मत्रालय सरकारी विदेशी मुद्रा नीति और विभिन्न प्रशासकीय मामलो मे योजना आयोग की स्वीकृति को आवश्यक मानता है। योजना आयोग सम्पूर्ण देश के लिए आर्थिक मत्रालय के रूप म कार्य करता है। योजना आयोग नौकरशाही से भरा सगठन है। योजना आयोग के प्रथम अध्यक्ष स्वर्गीय नेहरू ने अनुभव किया था कि– "योजना आयोग जो विचारको का एक छोटा-सा सगठन है सम्पूर्ण सरकारी विभाग मे परिवर्तित होता जा रहा है। अब इसम सचिवो निदेशको की भीड हो गई है। निस्सन्देह इसका वृहत् आकार हो गया है।"

प्रारम्भ से प्रधानमत्री योजना आयोग का अशकालीन सभापति रहा है। अत वह योजना आयोग के कार्यो और क्रिया के लिए पर्याप्त समय नही दे पाता है। योजना आयोग का उपसभापति ही अध्यक्ष के रूप म कार्य करता है। योजना आयोग के पचास वर्ष के कार्यकाल मे कई उपसभापति पूर्णकालिक रहे है। उन्होने अपना सम्पूर्ण समय योजना

आयोग के कार्यों को दिया है। कभी-कभी केन्द्रीय मंत्री को भी योजना आयोग का उपसभापति नियुक्त किया गया है। सन् 1994 मे केन्द्रीय वाणिज्य मंत्री प्रणव मुखर्जी योजना आयोग के उपसभापति नियुक्त किए गए थे। वित्त मंत्री और कृषि मंत्री भी इसी वर्ष योजना आयोग के अंशकालीन सदस्य थे।

योजना आयोग की सदस्यता के संदर्भ मे कोई निश्चित प्रावधान नही है। अंशकालीन और पूर्णकालिक सदस्यो की संख्या भी निश्चित नही है। योजना आयोग का यह लचीलापन उसके कार्यों मे सहायक है और आर्थिक तथा सामाजिक विकास के महत्त्वपूर्ण विषयो का आसानी से सामना कर सकता है।

अब आवश्यकता है कि योजना आयोग की संरचना मे परिवर्तन किया जाए तथा इसे पूर्ण विशेषज्ञ संस्था बनाया जाय। इसके कार्य एव अधिकार क्षेत्र सुस्पष्ट हों। अन्य मंत्रालयो एव विभागो की भाँति इसे वित्तीय अधिकार दिए जाएँ ताकि योजना आयोग योजना अनुदान कर सके, प्रमुख परियोजनाओ की स्वीकृति प्रदान कर सके। योजना आयोग का ध्यान महत्त्वपूर्ण परियोजनाओ और कार्यक्रम पर ही केन्द्रित किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय विकास परिषद्

भारतवर्ष एक संघात्मक राज्य है। केन्द्र और राज्यो को अपने-अपने क्षेत्र मे स्वायत्तता प्राप्त है। *राष्ट्रीय विकास परिषद् नियोजन को संघात्मक स्वरूप प्रदान करती है।* यह योजना सम्बन्धी संगठनो मे से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संगठन है। इस परिषद् मे राज्यो के मुख्यमंत्रियों का प्रतिनिधित्व है। यह योजना आयोग के निर्धारित कार्यक्रमो पर अपनी पूर्व स्वीकृति प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। वस्तुत राष्ट्रीय विकास परिषद् ने योजनाओ को एक सच्चा राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया है।

राष्ट्रीय विकास परिषद् की आवश्यकता

15 मार्च 1950 को योजना आयोग की स्थापना की गई थी। योजना आयोग पूर्णरूपेण केन्द्रीय आयोग था तथा अपने कार्यों के लिए भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी था। शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि भारत मे संघात्मक शासन व्यवस्था है राज्यो का प्रतिनिधित्व या भागीदारी राष्ट्रीय नियोजन के लिए आवश्यक है। आर्थिक नियोजन का भारत की संघीय व्यवस्था पर गहरा प्रभाव है। प्रो ए एच हेनसन ने इस संदर्भ मे लिखा है कि– भारतीय संविधान निर्माताओ ने नियोजन को केन्द्र और राज्यो के बीच समायोजन की व्यवस्था भले ही माना हो किन्तु उनकी यह आकाक्षा साकार नही हो पाई है। प्रत्येक राज्य नियोजन हेतु अधिक से अधिक साधन प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा करने लगा। योजनाओ के निर्माण मे राज्यो का सहयोग अत्यन्त सीमित रहा। वित्तीय सहायता के लिए राज्य केन्द्र पर अधिक निर्भर होते गये। सामाजिक और आर्थिक सेवाओं के विस्तार के प्रश्न पर योजना आयोग और राज्यों के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो गया। अत एक ऐसे राष्ट्रीय संघ के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गई जहाँ योजना आयोग

के सदस्य तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि एकत्र होकर पचवर्षीय योजनाओ के बारे मे उच्च स्तरीय निर्णय ले सके। इस उद्देश्य की पूर्ति हतु राष्ट्रीय विकास परिषद् का गठन किया गया।

राष्ट्रीय विकास परिषद् का विकास

स्वतत्रता प्राप्ति से पूर्व 1946 मे श्री के सी नियोगी की अध्यक्षता मे परामर्शदात्री नियोजन मण्डल ने एक ऐसे परामर्शदात्री सगठन की स्थापना करने की सिफारिश की थी, जिसमें प्रान्तो, देशी राज्यो तथा अन्य हितो का प्रतिनिधित्व हो परन्तु किन्हीं कारणो से स्वतत्रता पूर्व इस सिफारिश की क्रियान्विति नहीं की जा सकी। प्रथम पचवर्षीय योजना की रूपरेखा तैयार करते समय योजना आयोग ने यह अनुभव किया कि राज्यो को सविधान के अन्तर्गत अपने कार्यों की स्वायत्तता प्राप्त है। अत एक केन्द्र राज्यो के बीच समन्वय स्थापित करने वाले निकाय की आवश्यकता है। योजना के सामयिक मूल्याकन जो प्रधानमत्री और राज्यों के मुख्यमन्त्रियो को तथा विभिन्न पक्षो से अवगत करा सके। अत भारत सरकार के मत्रिमण्डल सचिवालय द्वारा जारी किए गए अगस्त 1952 के प्रस्ताव के अन्तर्गत राष्ट्रीय विकास परिषद् का गठन किया गया।

राष्ट्रीय विकास परिषद् योजना आयोग की प्रमुख परामर्शदात्री सस्था है। यह नीति निर्माता निकाय है। इसके साथ यह एक उच्च स्तरीय नीति समन्वय निकाय भी है। *इसका प्रमुख कार्य योजना के क्षेत्र में केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों तथा योजना* आयोग के मध्य समन्वय बनाये रखना है।

राष्ट्रीय विकास परिषद् का उद्देश्य

एस आर माहेश्वरी के अनुसार मत्रिमण्डल सचिवालय के प्रस्ताव अगस्त, 1952 के अन्तर्गत राष्ट्रीय विकास परिषद् के निम्नलिखित तीन उद्देश्य वर्णित हैं –

1 योजना की सहायता के लिए राष्ट्र के स्रोतो तथा परिश्रम को सुदृढ करना तथा उनको गतिशील करना।

2 सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो में समरूप आर्थिक नीतियों को अपनाने को प्रोत्साहित करना।

3 देश के सभी भागों में तीव्र तथा सन्तुलित विकास के लिए प्रयास करना।

मत्रिमण्डल के प्रस्ताव में वर्णित राष्ट्रीय विकास परिषद् का उद्देश्य निम्न लिखित है–

"योजना के समर्थन में राष्ट्रों के साधनों तथा प्रयत्नो का उपयोग करना और उन्हें शक्तिशाली बनाना सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों की उन्नति करना तथा योजना आयोग की सिफारिश पर देश के सभी भागों का सन्तुलित तथा त्वरित विकास निश्चित करना।"

एस आर सेन के शब्दो में– "राष्ट्रीय विकास परिषद् के माध्यम से राज्यों का सहयोग उच्चतम राजनीतिक स्तर पर प्राप्त किया जाता है। इससे दृष्टिकोण की समानता तथा आम सहमति की धारणा के विकास में सहायता मिलती है।"

राष्ट्रीय विकास परिषद् की सरचना

राष्ट्रीय विकास परिषद् मे प्रधानमत्री योजना आयोग के सदस्य राज्यो के मुख्यमत्री केन्द्र प्रशासित राज्यों के प्रतिनिधि और केन्द्र सरकार के प्रमुख विभागों के मत्री सम्मिलित होते हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठकों में केवल उन्हीं केन्द्रीय मत्रियो को सम्मिलित किया जाता है जिनके विभाग से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया जाता है। यदि किसी राज्य का मुख्यमत्री परिषद् की बैठक में उपस्थित होने मे असमर्थ है तो वह अपना प्रतिनिधि भेज सकता है। प्रधानमत्री राष्ट्रीय विकास परिषद् का अध्यक्ष होता है। सन् 1956 के राज्य पुनर्गठन तक राष्ट्रीय विकास परिषद् की सदस्य सख्या 50 के लगभग थी क्योंकि उस समय अ ब स राज्यों की सख्या 28 थीं। अनुभव किया गया कि अधिक सख्या वाला निकाय होने के कारण राष्ट्रीय विकास परिषद् मे समस्या पर प्रभावपूर्ण तरीके से विचार-विमर्श किया जा सकना सम्भव नहीं है। अत नवम्बर 1954 में परिषद् की एक स्थायी समिति का गठन किया गया। स्थायी समिति में सदस्यों की कुल सख्या 30 रखी गई। जिसमें प्रधानमत्री योजना आयोग के सदस्य और नौ चयनित मुख्यमत्री थे। पराजपे एच के

राष्ट्रीय विकास परिषद का सगठन

प्रधानमत्री
↓
केन्द्रीय मत्री
↓
योजना आयोग के सदस्य
↓
राज्यों के मुख्यमत्री
↓
स्थायी समिति
↓
विशेष उपसमितियाँ
(आवश्यकतानुसार)
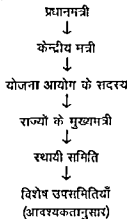
प्रशासनिक सुधार आयोग ने 1967 में नियोजन तत्र (अतरिम) प्रतिवेदन में राष्ट्रीय विकास परिषद् के पुनर्गठन की सिफारिश करते हुए निम्न सदस्यों को परिषद् में स्थान दिया था –

1 प्रधानमत्री
2 उपप्रधान मत्री (यदि है तो)
3 केन्द्रीय मत्री –
   (i) वित्त
   (ii) खाद्य और कृषि

(iii) औद्योगिक विकास तथा कम्पनी मामलात
(iv) वाणिज्य
(v) रेल
(vi) यातायात और जहाजरानी
(vii) शिक्षा
(viii) श्रम, रोजगार और पुनर्वास
(ix) गृह
(x) सिंचाई और शक्ति

4 योजना आयोग के सदस्य
5 सभी राज्यों के मुख्यमंत्री।

प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिश थी कि प्रधानमंत्री राष्ट्रीय विकास परिषद् का अध्यक्ष यथावत बने रहना चाहिए। योजना आयोग का सचिव ही राष्ट्रीय विकास परिषद् का सचिव होना चाहिए।

भारत सरकार ने थोडा सा परिवर्तन कर 7 अक्टूबर, 1967 को आयोग की सिफारिशें स्वीकार कर ली। अब राष्ट्रीय विकास परिषद् मे प्रधानमंत्री की अध्यक्षता म सभी केन्द्रीय मंत्रियों, राज्यों के मुख्यमंत्रियों, केन्द्रीय प्रशासित राज्यों के मुख्य कार्यपालकों, और योजना आयोग के सदस्यों को सम्मिलित किया गया। योजना आयोग का सचिव राष्ट्रीय विकास परिषद् का सचिव होता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि राष्ट्रीय विकास परिषद् कोई औपचारिक प्रस्ताव पारित नहीं कर सकती है। व्यवहार में, परिषद् बैठकों म किये गए विचार-विमर्श का विस्तृत अभिलेख तैयार करती है। परिषद् की बैठको में लिए गए सभी निर्णय सर्वसम्मत होते हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक वर्ष मे दो बार होती है। एक बैठक ही तीन चार दिन तक निरन्तर चलती है। इस सम्बन्ध म कोई निश्चित नियम नहीं है। अनेक अवसरों पर परिषद् की वर्ष में दो से अधिक बैठकें हुई हैं। योजना आयोग के सचिवालय द्वारा परिषद् की कार्यावली तैयार की जाती है। उसमे राष्ट्रीय महत्त्व के ऐसे विषय सम्मिलित रहते है जिन पर राज्यों का विचार जानना अति आवश्यक होता है।

राष्ट्रीय विकास परिषद् की समितियाँ

विषय स्थिति की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद विभिन्न समितियों का गठन कर सकती है। राष्ट्रीय विकास परिषद् की 43वीं बैठक मे निम्नलिखित छ समितियाँ गठित की गई थीं–

1 जनसंख्या समिति–इस समिति के गठन के निम्न उद्देश्य थे– प्रथम राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के निर्माण से सम्बन्धित सामाजिक और जनसंख्या के वैज्ञानिक आँकडों अधम सरचना और विकास हेतु तकनीकि आवश्यकताओं का पता लगाना।

द्वितीय जनसंख्या नियंत्रण के लिये आवश्यक उपायों का पता लगाना।

तृतीय जनसख्या नियत्रण कार्यक्रम के क्रियान्वयन हेतु विभिन्न स्तरा पर नतृत्व का पता लगाना।

चतुर्थ परिवार कल्याण कार्यक्रमो मे खर्च की जाने वाली धन राशी पर पुनर्विचार और सुझाव प्रेषित करना।

पचम राष्ट्रीय जनसख्या नीति के क्रियान्वयन के लिए उपयुक्त व्यवस्था पुनर्विचार निगरानी और सहायक हस्तक्षेप रणनीति के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करना।

2 सूक्ष्म-स्तरीय नियोजन समिति–इस समिति का कार्य राज्य नियोजन के सदर्भ में सूक्ष्म-स्तरीय या उप-राज्य स्तरीय नियोजन के क्षेत्र और सदर्भ को परिभाषित करना था। सूक्ष्म-स्तरीय नियोजन को प्रभावकारी और उपयोगी बनाने के लिए प्रक्रिया का निर्धारण और पदसोपान निश्चित करने का कार्य दिया गया। इसके अतिरिक्त इसका कार्य राष्ट्रीय और प्रारम्भिक स्तर पर जनसहभागिता सम्बन्धित सुझाव देना था।

3 सयम समिति–इस समिति का प्रमुख कार्य राज्य सरकारों के सम्पूर्ण खर्चों का पता लगा कर सुझाव देना था कि कहाँ पर मितव्ययता अपनाकर गैर सस्थापन व्यय राज्य सरकारों की ब्याज घटकों के खर्चों में कमी की जा सकती है।

4 रोजगार समिति–इस समिति का प्रमुख कार्य गामीण और नगरीय क्षेत्र में शिक्षित अशिक्षित और महिला रोजगार की सम्भावनाओं का परीक्षण करना था। रोजगार प्राप्त करने वाले व्यक्तियों मे सामाजिक रोजगार कार्यक्रमों का विश्लेषण करना था साथ ही समिति को विभिन्न सेक्टरों मे उत्पादक रोजगार क्षेत्रों के विस्तार का पता लगाना था।

5 शिक्षा समिति–राष्ट्रीय शिक्षा मिशन की उन्नति पर पुनर्विचार के लिए यह समिति गठित की गई थी। इसके साथ भावी शिक्षण कार्यक्रमों का डिजाइन तैयार करना था। शिक्षा की उन्नति में पचायती राज सस्था और ऐच्छिक सगठनों लोक नृत्य माध्यम, प्रकाशित सामग्री माध्यम इलेक्ट्रोनिक माध्यम आदि के सहयोग के सम्बन्ध में सुझाव देना था। समिति को शिक्षा आन्दोलन में पचायत, खण्ड और जिला स्तर पर आदेश देने के लिए उपयुक्त सरचना के साथ बाल देखरेख बाल विकास महिलाओं की आर्थिक समर्थता जनसख्या नियत्रण कार्यक्रम आदि विषयों पर सुझाव देना था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा, निरन्तर शिक्षा के अन्तर्गत शिक्षित और नवीन शिक्षित और महिला शिक्षितो के मापदण्ड सम्बन्धी सुझाव भी समिति को देना था।

6 चिकित्सा शिक्षा समिति–इस समिति का प्रमुख कार्य चिकित्सा शिक्षा के सम्बन्ध में उपलब्ध चिकित्सा दत और व्यवसायिक चिकित्सा के वर्तमान और भावी उपयोग सम्बन्धी ऑकडे एकत्रित करना और सुझाव प्रेषित करना था। जिसके आधार पर चिकित्सा शिक्षा के सरकारी और प्राइवेट सेक्टर पर व्यय किया जाना है। इस समिति मे विभिन्न मुख्यमत्रियो केन्द्रीय मत्री, योजना आयोग के सदस्यों को सम्मिलित किया गया था। प्रत्येक समिति का सभापति राज्य के मुख्यमत्री थे। योजना आयोग के सदस्य सदस्य सचिव एव सयोजक थे।

उक्त समितियो ने महत्त्वपूर्ण सुझाव राष्ट्रीय विकास परिषद् को दिये जिनके आधार पर राष्ट्रीय विकास परिषद् प्रभावपूर्ण निर्णय करने म सक्षम हुई।

राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य

राष्ट्रीय विकास परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं –

1 राष्ट्रीय योजना की प्रगति पर समय-समय पर विचार
2 राष्ट्रीय योजना के निर्माण हेतु पथ प्रदर्शन,
3 योजना आयोग द्वारा निर्मित राष्ट्रीय योजना पर विचार विमर्श
4 विकास को प्रभावित करने वाले सामाजिक और आर्थिक नीति समस्याओ से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार विमर्श,
5 समय-समय पर राष्ट्रीय योजना के कार्यों पर पुनर्विचार के साथ राष्ट्रीय योजना में निर्धारित उद्देश्यों की सफलता के सम्बन्ध में जनसाधारण स सहयोग प्राप्त करने के सुझाव।

एस आर माहेश्वरी के मतानुसार, "इन नवीन परिवर्तनो से अब राष्ट्रीय विकास परिषद् का महत्त्व पहले की अपेक्षा अधिक बढ गया है, क्योंकि अब राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिए पथ प्रदर्शक तत्व परिषद् द्वारा प्रतिपादित और निश्चित किए जाते हैं। नवीन व्यवस्थानुसार अब योजना आयोग अपनी योजना इसके अनुसार ही बनाता हैं। इस प्रकार अब राष्ट्रीय विकास परिषद् शासन में नीति निर्धारण करने वाली सर्वोपरि और महत्त्वपूर्ण सस्था बन गई है।"

राष्ट्रीय विकास परिषद् की भूमिका

राष्ट्रीय विकास परिषद् की चार प्रकार की भूमिकाएँ निम्नलिखित हैं –

(1) सिद्धान्त मे, राष्ट्रीय विकास परिषद सहायक सघवाद की भूमिका का निर्वाह करता है। जैसा कि पूर्व म कहा जा चुका है। परन्तु व्यवहार में पचवर्षीय योजनाओं के निर्माण म राष्ट्रीय विकास परिषद् का महत्त्वपूर्ण योगदान है। योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा स्वीकृत पचवर्षीय योजना पर ही सविदा तैयार करता है। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना के सम्बन्ध मे, योजना आयोग को सिफारिश प्रस्तुत कर सकती है। परिषद योजना के क्रियान्वयन में भी परामर्श देती है कि योजना का क्रियान्वयन किस प्रकार किया जाय। योजना आयोग और केन्द्रीय मत्रिमण्डल, राष्ट्रीय विकास परिषद् के निर्णयो, सिफारिशो की किसी भी स्थिति मे अनदखी नही कर सकते हैं। वस्तुत राष्ट्रीय विकास परिषद् के सदस्य ही नीति-निर्माण अधिकारी है। राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने का अर्थ है कि योजना आयोग को राज्यों की पूर्व स्वीकृति प्राप्त हो गई है। माइकल ब्रेचर के मतानुसार "राष्ट्रीय विकास परिषद् ने योजनाओ के निर्धारण में दृष्टिकोण की एकरूपता एव कार्य सचालन म समानता उत्पन्न की है। परिषद् के सदस्य सत्ताधारी नीति के निर्माता है, उनके मत की उपेक्षा योजना आयोग तथा मत्रिमण्डल किसी भी स्थिति में नही कर सकते है।"

(2) राष्ट्रीय विकास परिषद् उच्च स्तरीय नीति निर्मात्री निकाय है। व्यवहार में परिषद् संविधानोत्तर संस्था होते हुए भी मन्त्रिमण्डल और संसद दोनों से अधिक प्रभुत्व सम्पन्न है। राष्ट्रीय विकास परिषद् की सिफारिशें नीति निर्देशक हैं जिनकी पालना राज्य और संसद दोनों द्वारा की जाती है। राष्ट्रीय विकास परिषद् की महत्त्वपूर्ण भूमिका ने योजना आयोग को एक शोध संस्थान के रूप में परिवर्तित कर दिया है। वस्तुत राष्ट्रीय विकास परिषद् की इस भूमिका के लिए उसकी संरचना सहयोगी है। परिषद् केन्द्र और सभी राज्यों के उच्च स्तरीय सदस्यों का संगठन है। अत परिषद् के निर्णय सम्पूर्ण राष्ट्रीय हित में होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाना स्वाभाविक है।

(3) राष्ट्रीय विकास परिषद् योजनाओं और कार्यक्रमों के समन्वय में सहायता करती है। राष्ट्रीय विकास परिषद् ही एक ऐसा स्थान है जहाँ वाद-विवाद तथा विचारों का स्वतंत्र आदान-प्रदान किया जा सकता है। के सन्थानम् ने इस संदर्भ में उल्लेख किया है– "राज्य सरकारों ने सूती कपड़े शक्कर और तम्बाकू पर बिक्री कर लगाने का अधिकार केन्द्र सरकार को सौंपने का निश्चय किया तथा परिषद् की बैठक में यह भी तय किया कि बदले में कुछ अतिरिक्त उत्पादन शुल्क राज्यों को मिल जायेगा अर्थात् आपसी विचार-विमर्श से इतना महत्त्वपूर्ण निर्णय परिषद् के मंच से लिया जा सकता है।" उन्होंने राष्ट्रीय विकास परिषद् की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए लिखा है– "राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय संघवाद के सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल भारत सरकार के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और राज्य सरकारों के मन्त्रिमण्डल के लगभग है।"

(4) राष्ट्रीय विकास परिषद् अधिक और अधिक प्रभावपूर्ण प्रतिष्ठावान और सत्तावान होती जा रही है। सन् 1956 में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समय राष्ट्रीय विकास परिषद् ने खाद्य मंत्रालय से परामर्श लिये बिना ही खाद्य उत्पाद का लक्ष्य निर्धारित किया था। सन् 1958 में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने व्यापार और वाणिज्य का अधिक विचार-विमर्श न कर राज्य का विषय निश्चित किया था। सन् 1969 में राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक दिल्ली में आयोजित हुई थी। प्रथम बार कुछ राज्यों ने चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रारूप को औपचारिक स्वीकृति प्रदान कर दी थी। केरल तथा पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्रियों का तर्क था कि उन्हें योजना का प्रारूप तैयार होने पर बुलाया गया था। उस समय योजना प्रारूप में किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश ही नहीं थी। तमिलनाडु के मुख्यमंत्री का सुझाव था कि राष्ट्रीय विकास परिषद् एक स्थायी निकाय होना चाहिए और इसका पृथक सचिवालय होना चाहिए।

सन् 1969 के पश्चात् राष्ट्रीय विकास परिषद् के बैठकों में राज्यों के मुख्य-मंत्रियों ने राज्यों के आय स्रोतों को बढ़ाने की बात उठाई। तमिलनाडु के तत्कालीन मुख्य मंत्री ने कहा– "हमारे यहां संघात्मक प्रवृत्ति की बात केवल उत्तरदायित्वों का बटवारा करने के लिए अपनाई गई है। लेकिन वित्तीय स्रोतों को बांटने में एकात्मक प्रवृत्ति का अनुसरण किया जाता है।" सन् 1978 में केन्द्र में शासन सत्ता परिवर्तन के साथ राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने जोरदार मांग की कि केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों पर पुनर्विचार होना

चाहिए। राष्ट्रीय विकास परिषद को एक कार्यकारी दल का गठन राज्यो को केन्द्र से अधिक वित्तीय सहायता देने के लिए गठित करना पड़ा था। सन् 1983 मे केन्द्र राज्य सम्बन्धो पर पुनर्विचार के लिए सरकारिया आयोग का गठन किया गया था।

19 मार्च, 1988 को राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक दिल्ली म आयोजित हुई इस बैठक मे सातवी पचवर्षीय योजना का मध्यावधिक मूल्याकन को अनुमोदित कर दिया गया। राज्यो के मुख्यमत्रियो द्वारा योजना की प्रगति पर सताप व्यक्त किया गया। परन्तु केन्द्र सरकार की वित्तीय अव्यवस्था के लिए गेर काग्रेस (इ) मुख्यमत्रियो ने अनुत्पाद एव फालतू खर्चों को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाने को कहा। इन राज्यो के मुख्यमत्रियो ने वित्तीय अनुशासन के नाम पर ओवर ड्राफ्ट सुविधा वापिस लेने को अनुचित बताते हुए केन्द्र से कहा कि वह भी इस वित्तीय अनुशासन का पालन करे। कर्नाटक के मुख्यमत्री ने सरकारिया आयोग की सिफारिशो का उल्लघन करने के लिए प्रधानमत्री की आलोचना की। महाराष्ट्र के मुख्यमत्री शकर राव चव्हाण ने वित्तीय मामलों में विशेषकर अतिरिक्त वित्तीय ससाधन जुटाते समय राज्यहित की रक्षा न करने के लिए केन्द्र की आलोचना की।

जून 1990 म राष्ट्रीय विकास परिषद ने आठवी पचवर्षीय योजना के लिए योजना आयोग "दृष्टिकोण पत्र" का व्यापक समर्थन किया। यह परिषद की इकतालीसवी बैठक थी। अक्टूबर 1990 मे राष्ट्रीय विकास परिषद् ने बैठक मे आठवी योजना के दौरान राज्यो को दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता की मात्रा के निर्धारण के लिए नवीन फार्मूलो को मजूरी दी। अब तक राज्यो को केन्द्रीय सहायता गाडगिल फार्मूले के अनुसार दी जाती थी। दिसम्बर 1991 मे राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक मे गाडगिल फार्मूले पर पुनर्विचार का प्रस्ताव लाया गया। जिसकी राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमत्री भैरोसिह शेखावत न तीव्र आलोचना करत हुए कहा था– "जिन विषयो को 42वें सविधान सशोधन द्वारा राज्य सूची स समवर्ती सूची मे रखा गया है। सर्वप्रथम उन्हे राज्यो को हस्तातरित किया जाना चाहिए।

18 सितम्बर 1993 को राष्ट्रीय विकास परिषद ने अपनी छियालीसवीं बैठक में, सियालीसवी बैठक म गठित जनसख्या साक्षरता, रोजगार तथा स्थानीय नियोजन शिक्षा, सयम और चिकित्सा सम्बन्धी उपसमितियों की सिफारिशो को स्वीकृत कर दिया। तमिलनाडु के तत्कालीन मुख्यमत्री न राज्यो को आर्थिक स्वायत्तता देने की बात कही ताकि विकास प्रक्रिया में वे सही भूमिका का निर्वाह कर सके। अनुभवी प्रशासक एच एम पटेल ने कहा है कि योजना आयोग के परामर्शदात्री निकायो म राष्ट्रीय विकास परिषद सम्मिलित है। यह कहना सर्वथा गलत है कि इसकी सरचना से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय विकास परिषद योजना आयोग से श्रेष्ठ निकाय है। यथार्थ म यह नीति निर्मात्री सस्था है और इसकी सिफारिशो को नीति निर्णयों के कारण न तो श्रेष्ठ कहा जा सकता है और न ही परामर्शदात्री सुझाव ही माना जा सकता है। इसी प्रकार के विचार माइकेल ब्रेचर ने व्यक्त किए हैं– "राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना योजना हेतु सर्वोच्च प्रशासनिक

और परामर्शदात्री निकाय के रूप मे की गई थी। यह मत्रिमण्डल द्वारा स्वीकृत नीति निदेश जारी करती है। राष्ट्रीय विकास परिषद् और उसकी स्थायी समिति अपने स्थापना के समय से योजना आयोग को योजना से अलग कर एक शोध भुजा का स्वरूप प्रदान करती है।" लेकिन ब्रेचर का यह कथन उपयुक्त नही है। इसके निम्नलिखित कारण हैं–

1 राष्ट्रीय विकास परिषद् का वृहत आकार विभिन्न समस्याओ पर विस्तृत विचार विमर्श और वाद-विवाद के लिए उपयुक्त नही है। अत विभिन्न विषयों पर सामान्य वाद-विवाद ही राष्ट्रीय विकास परिषद् में किया जा सकता है।
2 राष्ट्रीय विकास परिषद् का सत्र लगातार नही है। अत यह एक सावयवी व्यक्तित्व के रूप मे विकसित नही हो सकती है।
3 योजना आयोग परिषद् को सचिवालय सहायता उपलब्ध कराता है।
4 योजना आयोग के सदस्य राष्ट्रीय विकास परिषद् और इसकी स्थायी समिति के सदस्य होते हैं।

अशोक चन्दा के अनुसार "योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् के साथ मत्रिमण्डल के आशिक परिचय ने सवैधानिक स्थिति को विकृत कर दिया है।"

सन् 1967 के आम चुनावो के पश्चात् से भारत की राजनीतिक व्यवस्था मे परिवर्तन आया है। राज्यो में विभिन्न राजनीतिक दलो की सरकारो के चयनित होने के साथ योजना आयोग का स्वर्ण काल समाप्त हो गया है। राष्ट्रीय विकास परिषद् अधिक शक्तिशाली और प्रभावकारी सस्था बन गई है।

इस व्यवस्था की सर्वत्र प्रशसा हुई है। प्रो हेनसन ने इस सदर्भ मे लिखा है कि– भारतीय व्यवस्था का प्रमुख गुण यह है कि उसने योजना को राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया है। योजना निर्माण मे केन्द्रीय मत्रियो एव राज्यो के प्रतिनिधियो की उपेक्षा नही की गई है। "राष्ट्रीय विकास परिषद् मे केन्द्र और राज्यो के मुख्यमत्रियो को स्थान दिया गया है। मुख्यमत्री योजना निर्माण मे अपने-अपने राज्य का खुलकर दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। न केवल निर्माण योजना क्रियान्वयन भी राज्यो के हाथों मे है। वास्तव मे यह एक ऐसा मच है जहाँ केन्द्र और राज्यो के मत्रिमण्डल नीति-निर्माण मे एकत्रित होकर भाग लेते हैं। परिषद् योजना आयोग तथा राज्य सरकारों के बीच समायोजन सस्थान है। यह तो केवल योजना आयोग का परामर्शदात्री निकाय है। इसके पास कोई सवैधानिक शक्ति नहीं है। इसका स्वरूप ही इसे विशिष्ट स्थिति और गरिमा प्रदान करता है। *इसकी सिफारिशो के केन्द्र और राज्य की सरकारे सम्मानपूर्वक स्वीकार करती हैं।* राष्ट्रीय विकास परिषद् ने भारत की भावी योजनाओ को सच्चा राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने मे सहायता की है। केन्द्र और राज्य के बीच सचार माध्यम के रूप में परिषद् की प्रभावी भूमिका रही है।

सरकारिया आयोग के सुझाव

1 सरकारिया आयोग का सुझाव था कि राष्ट्रीय विकास परिषद का पुनर्गठन करके नाम बदल कर राष्ट्रीय आर्थिक एव विकास परिषद रखा जाना चाहिए।

2 राष्ट्रीय विकास परिषद को अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए।

संदर्भ एवं टिप्पणियॉ

1 के सन्थानम् — यूनियन स्टेट रिलेशस इन इडिया बम्बई 1960 पृ 47

2 एस आर माहेश्वरी — इडियन एडमिनिस्ट्रेशन दिल्ली 1968 पृ 97

3 एस आर सेन — प्लानिग मशीनरी इन इडिया, इडियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन वाल्यूम जुलाई-सितम्बर 1961 पृ 233

4 एच के पराजपे — दि ऑरगनाइजेशन प्लानिग कमीशन, दिल्ली 1970 पृ 9

5 माइकेल ब्रेचर — नेहरू– ए पालिटिकल बायोग्राफी, लन्दन 1959, पृ 521

6 इडियन एक्सप्रेस — 19 सितम्बर 1993

7 अशोक चन्दा — फेडरेलिज्म इन इडिया, 1963 पृ 281

□□□

अध्याय–13
निर्वाचन आयोग : संगठन एवं कार्य

आज सभी स्वतत्र और प्रजातान्त्रिक देशो में शासन प्रणाली का आधार जन-प्रतिनिधित्व है। प्राचीनकाल में राज्य छोटे-छोटे होते थे और अधिकाश राज्यो का स्वरूप राजतत्रीय था। अत इन राज्यों में शासन सचालन में जनता का कोई हाथ नहीं रहता था। प्राय राजा और उसके द्वारा नियुक्त कर्मचारी शासन का सचालन करते थे। ग्रीस या वैशाली जैसे छोटे प्रजातान्त्रिक राज्यों में जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य में भाग लेती है। प्रत्यक्ष प्रजातत्र केवल छोटे राज्यों के लिये सम्भव है। आज राज्यों का आकार बहुत बडा हो गया है। जनता का शासन कार्य में प्रत्यक्ष भाग लेना सम्भव नहीं हैं। अत प्रतिनिधित्व प्रणाली का आविष्कार हुआ। जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है और प्रतिनिधि शासन का सचालन करते हैं। प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मुख्यत निर्वाचन का अधिकार है। यह जनता का प्रमुख अधिकार हो गया है। तात्पर्य यह है कि निर्वाचन व्यवस्था की कल्पना मुख्यत आधुनिक है और वह प्रजातत्र का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था मे निर्वाचन प्रक्रिया का महत्त्व स्वीकार किया गया है।

प्रतिनिधियों की कार्यविधि के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नहीं हैं। विभिन्न देशों में विभिन्न विधियाँ अपनाई गयी हैं। जहाँ तक व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदनों के सदस्यो का प्रश्न है उनका कार्यकाल भारत ब्रिटेन, कनाडा और अमेरिका मे पाच वर्ष, स्वीडन, जापान तथा रूस में चार वर्ष है। द्वितीय सदन के प्रतिनिधियो का कार्यकाल भारत, अमेरिका आस्ट्रेलिया में 6 वर्ष, दक्षिण अफ्रीका मे 10 वर्ष, फ्रास में 9 वर्ष तथा सोवियत रूस में 4 वर्ष और ब्रिटेन में आजीवन है। भारतीय सविधान सभा की सघीय सविधान समिति ने लोकसभा का कार्यकाल 4 वर्ष निश्चित किया था, लेकिन प्रारूप समिति ने इसे पाच वर्ष कर दिया। इसका कारण यह बतलाया गया कि ससदीय शासन प्रणाली में प्रथम वर्ष किसी मन्त्री को शासन कार्य का ज्ञान प्राप्त करने में लग जाता है तथा अतिम वर्ष सामान्य निर्वाचन की तैयारी में लग जाता है। फलत केवल दो वर्ष समय बचेगा जो सुनियोजित प्रशासन के लिए अल्प अवधि है। स्पष्ट है कि भारत में प्रत्येक पाच वर्ष अवधि या आवश्यक होने पर इससे पूर्व भी निर्वाचन के माध्यम से जनता अपने प्रतिनिधियो का चयन करती है। जिन्हें वह शासन सत्ता सौंपना चाहती है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में यह महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है कि चुनाव सम्पन्न होते हैं। अपितु महत्त्वपूर्ण बात

यह है कि चुनाव किस प्रकार होते हे? कितने निष्पक्ष होते है? आम जनता को निर्वाचन व्यवस्था का सचालन करने वाले अभिकरण पर कितना विश्वास हे?

भारत म केन्द्र राज्य और स्थानीय स्तर पर शासन सचालन के लिए जनता अपने प्रतिनिधियो का चयन करती है। जनता चुनाव में अपने मताधिकार का प्रयोग करती है। यह चयनित प्रतिनिधि ही सरकार के रूप में नीति-निर्माण ओर नीति क्रियान्वयन का कार्य करते हैं। अगर सरकार जनता की आकाक्षाओ के अनुरूप कार्य नहीं करती है तो जनता अपने मताधिकार द्वारा उसे बदल सकती है। भारत मे चुनाव जनमत की अभिव्यक्ति है। सविधान निर्माता भारत म निष्पक्ष चुनाव के पक्षधर थे। अत भारतीय सविधान मे एक पृथक अध्याय के अनुच्छेदो 324 से 329 में निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्थाओ का उल्लेख किया गया है। ऐसा करके भारत मे निर्वाचन व्यवस्था को विश्व के अन्य देशो की तुलना म अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। अत भारत में चुनाव व्यवस्था के लिए सविधान द्वारा चुनाव आयाग की सरचना की गई है।

चुनाव आयोग एक सविधानिक आयोग है। सविधान सभा में निर्वाचन की व्यवस्थाओ के विषय म प्रावधान करने से पूर्व पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया था। सविधान निर्माता यह चाहते थे कि भारत मे लोकतत्र को जीवित रखने के लिए एक निष्पक्ष और निष्ठावान निर्वाचन तत्र की स्थापना हो। सविधान निर्मात्री सभा में प हृदयनाथ कुजरू ने निर्वाचन व्यवस्था के सदर्भ मे अपने विचार व्यक्त करते समय कहा था कि– "यदि किसी देश का निर्वाचन तत्र दूषित है अकुशल है या उसमें कार्यरत लोग ईमानदार नही है तो लोकतन्त्र अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे ही डगमगा जायेगा।"

निर्वाचन आयोग का गठन

भारतीय सविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत भारत में निर्वाचनों का निर्देशन, अधीक्षण और नियत्रण करने के लिये निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है।[1] आयोग सविधान के अधीन ससद और प्रत्यक राज्य के विधान मण्डल के लिए तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के निर्वाचनो का नियत्रण अधीक्षण और नियत्रण का कार्य करेगा।[2] यह एक केन्द्रीय सस्था है। इसम एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होगे, जितने राष्ट्रपति समय-समय पर मनोनीत करें। राष्ट्रपति द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तो की नियुक्तियाँ ससद द्वारा निर्मित विधि के अधीन की जाती है। इसी अनुच्छेद में कहा गया है कि जब कोई निर्वाचन आयुक्त इस प्रकार नियुक्त किया जाता है तो मुख्य निर्वाचन आयुक्त निर्वाचन आयोग के सभापति के रूप म कार्य करेगा।

सविधान यह प्रावधान भी करता है कि लोकसभा तथा प्रत्येक राज्य की विधानसभा क प्रत्येक साधारण निर्वाचन से पूर्व तथा विधान परिषद वाले प्रत्येक राज्य की विधान परिषद के लिए पहले साधारण निर्वाचन तथा तत्पश्चात् प्रत्येक द्विवार्षिक चुनाव से पूर्व राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके निर्वाचन आयोग को दिए

दायित्वों के पालन म आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्त भी नियुक्त करेगा जैसा कि वह आवश्यक समझे।'

संविधान मे निर्वाचन आयोग के मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तो की सेवा शर्तों के बारे मे कहा गया है कि ससद द्वारा निर्मित किसी विधि के उपबन्धो के अधीन ऐसी होगी जैसा कि राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करे। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणो पर उन्हीं रीतियों से हटाया जा सकता है जिन कारणो और रीतियो से उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश *हटाया जा सकता है अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के* आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार ससद को है। कार्यविधि चाहे जो हो लेकिन ससद को प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य सख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यो को दो तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और यह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा। उसके बाद राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त को हटाने का आदेश जारी करेगा।

नियुक्ति के पश्चात् मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तों में अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। स्पष्ट है कि हमारे संविधान निर्माता निर्वाचन आयोग को स्वतत्र सशक्त और कार्यपालिका के अनुचित प्रभावो से मुक्त रखना चाहते थे और मुख्य निर्वाचन आयुक्त के पद को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर सरक्षण प्रदान किया गया है।'

भारत में सर्वप्रथम निर्वाचन आयोग का गठन संविधान के प्रावधानानुसार 1951 मे किया गया। तब से अक्टूबर 1993 तक निर्वाचन आयोग "एक सदस्यीय आयोग" के रूप मे *कार्य करता रहा। सन् 1952 में प्रथम आम चुनावों के सचालन हेतु दो प्रादेशिक* आयुक्तो की नियुक्ति की गयी। प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति व्यवस्था को लाभदायक नहीं समझा गया और द्वितीय आम चुनावों के समय इस व्यवस्था को निरस्त कर दिया गया। सन् 1956 मे प्रादेशिक आयुक्तों के स्थान पर दो उप निर्वाचन आयुक्तों के पद सृजित किए गए। विभिन्न चुनावों मे उपनिर्वाचन आयुक्त के पद का उपयोग किया जाता रहा है।

उप निर्वाचन आयुक्त के पद सविधानिक नहीं है। प्राय उन्हें भारतीय प्रशासनिक सेवा अथवा केन्द्रीय सचिवालय की चयनित वेतन श्रृखला (सेलेक्शन ग्रेड) या केन्द्रीय सेवा के प्रथम क्षेत्रो के अधिकारियो मे से प्रतिनियुक्ति (डेप्यूटेशन) पर नियुक्त किया जाता रहा है। यह प्रतिनियुक्ति पाच वर्ष के लिए होती है। प्रतिनियुक्त उपनिर्वाचन आयुक्त की कार्यावधि आवश्यकतानुसार निर्दिष्ट अवधि तक बढाई जा सकती है।' सन् 1957, 1962 और 1967 के निर्वाचनों का सचालन करने के लिए दो उप-निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति की गई। सन् 1969 के मध्यावधि चुनावो के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए केवल एक ही उप निर्वाचन आयुक्त था। इस समय इन दोनों पदों पर कार्यरत हैं।

निर्वाचन आयुक्त

सचिवालय संरचना

मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए उपनिर्वाचन आयुक्त सचिव अवर सचिव शोध अधिकारी आदि की नियुक्ति की गई है। उप निर्वाचन आयुक्त का पद भारत सरकार मे संयुक्त सचिव के स्तर का राजपत्रित पद है। उप निर्वाचन आयुक्त के नीचे तीन सचिव कार्यरत हैं। इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर की जाती है। सचिवो की प्रतिनियुक्ति (डेप्यूटेशन) पर लिए जाने का प्रावधान है। प्राय आयोग के अधीनस्थ पदों पर कार्यरत अधिकारियों में से इनकी नियुक्ति की जाती है। ताकि अधिकारियो के अनुभव का लाभ आयोग को प्राप्त हो सके। मुख्य निर्वाचन आयुक्त सचिवो के मध्य कार्यो का विभाजन लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 (19 क) के नियमो की सीमा म रहते हुए करता है। निर्वाचन आयोग में सचिव का पद उप सचिव के समानान्तर है। सचिवो के नीचे सचिवालय म सात अवर सचिव के पद हैं। य अपने अधिकारियो को प्रशासनिक कार्यों में सहायता प्रदान करत है। निर्वाचन आयोग मे एक पद अनुसंधान अधिकारी का है। यह अधिकारी सचिव के निर्देशन में चुनावों के बाद प्रतिवेदन तैयार करने और तत्सम्बन्धी सांख्यिकी का विश्लेषण करने का कार्य करता है। सदर्भ एव अभिलेख अनुभाग का नियत्रण भी अनुसधान अधिकारी करता है। इसके अतिरिक्त निर्वाचन आयोग के सचिवालय में अनुभाग अधिकारी, सहायक स्टेनोग्राफर, अनुसंधान सहायक हिन्दी अनुवादक पुस्तकालयाध्यक्ष, पुस्तकालय सहायक, वरिष्ठ लिपिक कनिष्ठ लिपिक और चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी कार्यरत है जैसा कि आयोग की संरचना चार्ट में स्पष्ट किया गया है।

चुनाव आयोग की संरचना

निर्वाचन आयोग का शीर्षस्थ अधिकारी मुख्य निर्वाचन आयुक्त है। सभी निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ मुख्य निर्वाचन आयुक्त को दी गई हैं। सन् 1966 में निर्वाचन सम्बन्धी विधि में परिवर्तन किया गया। परिवर्तित व्यवस्था मे मुख्य निर्वाचन आयुक्त में निहित अधिकारो का प्रयोग उप निर्वाचन आयुक्त एव सचिव भी कर सकते है। इस व्यवस्था म मुख्य निर्वाचन आयुक्त की शक्तियों का हस्तातरण हो सकता है। परन्तु व्यवहार म आज भी सभी निर्वाचन शक्तियाँ संविधान के अनुसार मुख्य निर्वाचन आयुक्त में ही समाविष्ट हैं।

निर्वाचन आयोग की संरचना परिवर्तन की राजनीति

स्वर्गीय राजीव गांधी सरकार क अन्तर्गत राष्ट्रपति आर वेकटरमण ने 16 अक्टूबर, 1989 को निर्वाचन आयोग को एक सदस्यीय आयोग के स्थान पर व्यापक रूप देने के उद्देश्य स दो निर्वाचन आयुक्त– श्री एस एस धनोवा और श्री वी एस सैगल की नियुक्ति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए की थी। संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत इस प्रकार की नियुक्ति का यह प्रथम अवसर था। श्री धनोवा अवकाश

चुनाव आयोग की संरचना
मुख्य निर्वाचन आयुक्त
निर्वाचन आयुक्त
सचिव
निर्वाचन आयुक्त
सचिव
निर्वाचन आयुक्त
सचिव
(1)
(2)
(3)
(4)
(5)
(6)
(7)
(8)
अवर सचिव
अवर सचिव
अवर सचिव
अवर सचिव
अवर सचिव
अवर सचिव
अवर सचिव
अनुसंधान अधिकारी
प्रशासन प्रभाग
चुनाव प्रभाग
एज्यूजिशन एण्ड वेंनसाइनमेंट प्रभाग
सामान्य प्रभाग
बजट लेखा और केश प्रभाग
सामान्य प्रभाग
चुनाव प्रभाग
चुनाव प्रभाग
हिन्दी विभाग
प्रिन्टिंग एण्ड प्रकाशन विभाग
सांख्यिकी प्रभाग
सामान्य प्रभाग
कानूनी प्रभाग 1
कानूनी प्रभाग 2
अनुसंधान और अभिलेख प्रभाग
पुस्तिका लाभ
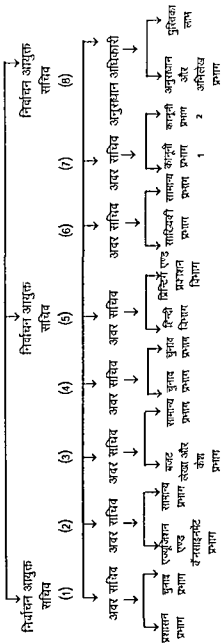
प्राप्त प्रशासनिक सेवा से ओर श्री सेगल अवकाश प्राप्त आई पी एस थे। दोनों आयुक्तों की नियुक्ति की राष्ट्रीय मोर्चा तथा अन्य विपक्षी दलो ने आलोचना की। शीघ्र ही 2 जनवरी 1990 को राष्ट्रपति ने उक्त दोनो निर्वाचन आयुक्तो की नियुक्तियाँ रद्द कर दी। निर्वाचन आयोग पुन एक सदस्यीय आयोग हो गया । प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने प्रथम संवाददाता सम्मेलन म उपनिर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की समीक्षा करने का उल्लेख किया था तथा अन्य चुनाव आयुक्तो की नियुक्ति की।

चुनाव प्रक्रिया के सदर्भ म मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी एन शेषन द्वारा कई विवादास्पद कदम उठाए गए। इन्हे ध्यान म रखते हुए केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने निर्वाचन आयोग को पुन बहुसदस्यीय बनाने का निर्णय किया ओर एसा करने की राष्ट्रपति को सिफारिश की। चुनाव के समय अर्द्धसैनिक बलो की तैनाती और चुनाव ड्यूटी मे लगे कर्मचारियो के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने के अधिकार को लेकर मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी एन शेषन ने कई विवाद खडे किए। जिसके कारण एक बार सभी उप-चुनाव स्थगित करने पडे थे। उप चुनावो को स्थगित करने के बाद संविधानिक संकट उत्पन्न हो गया था। उस समय समूचे विपक्ष ने चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाये जाने की जोरदार माग की थी।'

मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी एन शेषन के अधिकारो मे कटौती करने की लिए 1 अक्टूबर 1993 को सरकार ने दो चुनाव आयुक्तो की नियुक्ति की। साथ ही अध्यादेश जारी कर तीनो चुनाव आयुक्तो के अधिकार समान कर दिए। राष्ट्रपति द्वारा कृषि सचिव एम एस गिल तथा विधि आयोग के पूर्व सदस्य जी वी जी कृष्णमूर्ति को चुनाव आयुक्त नियुक्त किया गया। मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी एन शेषन के अवकाश प्राप्त करने पर एम एस गिल मुख्य निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किए गए। ये दसवे मुख्य निर्वाचन आयुक्त हैं। एम एस गिल के अवकाश प्राप्त करने पर जे एम लिंगदोह मुख्य चुनाव आयुक्त दिनाक 14 6 2001 को नियुक्त हुए। दो अन्य चुनाव आयुक्त टी एस कृष्णमूर्ति और जी पी टडन हैं।

मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा शर्तें) अधिनियम 1991 म अध्यादेश के माध्यम से यह प्रावधान किया गया है कि चुनाव सम्बन्धी किसी विषय पर मतभेद होने की स्थिति म बहुमत से निर्णय किया जाएगा। निर्वाचन आयोग के कार्य से सम्बन्धित संशोधनो के अनुसार आयोग के सदस्य सर्वसम्मति से आपस मे कामकाज का बटवारा करेगे। जहाँ तक सम्भव हो सर्वसम्मति से निर्णय किए जायेंगे। लेकिन किसी विषय पर मतभेद हुआ तो बहुमत की राय के अनुसार निर्णय किया जायेगा।'

कार्यकाल :

मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा शर्ते) अधिनियम म मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तो का कार्यकाल 6 वर्ष या 62 वर्ष की आयु था। अध्यादेश द्वारा कार्यकाल म परिवर्तन करते हुए सेवा शर्तो को पुन परिभाषित किया गया है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तो को सर्वोच्च न्यायालय

के समकक्ष रखा गया है। अब उनका कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु कर दी गई है। जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवानिवृत्ति आयु 65 वर्ष के समान है।

वेतन

एक सशोधन द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्तों का वेतन न्यायाधीशो के समकक्ष कर दिया है।

अध्यादेश में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयुक्तो की स्थिति समान हो गई है। अब मुख्य निर्वाचन आयुक्त केवल नाममात्र का अध्यक्ष होगा।

निर्वाचन आयोग के कार्य

चुनावो से सम्बन्धित सभी व्यवस्था करना निर्वाचन आयोग का कार्य है। निर्वाचन आयोग की शक्तियों का एक मात्र स्रोत सविधान का अनुच्छेद 324 है जिसके अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन हुआ है। इस अध्यादेशानुसार निर्वाचनो के निदेशन, अधीक्षण और नियत्रण की शक्तियाँ निर्वाचन आयोग को प्राप्त हुई हैं। निर्वाचन आयोग के कार्यों का पृथक से वर्णन सविधान के अनुच्छेद 324 में नहीं किया गया हैं। शक्तियाँ और कार्य दोनों परस्पर निर्भर हैं। शक्तियों के अभाव मे कार्यों का निष्पादन हो ही नही सकता है।

सविधान के अनच्छेद 324 में वर्णित निर्वाचन आयोग की शक्तियाँ के आधार पर निर्वाचन आयोग के निम्नलिखित कार्यों का वर्णन किया जा सकता है–

1 चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन–चुनाव करवाने के लिए सर्वप्रथम निर्वाचन आयोग को चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन करना होता है। भारत मे प्रथम आम चुनाव हेतु चुनाव क्षेत्रो का सीमाकन जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेशानुसार किया गया था। यह व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं रही। अत भारत सरकार परिसीमन हेतु परिसीमन आयोग नियुक्त करती है। परिसीमन आयोग के गठन के लिए ससद ने परिसीमन आयोग अधिनियम 1952 पारित किया। इस परिसीमन आयोग अधिनियम में प्रावधान है कि हर दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के पश्चात् निर्वाचन क्षेत्रों का सीमाकन किया जाना चाहिए।

परिसीमन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त और दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के अवकाश प्राप्त न्यायधीश होंगे। *आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक* राज्य से 2 से 7 तक सहायक सदस्यो का प्रावधान है। सहायक सदस्य उस राज्य से निर्वाचित लोकसभा और राज्य सभा के सदस्यो में से चयनित किए जायेंगे। जनता व्यक्तिगत या सगठित रूप से आयोग को परिसीमन सम्बन्धी सुझाव भी प्रेषित कर सकती है। जनता के सुझावों पर परिसीमन आयोग की खुली बैठकों में विचार करना आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त परिसीमन आयोग सीमाकन आदेश जारी करता है। इसी प्रकार परिसीमन आयोग ही सविधान में अनुच्छेदों के अनुसार अनुसूचित जातियो जनजातियों एव एग्लोइडियन के लिये ससद व विधान सभा में सीटो का आरक्षण करता

है। परिसीमन आयोग का आदेश अंतिम होता है जिसके विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।

प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन निर्वाचन आयोग द्वारा ही किया गया था। अब परिसीमन का कार्य परिसीमन आयोग करता है। परिसीमन आयोग के किसी भी आदेश को अद्यतन बनाए रखने की शक्ति निर्वाचन आयोग को है। निर्वाचन आयोग का परिसीमन कार्य परिसीमन आयोग और निर्वाचन आयोग का संयुक्त कार्य है।

2 मतदाता सूचियाँ तैयार करना–निर्वाचन आयोग का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य मतदाता सूची तैयार करना है। अनुच्छेद 324 मे स्पष्ट किया गया है कि निर्वाचन आयोग, निर्वाचन नियमावली अपने निर्देशन मे तैयार करेगा। अनुच्छेद 326 मे यह स्पष्ट कहा है कि लोकसभा और राज्यों के विधान मण्डलो के चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होंगे। अतः भारत का प्रत्येक नागरिक जिसकी आयु 18 वर्ष है मत देने का अधिकारी है।

अनुच्छेद म आगे लिखा है कि इस संविधान अथवा समुचित विधान मण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन अनिवास, चित-विकृति, अपराध या भ्रष्ट आचरण के आधार पर अन्यथा निरर्हित नहीं कर दिया गया हो। ऐसी किसी निर्वाचन मे मतदाता के रूप मे पंजीकृत होने का हकदार होगा। निर्वाचन आयोग लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक आम चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियाँ अपने अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण में तैयार करवाता है। मतदाता सूचियाँ तैयार होने के पश्चात् ही चुनाव सम्भव है। मतदाता सूचियाँ तैयार करने का वास्तविक कार्य राज्यों के निर्वाचन क्षेत्र की देखरेख में जिला निर्वाचन अधिकारियों द्वारा किया जाता है। मतदाता सूची चुनाव से पूर्व इसलिए तैयार की जाती है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसने 18 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है और मत देने की योग्यता से निरर्हित नहीं है, मताधिकार से वंचित न रहे। इसके साथ उन व्यक्तियो के नामो को भी मतदाता सूची से निकाला जाता है जिनकी मृत्यु हो चुकी है अथवा भारत से बाहर जा कर रह रहा है या किसी कारण से निरर्हित है।

3 विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता–निर्वाचन आयोग का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। लोकसभा और विधानसभा के चुनाव मैदान में कई राजनीतिक दल होते हैं। निर्वाचन आयोग राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करने का कोई आधार निश्चित कर सकता है। समय-समय पर उनमें परिवर्तन भी किया जाता रहा है। राष्ट्रीय दलो के रूप में निर्वाचन आयोग किसी दल को मान्यता तभी प्रदान करता है जबकि आम चुनाव में उसे कम से कम चार राज्यों में 4 प्रतिशत मत मिले हों। इसी आधार पर आठ राष्ट्रीय और 42 राज्य स्तरीय दलों को सन् 1989 के चुनावों म मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त 257 पंजीकृत अमान्यता प्राप्त दल चुनाव मैदान मे थे। अमान्यता प्राप्त दलों को इसी वर्ष चुनाव में मान्यता प्राप्त दल समझा गया था। यदि किसी राजनीतिक दल में विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो गई है, तो निर्वाचन आयोग ही उनके विवादों का निपटारा करता है।

4 **राजनीतिक दलों को चुनाव चिह्न आवंटन**–निर्वाचन आयोग का चौथा महत्त्वपूर्ण कार्य राजनीतिक दलों को चुनाव चिह्न आवंटित करना है। भारत जैसे बहुदलीय पद्धति वाले राज्य में चुनाव चिह्न आवंटन का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं कठिन है। कठिन उस समय होता है जब एक राजनीतिक दल में विभाजन होता है और दानो विभाजित दल पहले वाला चुनाव चिह्न ही प्राप्त करना चाहते हों। ऐसी स्थिति में निर्वाचन आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायपूर्ण तरीके से चुनाव चिह्न विवाद का निपटारा करे। भारत में चुनाव चिह्न विवाद पर निर्वाचन आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे अपील भी की जा सकती है।

5 *राज्य स्तरीय निर्वाचन तंत्र का निर्देशन एवं नियंत्रण*–निर्वाचन आयोग का पाचवा महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य स्तरीय निर्वाचन तंत्र का निर्देशन एव नियंत्रण करना है। राज्य में चुनाव सम्बन्धी सारे कार्य राज्य स्तर पर किए जाते हैं। राज्य स्तर पर निर्वाचन विभाग जिला विभाग, पुलिस विभाग तथा निर्वाचन पंजीकरण अधिकारी की नियुक्ति होती हैं। निर्वाचन आयोग निष्पक्ष चुनाव के लिए इन्हे व्यापक निर्देश जारी करता है। चुनाव कार्य में राज्य स्तरीय अधिकारियो को अगर कोई परेशानी है तो तुरन्त उसके समाधान के लिए आवश्यक सहायता निर्देश और मार्गदर्शन करता है। चुनाव के समय राज्य स्तरीय निर्वाचन विभाग का प्रमुख निर्वाचन अधिकारी निर्वाचन आयोग के नियंत्रण में कार्य करता है। इस अधिकारी की नियुक्ति निर्वाचन आयोग द्वारा ही की जाती है। इसका वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन भी अशत निर्वाचन आयोग द्वारा ही तैयार किया जाता है। इसके अतिरिक्त निर्वाचन आयोग ही जिला मुख्य निर्वाचन अधिकारी की नियुक्ति करता है।

6 **परामर्शदात्री कार्य**–निर्वाचन आयोग का छठा महत्त्वपूर्ण कार्य परामर्शदात्री है। निर्वाचन आयोग चुनाव के अतिरिक्त ससद तथा राज्यों के विधानमण्डलो के सदस्यो की अयोग्यताओं के बारे में राष्ट्रपति और राज्यपाल को परामर्श देता है। अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यो की अयोग्यता के सम्बन्ध में तथा अनुच्छेद 192 के अन्तर्गत राज्यों के राज्यपाल राज्य विधानमडल के सदस्यो की अयोग्यता के सम्बन्ध में निर्वाचन आयोग से परामर्श कर सकते हैं।

इस विषय मे आयोग का परामर्श ही राष्ट्रपति एव राज्यपाल के लिए बाध्यकारी होगा जिसे न्यायालय मे चुनौती नहीं दी जा सकती है।

7 **आचार संहिता निर्धारण**–निर्वाचन आयोग का सातवा महत्त्वपूर्ण कार्य आचार संहिता निर्धारण है। निर्वाचन आयोग निष्पक्ष चुनाव व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। अत कार्य के सम्पादन हेतु आयोग सभी राजनीतिक दलो सरकार उम्मीदवारों, चुनाव सम्पन्न कराने वाले कर्मचारियों और सभी सम्बद्ध पक्षों के लिए एक आदर्श आचार संहिता जारी करता है। जिसका पालन सभी सम्बद्ध पक्षों को करना होता है।

8 **अन्य कार्य**– निर्वाचन आयोग को उक्त कार्यों के अतिरिक्त कई अन्य कार्य भी करने होते हैं जैसे–

(1) राजनीतिक दलो को आकाशवाणी एव दूरदर्शन पर चुनाव प्रचार की सुविधाएँ उपलब्ध कराना।

(2) उम्मीदवार द्वारा चुनाव मे व्यय की जानी वाली राशि की सीमा निश्चित् करना।

(4) मतदाताओ को राजनीतिक प्रशिक्षण देना।

(5) समय-समय पर सरकार को अपने कार्यो का प्रतिवेदन देना।

(6) चुनाव प्रक्रिया मे सुधार के लिए सुझाव देना।

(7) इलेक्ट्रोनिक वोटिंग मशीनों का उपयोग हेतु अभिलेख और गणना के लिये मशीनों की व्यवस्था करना।

वस्तुत निर्वाचन प्रक्रिया का आरम्भ राष्ट्रपति द्वारा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की 14वी धारा के अन्तर्गत निर्वाचन की अधिसूचना के साथ ही हो जाता है। इसके बाद निर्वाचन आयोग मतदान की तिथिया घोषित करता है। यह निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण है। इस चरण मे नामजदगी, पत्रों की जाच की तिथि, नाम वापसी की तिथि निश्चित की जाती है। भारत में सन् 1966 के बाद से चुनाव अभियान के लिए कम से कम 20 दिन का समय दिया जाता है। चुनाव से 48 घण्टों पूर्व चुनाव प्रचार बद कर दिया जाता है।

राज्य एवं जिला स्तर पर निर्वाचन तंत्र

निर्वाचन आयोग एक केन्द्रीय सस्था है। सारे भारत मे केन्द्र और राज्यो के चुनावो के लिए सविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन किया गया है। निर्वाचन आयोग अपने निर्वाचन सम्बन्धी सभी कार्यो को व्यवहारिक रूप देने के लिए निर्वाचन प्रशासन के निम्नलिखित स्तरो पर निर्वाचन तत्र का निर्माण करता है–

1 राज्य स्तर पर मुख्य निर्वाचन अधिकारी–राज्य और केन्द्र प्रशासित प्रदेश स्तर पर एक मुख्य निर्वाचन अधिकारी नियुक्त किया जाता है। मुख्य निर्वाचन अधिकारी अपने राज्य अथवा केन्द्र प्रशासित राज्य के चुनाव सम्बन्धी सभी कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है। मुख्य निर्वाचन अधिकारी की नियुक्ति करने से पूर्व निर्वाचन आयुक्त सम्बन्धित राज्य/केन्द्र प्रशासित प्रदेश की सरकार से इस पद हेतु अधिकारियों का एक पेनल मगवाता है और उसी पेनल में वर्णित नामों में से किसी एक को मुख्य निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किया जाता है।

मुख्य निर्वाचन अधिकारी राज्य में भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है। किसी राज्य मे यह अधिकारी पूर्णकालिक और किसी में अशकालिक होता है। राज्य/केन्द्र प्रशासित प्रदेश स्तर पर सयुक्त, उप तथा सहायक निर्वाचन अधिकारी मुख्य अधिकारी की सहायता करते है। इनकी नियुक्ति मुख्य निर्वाचन अधिकारी राज्य सरकार के परामर्श से करता है। मुख्य निर्वाचन अधिकारी राज्य एव केन्द्र शासित प्रदेश स्तर पर निर्वाचन तत्र का प्रमुख स्तर है। सन् 1956 में इस पद को विधिक आधार प्रदान किया गया था। मुख्य निर्वाचन अधिकारी निर्वाचन आयोग के अधीक्षण, निदेशन और नियत्रण

में रहते हुए निर्वाचन सम्बन्धी कार्य करता है। यह मतदाता सूचियो को अद्यतन करने हेतु तैयारी एव उनमें आवश्यक सशोधन तथा राज्यो में सभी प्रकार के चुनावों का निर्देशन एव पर्यवेक्षण करता है।

प्रत्येक राज्य में मुख्य निर्वाचन अधिकारी के कार्यालय का सगठन एव प्रशासन भिन्न होता है जो कि उसके आकार तथा निर्वाचन सम्बन्धी कार्यभार पर निर्भर करता है। मुख्य निर्वाचन अधिकारी का कार्यकाल राज्य की राजधानी में राज्य सचिवालय का एक भाग होता है। इसके लिए अलग से मत्रालयिक और चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों की व्यवस्था की जाती है।

2 **जिला निर्वाचन अधिकारी**–राज्य स्तर पर मुख्य निर्वाचन अधिकारी के चुनाव सम्बन्धी कार्यों में सहायता के लिए जिला स्तर पर एक सरकारी अधिकारी की नियुक्ति की जाती हैं जो जिला निर्वाचन अधिकारी कहलाता है। इसकी नियुक्ति निर्वाचन आयोग द्वारा राज्य सरकार के परामर्श से की जाती हैं। भारत में प्राय जिलाधीश को ही जिला निर्वाचन अधिकारी नियुक्त किया जाता है। सन् 1966 मे जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 में सशोधन कर जिला निर्वाचन अधिकारी को विधिक दर्जा प्रदान किया गया है। जिला निर्वाचन अधिकारी मुख्य निर्वाचन अधिकारी के अधीक्षण निर्देशन और नियत्रण मे रहते हुए मतदाता सूचिया तैयार कराने, उन्हे नवीनतम बनाए रखने एव सशोधन करने के कार्यों मे आवश्यक समन्वय स्थापित करता है। जिले मे चुनाव के लिए आवश्यक सामान खरीदने मतदान केन्द्र दलो की नियुक्ति चुनाव एव पजीयन के कार्यों पर नियत्रण आदि कार्यों का दायित्व जिला निर्वाचन अधिकारी का है।

जिला स्तर पर सभी राज्यों में निर्वाचन तत्र समरूप नही है। निर्वाचन आयोग का सुझाव था कि जिला स्तर पर एक स्वतत्र निर्वाचन अधिकारी का पद स्थापित किया जाय और उसे चुनाव सम्बन्धी सभी उत्तरदायित्व सौंप दिए जाय। उस पर निर्वाचन आयोग और मुख्य निर्वाचन अधिकारी का नियत्रण बना रहे। 1966 मे जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 में सशोधन कर यह सुझाव लागू कर दिया गया। केन्द्र प्रशासित राज्यो में जिला निर्वाचन अधिकारी के पद पृथक से नही हैं वहा रिटर्निंग ऑफिसर ही जिला निर्वाचन अधिकारी का कार्य करता है।

निर्वाचन क्षेत्र के स्तर पर चुनाव सम्बन्धित दो प्रकार के कार्य सम्पन्न किये जाते है– प्रथम मतदाता सूची तैयार कराना उन्हें सशोधित कर अद्यतन बनाने का कार्य– इस कार्य को निर्वाचन पजीयन अधिकारी सहायक पजीयन अधिकारी और रिटर्निंग अधिकारी करते हैं। द्वितीय चुनाव सम्पन्न कराने का कार्य– इस कार्य के लिए पीठासीन अधिकारी तथा मतदान अधिकारी उत्तरदायी है। निर्वाचन पजीयन अधिकारी / सहायक पजीयन अधिकारी रिटर्निंग अधिकारी, पीठासीन अधिकारी तथा मतदाता अधिकारियों के बारे मे सक्षिप्त जानकारी यहा प्रस्तुत की जा रही है क्योंकि निर्वाचन क्षेत्र के स्तर पर इनकी अहम् भूमिका है।

3. निर्वाचन पजीयन अधिकारी–सम्बन्धित राज्य सरकार के परामर्श पर निर्वाचन आयोग निर्वाचन पजीयन अधिकारी की नियुक्ति करता है। निर्वाचन पजीयन अधिकारी की सहायता के लिए एक या एक से अधिक सहायक पजीयन अधिकारियो की नियुक्ति भी निर्वाचन आयोग ही करता है। प्राय उप जिलाधीश (डिप्टी कलेक्टर) उपमडल अधिकारी (एस डी ओ) अथवा बडी नगरपालिकाओ के कार्यपालन अधिकारी स्तर के अधिकारियों को निर्वाचन पजीयन अधिकारी नियुक्त किया जाता है। तहसीलदारो को निर्वाचन पजीयन अधिकारी नियुक्त किया जाता है। मतदाता सूचियो मे संशोधन के लिये आवश्यकतानुसार अशकालीन कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती है। यह अधिकारी जिला निर्वाचन अधिकारी के पर्यवक्षण मे कार्य करते हैं।

4 रिटर्निंग ऑफिसर–प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र मे निर्वाचन अधीक्षण के लिये निर्वाचन आयोग, राज्य सरकार के परामर्श पर एक अधिकारी की नियुक्ति करता है उसे रिटर्निंग ऑफिसर कहते हैं। एक ही व्यक्ति एक से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों के अधीक्षण हेतु रिटर्निंग ऑफिसर नियुक्त किया जा सकता है। निर्वाचन आयोग, रिटर्निंग ऑफिसर को अधीक्षण कार्य में सहायता देने के लिए सहायक रिटर्निंग ऑफिसरों की नियुक्ति भी करता है। लोकसभा चुनाव क्षेत्रो के लिए जिलाधीश और विधान सभा चुनाव क्षेत्रो के लिए उपमण्डल अधिकारी (एस डी ओ) को रिटर्निंग ऑफिसर नियुक्त किया जाता है।

रिटर्निंग ऑफिसर के प्रमुख कार्य हैं–

(1) नामाकन पत्रों को स्वीकार करना।

(2) उनकी जाच करना।

(3) मतों की गिनती करना।

(4) चुनाव परिणामो की घोषणा करना ।

ऐसा कोई कठोर नियम नहीं है कि जिला निर्वाचन अधिकारी और रिटर्निंग ऑफिसर दो अलग-अलग पदाधिकारी हों। एक ही व्यक्ति जिला निर्वाचन अधिकारी और रिटर्निंग ऑफिसर दोनों के पद पर कार्य कर सकता है। देखा गया है कि जिला स्तर पर जिलाधीश ही जिला निर्वाचन अधिकारी और लोकसभा चुनाव क्षेत्र में रिटर्निंग ऑफिसर के पद पर कार्य करते है।

5. पीठासीन और मतदान अधिकारी–निर्वाचन कार्यों में स्थायी रूप मे कार्यरत अधिकारियों के अतिरिक्त असख्य रूप में वे कर्मचारी होते हैं जिन्हें मतदान के आवश्यक व्यवस्था हेतु विभिन्न सरकारी विभागो से निर्वाचन के समय बुलाया जाता है। जिला निर्वाचन अधिकारी इनमें से पीठासीन अधिकारी तथा मतदान अधिकारियों की नियुक्ति करता है जो मतदान स्थलो पर जाकर व्यवहार में चुनाव कार्य सम्पन्न करवाते हैं। जिला निर्वाचन अधिकारी प्रत्येक मतदान केन्द्र के लिए एक पीठासीन अधिकारी तथा आवश्यकतानुसार 3 से 5 तक मतदान अधिकारी (पोलिंग ऑफीसर) एक चपरासी एवं पुलिस के सिपाही होते है, जिसे मतदान दल कहा जाता है।

पीठासीन अधिकारियों के पद पर राजपत्रित अधिकारी ही रखे जाते हैं। कभी-कभी नीचे के स्तर के अधिकारी भी रख लिए जाते हैं। जब लोकसभा और विधान सभा के चुनाव साथ-साथ हो रहे होते है तो मतदान दल में एक पीठासीन अधिकारी और 4-5 मतदान अधिकारी नियुक्त किए जा सकते हैं। पीठासीन अधिकारी मतदान केन्द्र पर व्यवस्था बनाये रखने और निष्पक्ष चुनाव के लिए उत्तरदायी होता है। पीठासीन अधिकारी के अस्वस्थ हो जाने पर या कार्य करने में असमर्थ होने पर जिला निर्वाचन अधिकारी किसी मतदान अधिकारी को पीठासीन अधिकारी का कार्य सौंप सकता है। चुनाव कार्य में निर्वाचन आयोग द्वारा पर्यवेक्षण के लिए कुछ पर्यवेक्षकों की भी नियुक्ति की जाती है। कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए क्षेत्रवार मजिस्ट्रेट भी नियुक्त किए जाते हैं।

निर्वाचन आयोग की आलोचना

भारत में निर्वाचन आयोग की आलोचना की जाती रही है। आलोचना का प्रमुख आरोप निर्वाचन आयोग का शासक दल के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार बताया गया है। चुनावों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि– भारत में चतुर्थ आम चुनाव तथा लोकसभा, 1971 के मध्यावधि चुनावों के बाद तो इस प्रकार के आरोपों में निरन्तर वृद्धि हुई है। *आलोचकों द्वारा निर्वाचन आयोग की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं–*

1 निर्वाचन आयोग निर्वाचन का समय एवं तिथियों का निर्धारण करता हैं। व्यवहार मे निर्वाचन आयोग यह कार्य सत्तारूढ दल की इच्छा एवं सुविधा को ध्यान में *रखकर करता है। एक बार घोषणा हो जाने के पश्चात् न्यायपालिका सहित कोई भी* निकाय उसमे रुकावट नहीं डाल सकता है।

2 निर्वाचन आयोग चुनावी गडबडियाँ रोक पाने में असमर्थ रहता है। चुनाव के दौरान, हिंसा,मतदान केन्द्रों पर कब्जा उम्मीदवारों का अपहरण फर्जी मतदान जैसे प्रवृत्तियों में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। निर्वाचन आयोग कुछ भी कर सकने मे असमर्थ है।

3 निर्वाचन आयोग मे मुख्य निर्वाचन आयुक्त के पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठम व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है। इसके साथ-साथ इस ओर भी ध्यान दिया जाता है कि आयुक्त पद पर नियुक्त होने वाला व्यक्ति शासक दल के प्रति निष्ठावान हो। आलोचकों का मानना है कि व्यक्ति जिसने लम्बे समय तक शासक दल के अधीनस्थ के रूप में अपनी सेवायें दी है निष्पक्ष कार्यकर्त्ता हो ही नहीं सकता है।

4 निर्वाचन आयोग के पास चुनाव कार्य सम्पन्न कराने के लिए स्वयं का कर्मचारी वृन्द नहीं है। उसे सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर करना पडता है। ये कर्मचारी निर्वाचन आयोग के प्रति समर्पित और निष्ठावान न होकर अपने नियोक्ता के प्रति समर्पित होते हैं। अतः निष्पक्ष चुनाव सम्पन्न कराने में निर्वाचन आयोग को सही अर्थों मे सहयोग नहीं करते हैं। नतीजा फर्जी मतदान, मतदान केन्द्र पर कब्जा आदि घटनाऐं होती हैं। ऐसी स्थिति में आयोग को स्वयं के अधीन कार्यरत कर्मचारियों पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं।

5 निर्वाचन आयोग के चुनाव भ्रष्टाचार रोकने सम्बन्धी सभी प्रयास केवल कागजो तक सीमित है। अगर भारत चुनाव व्यवस्था को वास्तव मे सुधारना चाहता है तो संसद द्वारा कानून बनाकर नियत्रक एव लेखा परीक्षक जैसी हैसियत निर्वाचन आयोग को तत्काल प्रदान करे। वर्तमान व्यवस्था मे आयोग केवल उम्मीदवार और राजनीतिक पार्टी द्वारा दिए गए चुनाव खर्च विवरण पर ही विश्वास करने के लिए निर्भर करता है।

6 निर्वाचन आयोग म मुख्य निर्वाचन आयुक्त का स्तर अभी पूरी तरह से उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के समान नही है। जहा तक कार्यकाल का प्रश्न है? उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश 65 वर्ष तक सेवारत रहता है। राष्ट्रपति द्वारा 1972 मे की गई घोषणानुसार, मुख्य निर्वाचन आयुक्त का कार्यकाल पाच वर्ष या 65 वर्ष की आयु जो भी पहले हो रखा गया है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त का वेतन और अन्य प्रशासनिक व्यय भी सचित निधि पर भारित नहीं है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश और मुख्य निर्वाचन आयुक्त को हटाने की प्रक्रिया एक ही है। यह कहना गलत न होगा कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त का पद उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की तुलना मे कमजोर है।

7 सविधान ने निर्वाचन आयोग की कल्पना बहुसदस्यीय की है। प्रारम्भ से ही निर्वाचन आयोग एक सदस्यीय रहा है। ऐसी स्थिति मे मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयोग मे कोई भेद नहीं रहा है। सन् 1993 मे एक आदेश द्वारा निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाया गया है। यह व्यवस्था निरन्तर बनी रहनी चाहिए।

चुनाव पद्धति से सम्बन्धित कमियाँ और उपचार

भारत मे जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950 एव 1951 के अनुसार अब तक हुए सभी आम चुनावो से पता चलता है कि भारतीय निर्वाचन पद्धति मे कुछ कमियाँ है। जिन्होने जनता की चुनाव मे आस्था को कम किया है, जैसे –

1 हमारे निर्वाचन कानूनो के अनुसार वयस्क मताधिकार का आशय 21 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति मत देने का अधिकारी है, से था। अब यह आयु युवा वर्ग की माग पर घटाकर 18 वर्ष कर दी गई है। डा लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के शब्दो मे "हमारे सविधान ने उदारवादी दर्शन के सार तत्व सार्वभौम वयस्क मताधिकार को अपनाया है। परन्तु इसके पूरे अर्थ का अभी उद्घाटन होना है अभी इसे न्याय स्वतन्त्रता तथा समता के उदात्त लक्ष्यों की सिद्धि का शासन बनाना शेष है। यदि हमें इस महत तथा भव्य आदर्श को यथार्थ के धरातल पर लाना है तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निर्वाचन प्रक्रमो का वास्तविक स्वरूप तथा त्रुटियो एव विकृतियो का परिचय प्राप्त करें उनकी शुद्धता के लिए अथक प्रयास करे।"

2 अब तक चुनाव हेतु निर्धारित व्यय सीमा का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। उम्मीदवार के व्यय की निर्धारित राशि मे उसके राजनीतिक दल व्यक्तिगत तथा समर्थकों द्वारा किए जाने वाला व्यय शामिल न था। अब व्यय सीमा में कटौती की गई है और इस क्षेत्र म प्रयास भी किए गए हैं। स्थिति यह हो गई है कि उम्मीदवार और राजनीतिक

दल चुनाव प्रचार पर अधिक व्यय नही कर सकते है। चुनाव के दिनो मे पहले जैसा चुनावी माहौल भी नही दिखाई देता है।

3 चुनाव मे प्रवुद्ध वर्ग की कोई रुचि नहीं रह गई है। एक अरब से अधिक आवादी वाले भारत देश मे मतदान का प्रतिशित 60 या 65 प्रतिशत ही होता है। निर्वाचित प्रतिनिधि अपने क्षेत्र की जनता के बहुमत का प्रतिनिधित्व नही करता। निर्वाचित पद्धति की ही कमी है कि निर्वाचित प्रतिनिधि बहुमत द्वारा समर्थित न होकर अल्पमत का प्रतिनिधि होता हैं। गाँधीजी ने सही कहा था कि– एक तरफ 51 लोग हैं और दूसरी ओर 49 लोग तो उसे लोकतत्र नहीं कहा जा सकता है। राजनीतिक आलोचक और समालोचक भी इस प्रकार के चुनावों को लोकतात्रिक परिणामों के अनुसार नही मानते हैं।

4 चुनाव के दौरान सत्तारूढ दल द्वारा सरकारी साधनो का दुरुपयोग किया जाना भी चुनाव पद्धति की निष्पक्षता के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। भारत में लोकसभा *और राज्यसभा विधानसभा के कार्यकाल समाप्त होने या उनके भग हो जाने की स्थिति* मे तत्कालीन सत्तारूढ मत्रिमडल तब तक शासन करता है जब तक निर्वाचन के पश्चात् नई सरकार / मत्रिमडल शपथ ग्रहण नहीं कर लेता है। यह सरकार चुनाव के दिनो में सरकारी प्रशासन तत्र साधन सामग्री एव सरकारी कोष से व्यय करने के अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हैं। प्रधानमत्री अपने पद का लाभ उठाते हुए अपने राजनीतिक दल के चुनाव में विजयी होने के अच्छे आसार पैदा करने की चेष्टा करता हैं।

केन्द्र में सत्तारूढ सरकार चुनाव के दिनो मे अपने अधिकारो का प्रयोग करते हुए केन्द्र और राज्यो मे कुछ विशेष सुविधाएँ– गाँवो में सड़को का तत्काल निर्माण बिजली पानी की सुविधा प्रदान कर अपने राजनीतिक दल की स्थिति को मजबूत करने का प्रयास करते हैं। ऐसा करने से राजनीतिक भ्रष्टाचार को बढावा मिलता है। निर्वाचन आयोग ने इस हेतु आचरण सहिता बनाई है परन्तु उसका कोई विशेष लाभ नही होता है।

5 भारत मे साम्प्रदायिकता जातिवादी और क्षेत्रवाद को चुनाव में स्पष्ट देखा जा सकता है। राजनीतिक दल किसी निर्वाचन क्षेत्र से उम्मीदवार को टिकट देने से पूर्व उस क्षेत्र में निवास करने वाली बहुसख्यक जनता का जायजा लेते है। उसी बहुसख्यक जाति या सम्प्रदाय के व्यक्ति को चुनाव हेतु टिकट देते हैं। चुनाव प्रचार में भी सम्प्रदाय की भावनाओं को उभारने का प्रयास करते हैं। सिद्धान्त में यही लोग साम्प्रदायिकता और जातिवाद को एक बुराई मानकर विरोध करते हैं।

6 भारत जैसे देश मे मतदाता को उम्मीदवार खरीदने का प्रयास करता है। ऐसा चुनाव के दौरान देखने और सुनने को मिलता है। इसके कई कारण हैं। अशिक्षा और गरीबी जिनमें प्रमुख है। लोकतत्रात्मक पद्धति मे सभी को समान अवसर प्रदान किए गए हैं। परन्तु निर्धन न तो उम्मीदवार के रूप मे खडे होने का साहस कर सकता है और न ही मत देने मे रुचि रखता है। चुनाव के दिनों मे उम्मीदवार निर्धन और अशिक्षित

मतदाता को खरीदता है। जैसे- निर्धनों को कम्बल रजाइयाँ वितरण मादक पदार्थ वितरण मत के बदले नकद रुपया देने का प्रलोभन देना आदि। यही नहीं एक उम्मीदवार दूसरे उम्मीदवार को रुपया देकर चुनाव मैदान से अपना नाम वापिस लेने को राहमत करता है। इनके अतिरिक्त धमकी जालसाजी और अन्य गैरकानूनी कार्यवाहियों का सहारा भी चुनाव मे लिय जाने की सूचनाएँ मिलती रहती है।

चुनाव के दौरान भ्रष्ट व्यवहार

1 घूस देकर व्यक्ति विशेष उम्मीदवार के रूप मे खडा न हो।
2 मतदाता को घूस देना कि वह उम्मीदवार को वोट दे या न दे।
3 किसी व्यक्ति के स्वतत्र चुनाव अधिकार मे हस्तक्षेप करना।
4 धर्म जाति सम्प्रदाय भाषा या धार्मिक उपयोग या राष्ट्रीय प्रतीक के आधार पर अपील करना।
5 विभिन्न समुदायो के धर्म, जाति भाषा और सम्प्रदाय के आधार पर द्वेष पैदा करना।
6 झूठे विवरणो का प्रकाशन, किसी उम्मीदवार के चरित्र पर छीटाकशी।
7 मतदाताओ से प्रचार हेतु मुफ्त गाड़ियाँ प्राप्त करना।
8 उम्मीदवार द्वारा निश्चित व्यय राशि से अधिक व्यय करना।
9 मतदान केन्द्र पर कब्जा।

चुनावों से सम्बन्धित त्रुटियाँ और चुनाव सुधार सम्बन्धी विषय पर ससद और देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान गया है। उनका मानना है कि निर्वाचन आयोग अपने वर्तमान चुनाव कानूनों के अन्तर्गत इन कमियो को दूर करने मे असफल रहा है। इन कमियो का समाधान किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। अनेक पक्षो द्वारा चुनाव सुधारो के सम्बन्ध म सिफारिशें की गई हैं, जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. **तारकुंडे समिति की सिफारिशें**-यह समिति चुनाव सुधार के प्रश्न पर विचार करने के लिए जयप्रकाश नारायण ने सिटीजन और डेमोक्रेसी नामक सगठन की ओर से गठित की थी। इस समिति के अध्यक्ष श्री वी एम तारकुंडे थे उन्हीं के नाम से यह समिति तारकुंडे समिति कहलाई। समिति का प्रमुख कार्य स्वतत्र और निष्पक्ष चुनावों के मार्ग में आने वाली बाधाओं, जैसे- धन की सत्ता, सत्तारूढ दल द्वारा सरकारी साधनों एव प्रशासकीय तत्र का दुरुपयाग पर प्रतिबन्ध लगाने, निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता की व्यवस्था करने और चुनाव याचिकाओं की सुनवाई में होने वाले असाधारण विलम्ब को रोकने के लिए रीति-नीति की खोज करना था।

इस समिति के प्रमुख सुझाव निम्नलिखित थे-

(1) मताधिकार की आयु 21 वर्ष होनी चाहिए।

(2) आय के स्रोतों का उल्लेख तथा आय-व्यय का हिसाब लिखना सभी राजनीतिक दलों के लिए अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। निर्वाचन आयोग को उसकी जाच करानी चाहिए। उम्मीदवारों के व्यक्तिगत चुनाव-खर्च के हिसाब की जाच करानी

चाहिए। राजनीति दलो द्वारा उम्मीदवारों पर किए जाने वाले खर्च को उम्मीदवारो के खर्च मे जोड़ना चाहिए तथा चुनाव खर्च की वर्तमान सीमा [illegible] कर दिया जाना चाहिए।

(3) प्रत्येक उम्मीदवार को रारकार की ओर से छपे हुए मतदान फार्म निःशुल्क दिए जाने चाहिए तथा प्रत्येक मतदाता को कार्ड बिना टिकट लगाये डाक से भेजने की छूट दी जानी चाहिए। इराके अतिरिक्त प्रत्येक उम्मीदवार को अपने निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता के नाम 50 ग्राम तक प्रचार सामग्री निःशुल्क भेज सकने की छूट दी जानी चाहिए।

(4) लोकसभा और विधान राभा के विघटन और नये चुनावों की घोषणा के समय रो नई सरकार गठित होने तक वर्तमान रारकार को काम चलाऊ सरकार के रूप मे काम करना चाहिए। काम चलाऊ सरकार का नई नीतियो की घोषणा उन्हें लागू करना, नवीन परियोजनाओं को लागू करना उनका वायदा करना नवीन ऋण एव मतों की स्वीकृति वेतन वृद्धि आदि की घोषणा नही करनी चाहिए और न ही ऐरो सरकार रामारोह– जिरामें मत्री उपमत्री तथा ससदीय सचिव भाग लें– आयोजन करना चाहिए।

(5) जो लोग राजनीतिक दलो को वित्तीय वर्ष में एक हजार रुपये तक दान दे उन्हें इस राशि पर आय कर की छूट दी जानी चाहिए। कम्पनियो पर राजनीतिक दलों को दान देने हेतु प्रतिवन्ध लगना चाहिए। कम्पनियो द्वारा राजनीतिक दलो को विज्ञापन के रूप मे दी जाने वाली सहायता पर प्रतिबन्ध लगना चाहिए।

(6) चुनाव के दौरान मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को सरकारी खर्च पर यात्रा सरकारी सवारी और विमान का प्रयोग नही करनी चाहिए। उनकी सभाओं के लिए रारकारी विभाग द्वारा मच नहीं बनाया जाना चाहिए और न ही दौरो के समय सरकारी कर्मचारी तैनात किए जाने चाहिए।

(7) लोकराभा चुनाव के लिए उम्मीदवारो की जमानत राशि 500 से बढकर 2000 रुपये कर दी जानी चाहिए। इसी प्रकार विधानसभा के उम्मीदवारो के लिए 200 से बढ़ाकर 1000 रुपये कर दी जानी चाहिए।

(8) आकाशवाणी के राम्बन्ध मे चन्दा समिति का प्रतिवेदन क्रियान्वित किया जाना चाहिए तथा आकाशवाणी को निगम का रूप दिया जाना चाहिए। भारत मे बी.बी.सी की भाँति राजनीतिक दलो को चुनाव में प्राप्त मतो के अनुसार रेडियों और टेलिविजन पर प्रचार का रामय दिया जाना चाहिए।

(9) राज्यों मे निर्वाचन आयोग गठित किये जाने चाहिए। केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य होने चाहिए तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति व प्रधानमत्री की परामर्श पर नहीं वरन् तीन व्यक्तियों की एक समिति की सिफारिश पर करे। इस समिति में प्रधानमत्री सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा मे विरोधी दल का नेता अथवा उसका प्रतिनिधि होना चाहिए।

(10) निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए केन्द्र और राज्यो मे निर्वाचन परिषदें गठित की जानी चाहिए। परिषदो को निर्वाचन आयोग को परामर्श देने का कार्य

करना चाहिए। इन परिषदों में विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि होने चाहिए। इसके अतिरिक्त निर्वाचन के समय होने वाली बुराइयों पर निगरानी रखने के लिए तथा निर्वाचकों की निष्पक्षता की रक्षा हेतु "मतदाता परिषदें" भी गठित करनी चाहिए।

तारकुंडे समिति ने कई विवादास्पद विषयों पर स्पष्ट राय नहीं दी और न ही लोकसभा और विधानसभा के सदस्यों के वापसी या रिकॉल की मन्त्रिपरिषद् में आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं सूची प्रणाली को व्यावहारिक माना था।

2. अन्ना द्रमुक दल की सिफारिशें–अन्ना द्रमुक दल ने निर्वाचन पद्धति में सुधार हेतु निम्नलिखित प्रस्ताव रखे थे–

(1) मतदाताओं को रिकॉल का अधिकार दिया जाना चाहिए।
(2) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली लागू की जानी चाहिए।
(3) मताधिकार की आयु घटाकर 18 वर्ष कर दी जानी चाहिए।
(4) मतदाताओं को मतदान केन्द्र तक लाने ले जाने के लिए कारों या अन्य सवारियों के उपयोग पर पूरी तरह प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए।
(5) चुनावों से तीन महीने पहले सरकारों का कार्यकाल समाप्त कर देना चाहिए। इस बीच शासन की बागडोर राष्ट्रपति और राज्यपालों को सम्भालनी चाहिए।
(6) चुनाव के दौरान उम्मीदवारों द्वारा लगाए जाने वाले दीवार विज्ञापनों का पूरा खर्च सरकार को उठाना चाहिए।

3. कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रस्ताव–निर्वाचनपद्धति में सुधार के लिये कम्युनिस्ट पार्टी ने निम्नलिखित प्रस्ताव रखे थे–

(1) निर्वाचन प्रणाली में बुनियादी संशोधन किये जायें,
(2) देश में अनुपातिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत चुनाव प्रणाली लागू की जाय,
(3) निर्वाचन आयोग में तीन सदस्य हों
(4) आयोग के सदस्यों का चयन संसद अपने दो तिहाई बहुमत से करे,
(5) निर्वाचन आयोग में कोई भी सदस्य प्रशासकीय सेवाओं का सेवानिवृत्त कर्मचारी न हो।

4. संयुक्त सचिव समिति के सुझाव–सन् 1972 में संसद की एक संयुक्त सचिव समिति ने तीन प्रमुख सुझाव निम्नलिखित रूप से दिये थे–

(1) निर्वाचन प्रणाली में बुनियादी परिवर्तन हेतु एक विशेषज्ञ समिति गठित की जानी चाहिए।
(2) बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग का गठन किया जाना चाहिए।
(3) आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार के लिए समस्त राजनीतिक दलों को समान मात्रा में समय दिया जाना चाहिए।

5. आठ दलीय स्मरण-पत्र–22 अप्रैल 1975 को आठ राजनीतिक दलों की ओर से सरकार को एक संयुक्त स्मरण-पत्र दिया गया। इस स्मरण-पत्र में निर्वाचन पद्धति के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये गए थे–

(1) विशेषज्ञो की एक ऐसी समिति नियुक्त की जानी चाहिए जो वर्तमान निर्वाचन प्रणाली का ऐसा विकल्प खोजे जिससे जनता की इच्छा चुनाव प्रणाली में अधिक प्रामाणिकता के साथ प्रतिबिम्बित हो सके।

(2) मताधिकार की आयु 21 वर्ष के बजाय 18 वर्ष होनी चाहिए।

(3) आम चुनावो के बीच उठने वाले सार्वजनिक प्रश्नों पर सविधान में जनमत सग्रह की व्यवस्था होनी चाहिए।

(4) प्रतिनिधियो के रिकॉल का सिद्धान्त अच्छा है लेकिन एक सर्वदलीय समिति बनाकर उसे इस बारे मे सिफारिश करने का काम सौंपा जाना चाहिए।

(5) निर्वाचन आयोग बहुसदस्यीय होना चाहिए सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति तीन सदस्यों की चयन समिति की सिफारिश के आधार पर करे। इस चयन समिति मे प्रधानमत्री भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और विरोधी दल के नेता या प्रतिनिधि होने चाहिए।

(6) मुख्य निर्वाचन आयुक्त को राज्यो तथा क्षेत्रो के लिए स्थायी निर्वाचन आयुक्त नियुक्त करना चाहिए।

(7) चुनावी गडबडी सम्बन्धी शिकायतो की जाच के लिए केन्द्र और राज्यो में जनता के प्रतिनिधियों और प्रमुख निर्दलीय व्यक्तियों की निर्वाचन परिषदे कायम करनी चाहिए और उन्हे वैधानिक स्तर दिया जाना चाहिए।

(8) आकाशवाणी और दूरदर्शन को निकाय का रूप दिया जाना चाहिए और उन पर सभी राजनीतिक दलो को प्रचार के लिए समान अवसर दिया जाना चाहिए।

(9) देशभर में एक दिन मे ही चुनाव कराया जाय हर मतदान केन्द्र पर केवल एक मतपेटी होनी चाहिए और मतगणना केन्द्रवार होनी चाहिए।

शकधर के सुझाव–भूतपूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त श्यामलाल शकधर ने 9 जुलाई 1981 को देश की चुनाव व्यवस्था में दो आधारभूत परिवर्तन का सुझाव दिया था–

1 मतदाताओ को परिचय पत्र दिये जाएँ और

2 चुनावों का खर्च राज्य वहन करें ।

काफी विचार विमर्श के पश्चात् उक्त दोनो सुझाव वित्त मत्रालय को भेज दिए गए।

आर के त्रिवेदी का निष्कर्ष–सन् 1981-84 मे तत्कालीन मुख्य निर्वाचन आयुक्त श्री आर के त्रिवेदी ने चुनाव व्यवस्था की प्रमुख कमियों का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया था–

1 चुनावो मे धन की बढती हुई शक्ति
2 फर्जी मतदाता और
3 चुनावो मे बाहुबल की शक्ति का प्रयोग तथा मतदान केन्द्रो पर कब्जा।

ऊपर वर्णित सभी समितियो और दलो ने प्रथम निर्वाचन आयाग की एक सदस्यीय आयोग के स्थान पर बहु-सदस्यीय आयोग बनाने का सुझाव दिया है। द्वितीय मुख्य आयुक्त और अन्य आयुक्तो की नियुक्ति के लिए एक समिति गठित की जाय। ऐसा करने से इस पद पर कार्यरत व्यक्ति निष्पक्ष कार्य कर सकेगा। वर्तमान व्यवस्था मे राष्ट्रपति प्रधानमत्री के परामर्श से नियुक्ति करता है। मुख्य आयुक्त या आयुक्त का अपने नियुक्तिकर्ता का पक्ष लेना स्वाभाविक है।

हॉल मे, राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचक आयोग का बहुसदस्यीय बना दिया गया है। इसके अतिरिक्त मुख्य निर्वाचन आयुक्त के अन्य विभागा की भॉति अपने कर्मचारी नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए। चुनाव के दौरान जो केन्द या राज्य के कर्मचारी निर्वाचन कार्य मे लगाये जाये वो पूर्ण रूपेण निर्वाचन आयोग के निदेशन एव नियत्रण म कार्य करे। उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार भी निर्वाचन आयोग को होना चाहिए। निर्वाचन आयोग को चुनावो मे फर्जी मतदान भी रोकना चाहिए। इस हेतु निर्वाचन आयोग ने मतदाता परिचय-पत्र का प्रावधान किया था। परन्तु अद्यतन मतदाता सूचियो की भॉति परिचय-पत्र भी चुनाव से पूर्व मतदाता सूची मे जुडे नवीन मतदाता के बनाने चाहिए– इसका सख्ती से पालन किया जाना चाहिए, कि परिचय पत्र वाला व्यक्ति ही अपना मत दे, जाली मतदान को भ्रष्ट आचरण घोषित किया जाना चाहिए। निर्वाचन आयोग को ऐसी व्यवस्था भी मतदान के दिन करनी चाहिए कि मतदाता निडर होकर मतदान मे भाग ले सके और किसी प्रकार भी बाहुबल शक्ति का प्रयोग न हो। इसके लिए राज्यों मे पुलिस अर्द्ध सैनिक बल पर्याप्त सख्या मे तैनात किए जाने चाहिए। मतदान के पूर्व शराब की बिक्री पर पूर्णतया प्रतिबन्ध होना चाहिए।

मतदान के प्रति उदासीनता रोकने के लिए चुनाव मे भाग न लेन वाले मतदाता पर जुर्माना लगाया जाना चाहिए। यह व्यवस्था बेल्जियम नीदरलैण्ड आस्ट्रेलिया क्यूबा और आस्ट्रिया आदि देशो के मतदान मे भाग न लेने वाले व्यक्ति पर जुर्माना किया जाता है। इसे मनी फाइन प्लान कहा जाता है। भारत मे इससे मतदान का प्रतिशत बढेगा। उप चुनाव के सम्बन्ध म अतिम निर्णय लेने का अधिकार निर्वाचन आयोग का होना चाहिए न कि सत्तारूढ दल का। निर्वाचन आयाग से पद समाप्त होने पर आयुक्तो को भविष्य मे किसी भी लाभ के पद पर कार्य नहीं करना चाहिए। निर्वाचन आयोग मे सेवानिवृत्त प्रशासनिक अधिकारियो को स्थान न देकर वर्तमान या सेवानिवृत्त न्यायाधीशो की नियुक्ति की जानी चाहिए। निर्वाचन याचिकाओ पर निर्णय मे विलम्ब को रोकने के लिए निर्वाचन आयोग के तहत एक निष्पक्ष अभिकरण गठित करने का सुझाव भूतपूर्व निर्वाचन आयुक्त श्री आर के त्रिवेदी ने दिया था तथा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को किसी चुनाव परिणाम

की घोषणा होने के बाद उसे रद्द का अधिकार दिया जाय तो चुनाव मे होने वाली धाधलियो पर रोक लगाई जा सकेगी।' लोकतत्र मे विश्वास बनाये रखने के लिए चुनाव व्यवस्था को धनिक व्यवस्था बनाने से रोकना अति आवश्यक है। ससद और राज्य विधान सभाओ के चुनाव एक साथ होने चाहिए।

चुनाव सुधार

जन प्रतिनिधि सशोधन अधिनियम 1996 के चुनाव कानून मे पहली बार अगस्त 1996 से कुछ महत्त्वपूर्ण सशोधन लागू हुए हैं। वे निम्नलिखित है–

1 **राष्ट्रीय सम्मान को अपमान की रोकथाम सम्बन्धी अधिनियम, 1971 के तहत अपराधी पाए जाने पर अयोग्य घोषित करना**–इस अधिनियम की धारा 2 या धारा 3 के अन्तर्गत अपराधी पाए जाने वाले व्यक्ति को जिस दिन से वह अपराधी घोषित किया गया है उस तिथि से 6 वर्ष की अवधि के लिए ससद और राज्य विधानसभा का चुनाव लडने के अयोग्य समझा जायेगा।

2 **जमानत राशि और नाम प्रस्तावित करने वालों की सख्या में वृद्धि**–ससद तथा राज्य विधानसभा का चुनाव लडने के लिए उम्मीदवार को जो जमानत राशि जमा करानी पडती है उस बढा दिया गया है ताकि ऐसे उम्मीदवारो को चुनाव लडने से रोका जा सके जो चुनाव लडने के प्रति गम्भीर नहीं है। ससदीय चुनाव मे सामान्य उम्मीदवार के लिए जमानत राशि 500 रुपये से बढाकर 10 000 रुपये और अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवार के लिए 250 रपये से बढाकर 5000 रुपये कर दी गई है।

राज्य विधानसभा के चुनाव के लिए सामान्य वर्ग के उम्मीदवार को 5 000/– और अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति के लिये 2 500/– की धन राशि जमा करानी होगी। सशोधन कानून मे यह भी व्यवस्था की गई है कि जो उम्मीदवार किसी मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर के दल का नही होगा वह ससद या राज्य विधानसभा में नामजदगी के लिए नामाकन तभी दाखिल कर सकेगा जब उसके नाम का प्रस्ताव उस निर्वाचन क्षेत्र के कम से कम 10 मतदाताओ द्वारा किया जाए। किसी मान्यता प्राप्त दल के उम्मीदवार के लिए एक प्रस्ताव काफी है। नाम वापिस लेने और मतदान की तारीख के बीच न्यूनतम अवधि 20 दिन से घटाकर 14 दिन कर दी गई है।

3 **दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रो से चुनाव लड़ने का प्रतिबध**–कोई भी उम्मीदवार अब आम चुनाव अथवा उसके साथ-साथ होने वाले उपचुनाव मे दो से अधिक ससदीय अथवा विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रो से एक साथ चुनाव लडने का अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार का प्रतिबन्ध राज्य सभा और राज्य विधान सभा परिषदो के लिये होने वाल द्विवार्षिक चुनावो और उप-चुनावो के लिए भी लागू है।

4 **उम्मीदवारों के नामों की सूची**–उम्मीदवारो के नामो की सूचि तैयार करने के लिए उनका वर्गीकरण नीचे दिए गए तरीके के अनुसार किया जाय–

(क) मान्यता प्राप्त दलो के उम्मीदवार

(ख) पजीकृत गैर-मान्यता प्राप्त दल के उम्मीदवार

(ग) अन्य (निर्दलीय) उम्मीदवार।

चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों की सूची और मतपत्रों में इनके नाम ऊपर बताए क्रम के अनुसार प्रकाशित होंगे तथा प्रत्येक वर्ग मे नाम वर्णानुक्रम से रखे जायेंगे।

5 **उम्मीदवार की मृत्यु होने पर**–पहले किसी उम्मीदवार की मृत्यु हो जाने पर चुनाव रद्द कर दिया जाता था। भविष्य मे किसी उम्मीदवार की मृत्यु होने पर चुनाव रद्द नही होगा। यदि मृत उम्मीदवार किसी मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर के दल का होगा तो सम्बन्धित दल को यह छूट दी जायेगी कि इस सम्बन्ध मे निर्वाचन आयोग सम्बद्ध दल को इस आशय का नोटिस जारी किए जाने के एक सप्ताह के भीतर अपने किसी दूसरे उम्मीदवार को नामजद कर सकता है।

6 **मतदान केन्द्र के पास सशस्त्र जाने पर प्रतिबन्ध**–किसी भी प्रकार का हथियार लेकर मतदान केन्द्र के आस-पास जाना शस्त्र अधिनियम 1959 के तहत अब सज्ञेय जुर्म है। ऐसे मामलों म दो साल की सजा या जुर्माना अथवा दोनों हो सकता है। इस कानून का उल्लघन करने वाले के पास से मिले हथियार को भी जब्त कर लिया जाएगा और इस सम्बद्ध में जारी किया गया लाइसेंस भी रद्द कर दिया जायेगा। लेकिन ये व्यवस्थाए चुनाव अधिकारी, मतदान अधिकारी, किसी पुलिस अधिकारी या फिर ऐसी किसी व्यक्ति पर लागू नहीं होगी जिसे मतदान केन्द्र पर शाति व्यवस्था बनाये रखने के लिए नियुक्त किया गया है।

7 **मतदान के दिन कर्मचारियों को वेतन सहित अवकाश देना**– मतदान के दिन मत देने हेतु सभी कर्मचारियो चाहे सरकारी अर्द्धसरकारी या कम्पनी के हो उनको वेतन सहित अवकाश देने का प्रावधान किया गया है।

8 **शराब की बिक्री आदि पर प्रतिबन्ध**–मतदान क्षेत्र के पास स्थित किसी भी दुकान खाने-पीने के स्थान होटल अथवा किसी अन्य स्थान पर चाहे वह निजी हो या सार्वजनिक मे शराब या कोई अन्य नशीला पदार्थ बेचा या परोसा या बाटा नहीं जा सकता है। इस कानून का उल्लघन करने वाले किसी भी व्यक्ति को छ महीने की सजा या 2000/–का जुर्माना अथवा दोनो हो सकते हैं।

9 **उप चुनाव के लिए समय सीमा**–संसद या राज्य विधान सभा के किसी भी सदन में स्थान रिक्त होने पर अब छ महीने के भीतर उसे भरने के लिए उपचुनाव कराना होगा। यह व्यवस्था उस स्थिति मे लागू नहीं होगी जब उस सदस्य की सदस्यता अवधि केवल एक वर्ष रह गई हो जिसकी रिक्ति भरी जानी हो या फिर जहाँ निर्वाचन आयोग केन्द्र सरकार की सलाह से यह प्रमाणित करे कि निर्धारित अवधि मे उप चुनाव कराया जाना सम्भव नहीं है।

राष्ट्रपति ने 9 जून 1997 को एक अध्यादेश जारी किया जो राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति चुनाव (संशोधन) अध्यादेश 1997 कहलाता है। इसके द्वारा भारत के राष्ट्रपति का चुनाव लड़ने के लिए प्रस्तावक और प्रस्ताव का समर्थन करने वालों की संख्या 10

से बढाकर प्रत्येक के लिए 50 कर दी गई है। उपराष्ट्रपति का चुनाव लडने वालो के लिए प्रस्ताव और प्रस्तावक की सख्या 5 से बढाकर 20 कर दी गई है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का चुनाव लडने के लिए जमानत राशि भी 2500 से बढाकर 15000 रुपये कर दी गई हैं।

कुछ खास मतदाताओ द्वारा डाक द्वारा मतदान करने का प्रावधान करने के लिए जनप्रतिनिधि कानून 1951 की धारा 60 की उपधारा (ग) जोडने के सम्बन्ध मे सशोधन करने के लिए एक अध्यादेश जारी किया गया है। इस प्रावधान का उद्देश्य कश्मीर के विस्थापितो को बारहवी लोकसभा के आम चुनाव में मतदान के लिए सुविधा प्रदान करना था।

जन-प्रतिनिधि (सशोधन) अधिनियम 1987 के अन्तर्गत अरुणाचल प्रदेश मे 60 मे से 59 मेघालय में 60 मे से 55 मिजोरम मे 40 मे से 39 और नागालैण्ड मे 60 मे से 59 सीटें अनुसूचित जनजातियो के लिए सुरक्षित की गई है। चुनाव आयोग ने मेघालय में 55 नागालैड अरुणाचल मे 59–59 मिजोरम मे 39 सुरक्षित सीटे निर्धारित की हैं।

इलेक्ट्रॉनिक मतदान मशीनो द्वारा मतदान 15 मार्च 1999 से लागू किया गया है।

सदर्भ एव टिप्पणियॉ

1 भारतीय सविधान अनुच्छेद 324
2 भारतीय सविधान अनुच्छेद 324(1)
3 भारतीय सविधान अनुच्छेद 324(4)
4 एस एस शकधर इलेक्शन कमीशन ऑफ इडिया ऑर्गनाइजेशन एण्ड फकशन्स (नई दिल्ली निर्वाचन सदन 1982) अप्रकाशित
5 निर्वाचन आयोग के पत्र क्रमाक 511–2–85–5025 दिनाक 4 सितम्बर 1986
6 इडियन इक्सप्रेस 2 अक्टूबर 1993 पृ 1
7 इडियन एक्सप्रेस 2 अक्टूबर 1993
8 भारतीय सविधान अनुच्छेद 19 (1 ग)
9 राजस्थान पत्रिका, अप्रेल 26 1985 पृ 1
10 भारत वार्षिकी 2000 पृष्ठ 55

□□□

अध्याय–14
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

भारत मे, सविधान मे विषयो का बटवारा– केन्द्रीय सूची राज्य सूची और समवर्ती सूची के रूप मे किया गया है। आरम्भ म शिक्षा राज्य सूची का विषय था। आगे चल कर इसे समवर्ती सूची का विषय मान लिया गया। शिक्षा मे उच्चतर शिक्षा सस्थाओ शोध और अनुसधान, वैज्ञानिक आर तकनीकी शिक्षा सस्थाओ मे समन्वय ओर मानक निर्धारण जेसे विषय सघ सूची में है। अत केन्द्र सरकार इस हेतु उत्तरदायी है। चाहे शिक्षा विषय राज्य सूची मे हो या वर्तमान म समवर्ती सूची मे। केन्द्र सरकार उच्चतर शिक्षा मे समन्वय और मानक निर्धारण का उत्तरदायित्व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' द्वारा निर्वाह किया जाता है।

केन्द्र सरकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अतिरिक्त चार अन्य अभिकरणो की सहायता से विशिष्ट क्षेत्रों में अनुसन्धान प्रयासो को प्रोन्नत करने और उनमे समन्वय स्थापित करन का कार्य भी करती है जा निम्नानुसार हैं–

(1) भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्

(2) भारतीय ऐतिहासिक अनुसन्धान परिषद्

(3) भारतीय दर्शन अनुसधान परषिद और

(4) भारतीय एडवान्स्ड अध्ययन सस्थान।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में स्वतत्रता से पूर्व ब्रिटिश शासनकाल मे ही विश्वविद्यालयो मे समन्वय और शिक्षक स्तर के निर्धारण के लिए एक अखिल भारतीय सस्था की आवश्यकता अनुभव की गई थी। सन् 1924 म लन्दन में गठित यू जी सी समिति की भॉति अन्तर विश्वविद्यालय अनुदान बोर्ड के गठन का निर्णय कुलपतियो के सम्मेलन मे किया गया। अन्तर विश्वविद्यालय अनुदान बोर्ड तत्कालीन तीन विश्वविद्यालयों– कलकत्ता मद्रास और बम्बई (वर्तमान म मुम्बई) के लिए गठित किया गया। भारत म इस प्रकार के यह अखिल भारतीय निकाय की शिक्षा जगत में स्थापना का यह प्रथम प्रयास था। अन्तर विश्वविद्यालय आयोग उच्च शिक्षा की समस्याओ पर विचार करने का एक मच था।

इस दिशा म दूसरा कदम 1945 मे बनारस अलीगढ और दिल्ली विश्वविद्यालयों के लिये विश्वविद्यालय अनुदान समिति का गठन था। केन्द्रीय सलाहकार मडल की

सिफारिश पर 1945 में एक सार्जेन्ट उपसमिति नियुक्त की गई थी। इस उप समिति का प्रमुख कार्य भारत में युद्धोत्तर शिक्षा विकास पर प्रतिवेदन देना था। सार्जेण्ट समिति के सुझावों पर ही विश्वविद्यालय अनुदान समिति का गठन किया गया था। सन 1946 और 1947 में स्थापित भारत के अन्य विश्वविद्यालयों को भी विश्वविद्यालय अनुदान समिति के क्षेत्राधिकार मे रखा गया। विश्वविद्यालय अनुदान समिति केवल सिफारिश करने वाला निकाय था। क्योंकि इस समिति को विश्वविद्यालयों को धन राशि बाटने की शक्ति और अनुदान देने की सत्ता नहीं थी।

इस दिशा में तीसरा कदम भारत सरकार के 3 नवम्बर, 1952 के प्रस्ताव द्वारा 1953 में अन्तरिम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन था। यह वह समय था जब भारत के सम्मुख समस्या थी कि भारतीय विश्वविद्यालयों पर नियन्त्रण के लिए एक आयोग गठित किया जाए या दो आयोग स्थापित किये जाए। अगर राधाकृष्णन आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करते है तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को अनुदान वितरण का कार्य सौंपा जाएगा तथा उच्च शिक्षा में समन्वय और स्तर निर्धारण हेतु एक अन्य आयोग स्थापित करना पडेगा। विश्वविद्यालयों को अनुदान वितरण और उच्च शिक्षा में समन्वय और स्तर निर्धारण दोनों कार्यों के लिए केन्द्र सरकार ही उत्तरदायी है।

स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारत में विश्वविद्यालयों के लिये दो केन्द्रीय संस्थाओं की स्थापना का विचार था। प्रथम 1949 में गठित राधाकृष्णन समिति की सिफारिशों के आधार पर विश्वविद्यालय अनुदान आवटन के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन करना। द्वितीय 1951 में भारत सरकार ने ससद में एक विधेयक "सेन्ट्रल कौंसिल ऑफ यूनिवर्सिटी एज्यूकेशन' प्रस्तुत किया गया।[1] वह केवल उच्च शिक्षा समन्वय और स्तर निर्धारण से सम्बन्धित था। उसमें अनुदान विश्वविद्यालयों को देने का उल्लेख नहीं किया गया था। इस विधेयक का राज्यों और तत्कालीन अन्तर विश्वविद्यालय बोर्ड ने विरोध किया। इसके बाद अप्रेल 1953 में इस विषय के विचारार्थ भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय द्वारा कुलपतियों का एक सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में सर्व समिति से यह सिफारिश की गई कि भारत में ब्रिटिश विश्वविद्यालय अनुदान समिति के मॉडल पर एक सस्था अनुदान आबटन, उच्च शिक्षा निर्धारण और स्तर हेतु स्थापित की जाय।[2] इस सम्मेलन की सिफारिश को मानते हुए भारत सरकार ने 1951 के विधेयक को रद कर दिया। उसके स्थान पर एक नया विधेयक ससद के समक्ष 1954 में रखा गया। इस विधेयक को प्रवर समिति में विचारार्थ रखा गया। प्रवर समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर ससद ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1956 पारित किया।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1956 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना का चोथा और अतिम कदम है। वर्तमान विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन इसी अधिनियम के अन्तर्गत किया गया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

अधिनियम 1956 को 1972 में संशोधित किया गया। संशोधित अधिनियम 1972 द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की शक्तियों में वृद्धि हुई। सन् 1976 में 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा शिक्षा को राज्य सूची के स्थान पर समवर्ती सूची में रखा गया। इस परिवर्तन ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं किया परन्तु व्यवहार में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्यों में वृद्धि कर दी गई है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग : संरचना

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एक वैधानिक निकाय है। इसकी स्थापना संसद द्वारा बना कर की गई है। भारत में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का उद्‌घाटन 28 दिसम्बर 1953 में मौलाना अब्दुल कलाम आजाद द्वारा किया गया था। उस समय यह अन्तरिम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग कहलाता था। आयोग में पूर्णकालिक अध्यक्ष और पांच सदस्यों का प्रावधान था। पांच सदस्यों में से तीन सदस्य गैर सरकारी और दो सदस्य सरकारी विभागों के प्रतिनिधि थे। इसके प्रथम अध्यक्ष डा शांति स्वरूप भटनागर थे जो उन दिनों भारत सरकार में प्राकृतिक अनुसंधान और वैज्ञानिक शोध मन्त्रालय के सचिव भी थे।[1]

सन् 1956 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग वैधानिक रूप में गठित किया गया। इस अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में एक अध्यक्ष और आठ सदस्यों की नियुक्ति की गई। आठ सदस्यों में से तीन सदस्य कुलपतियों में से दो सदस्य केन्द्र सरकार के अधिकारियों में से तथा 3 सदस्य ख्याति प्राप्त शिक्षकों में से नियुक्त करने का प्रावधान रखा गया था। अध्यक्ष का पदपूर्ण कालिक था। इस पद पर आसीन व्यक्ति वेतनभोगी था। इसके साथ अधिनियम में अध्यक्ष पद हेतु यह शर्त जुड़ी है कि वह केन्द्र या राज्य सरकार का कोई अधिकारी नहीं होना चाहिए। अन्तरिम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और 1956 के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की संरचना में निम्नलिखित अंतर स्पष्ट दिखाई देते हैं –

1. अंतरिम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का अध्यक्ष एक सरकारी व्यक्ति (सचिव) था। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 1956 का अध्यक्ष गैर सरकारी व्यक्ति है।
2. दोनों की सदस्य संख्या में अंतर है। पहले में पाँच और अंतिम में आठ सदस्य हैं।
3. सन् 1956 के विश्वविद्यालय आयोग में नियुक्ति प्राप्त करने वालों का क्षेत्र निश्चित है। जबकि अन्तरिम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में ऐसा न था।

सन् 1956 का विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 1972 में संशोधित किया गया। इस संशोधित अधिनियम का विश्वविद्यालय की संरचना पर प्रभाव पड़ा। आयोग की कुल

सदस्य संख्या अध्यक्ष सहित बारह कर दी गई। सन 1972 के संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत *विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की संरचना निम्नांकित है –*

अध्यक्ष	–	1
उपाध्यक्ष	–	1
सदस्य	–	10
2 सरकारी प्रतिनिधि 4 विश्वविद्यालय शिक्षक		
4 कुलपति कृषि वाणिज्य तथा वनज्ञानी		
अभियान्त्रिकी कानून मेडिकल		
अन्य व्यवसायिक योग्यता वाला		
कुल	–	12

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष उपाध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल भी निश्चित किया गया। अध्यक्ष का कार्यकाल पाच वर्ष है। उपाध्यक्ष और सदस्यो का *कार्यकाल तीन वर्ष है। कोई भी पदाधिकारी अध्यक्ष उपाध्यक्ष और सदस्य अपने पद पर* दो कालावधि से अधिक तक नही रह सकता है। संशोधित अधिनियम 1972 की धारा 5 उपधारा (2) के अनुसार अध्यक्ष पद की नियुक्ति हेतु निम्न प्रावधान हैं–

केन्द्र सरकार द्वारा ऐसे व्यक्ति को अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया जायेगा जो केन्द्र या राज्य सरकार का अधिकारी न हो। उपाध्यक्ष पद हेतु अधिनियम मे कार्यकाल की सीमा के अतिरिक्त कोई प्रावधान नही है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अन्य सदस्यों की नियुक्ति हेतु भिन्न-भिन्न *प्रावधान 1972 के अधिनियम की धारा 5 उपधारा (3) मे रखे गये हैं।*

दस सदस्यों मे से 2 सदस्य सरकारी प्रतिनिधि है। दोनों सदस्य किसी भी विभाग के सरकारी प्रतिनिधि हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वह शिक्षा एव वित्त मत्रालय का प्रतिनिधित्व ही करें। शेष आठ सदस्यो में से कम से कम चार सदस्य *विश्वविद्यालय शिक्षक होते हैं। इस संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत शिक्षाविदों को* अधिक महत्त्व दिया गया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 1972 की धारा 5 उपधारा (3) में कुलपतियों की नियुक्ति *ख्याति प्राप्त शिक्षाविदों में से की जाती है। क्योंकि शेष चार सदस्यों को इसी* श्रेणी में से नियुक्त करने का प्रावधान है। इन चारों सदस्यों को तीन श्रेणियों में से नियुक्त किया जाता है।

प्रथम श्रेणी में कृषि वाणिज्य तथा वन का ज्ञान रखने वालो में से

द्वितीय श्रेणी मे अभियान्त्रिकी कानून मेडीकल तथा अन्य विशेष योग्यता वाले व्यवसाय में से और

तीसरी श्रेणी मे ख्याति प्राप्त शिक्षाविदों में से है।

सन् 1972 के संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत की गई विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सरचना म व्याप्त त्रुटियो की तीव्र आलोचना की गई है। सरचना की प्रमुख त्रुटिया निम्न प्रकार से दर्शाइ गईं हैं –

1 शिक्षाविदों का प्रतिनिधित्व अधिक है। चार शिक्षक 1 कुलपति तथा 1 शिक्षाविद को मिला दिया जाय तो आयाग में शिक्षाविदो की सख्या 10 मे से 6 हो जाती है।
2 शिक्षा से सम्बन्धित सभी हितो का प्रतिनिधित्व समान नहीं हो।
3 अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के कार्यकाल मे असमानता है। उपाध्यक्ष का कार्यकाल अन्य सदस्यो के समान है।
4 आयोग मे सभी पद नियुक्ति केन्द्र सरकार करती है। अत वह स्वतत्र सस्था न होकर एक सरकारी सस्था दिखाई देती है और अपने नियुक्तिकर्त्ता के आदेशानुसार कार्य करती है।
5 आयोग के सदस्य के बीच कार्य बटवारे हेतु कोई नियम नहीं है।
6 आयोग के सदस्यो की स्थिति अध्यक्ष उपाध्यक्ष की भाँति पूर्णकालिक नहीं है। इस स्थिति को देखते हुए ससद की लोक लेखा समिति ने कहा था कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग केवल दो पूर्णकालिक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के भरोसे उच्च शिक्षा मे समन्वय और स्तर निर्धारण का कार्य करता है।

आयोग की उक्त त्रुटियो को दूर करने के लिए भारत सरकार ने पुनर्निरीक्षण समिति गठित की थी। पुनर्निरीक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन 1977 म कई सुझाव दिये थे जिससे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की कार्य क्षमता बढायी जा सकती है। जैसे–(1) आयोग की सदस्यता बढाकर अध्यक्ष उपाध्यक्ष सहित अठारह कर दी जानी चाहिए। समिति ने अतिरिक्त सदस्यों का प्रतिनिधित्व इस प्रकार रखने का सुझाव दिया–

(क) दो सदस्य कॉलेज शिक्षका म स
(ख) एक सदस्य माध्यमिक शिक्षा क्षेत्र स
(ग) एक सदस्य ग्रामीण उच्च शिक्षा विशेषज्ञ
(घ) एक सदस्य अनौपचारिक शिक्षा और
(च) योजना आयोग का सचिव विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का पदेन सदस्य हो।" पुनर्निरीक्षण समिति 1977 क प्रतिवेदन पर कोई निर्णय नहीं लिया गया।

विश्वविद्यालय अनुदान आयाग अधिनियम का 1984 मे पुन सशोधित किया गया।" इस अधिनियम द्वारा आयोग म सदस्य सख्या अध्यक्ष उपाध्यक्ष सहित बारह ही रखी गई है। अध्यक्ष उपाध्यक्ष और 10 अन्य सदस्य आयोग की बैठको मे भाग लेते हैं। दो सरकारी प्रतिनिधि– वित्त सचिव और मानव ससाधन विकास मत्रालय सचिव इसमे

पदेन सदस्य होंगे। शेष मे से चार से कम सदस्य विश्वविद्यालय शिक्षाविद नियुक्ति के समय होने चाहिये। इसके बाद शेष सदस्यों की नियुक्ति– (1) कृषि वाणिज्य वन ज्ञान और उद्यम के क्षेत्र से (2) अभियान्त्रिकी कानून मेडीकल और अन्य व्यवसायिक ज्ञान के क्षेत्र से (3) विश्वविद्यालय के कुलपति न कि विश्वविद्यालय के शिक्षाविद या ख्याति प्राप्त व्यक्ति।

सभी सदस्यों की नियुक्ति मानव ससाधन विकास मत्रालय द्वारा की जाती है। *अध्यक्ष का कार्यकाल पाच वर्ष है। उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष* है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की बैठक माह मे एक बार विभिन्न विषयों पर विचार विमर्श महाविद्यालय विकास योजनाओं शोध प्रयोजनाओं, वित्तीय और प्रशासनिक विषयों पर विचार-विमर्श हेतु आयोजित की जाती है तथा नीति सम्बन्धी निर्णय बैठक मे लिए जाते हैं। नीति निर्णयों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व सम्बन्धित डिविजनों का है जो अध्यक्ष उपाध्यक्ष और सचिव की अध्यक्षता मे कार्य करते हैं। सामान्यत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग शैक्षणिक विषयो को निर्णय से पूर्व विशेषज्ञ समितियों के सुपुर्द करता है। आयोग विशेषज्ञ समितियो के सुझावो के आधार पर निर्णय लेता है। कार्य सुविधा हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के निम्नलिखित क्षेत्रीय कार्यालय हैं[8]–

क्र स	क्षेत्रीय कार्यालय का नाम	स्थान	राज्य
1	दक्षिणी क्षेत्रीय कार्यालय (एस आर ओ)	हैदराबाद	आन्ध्र प्रदेश पाडीचेरी अण्डमान और निकोबार तमिलनाडु
2	पश्चिमी क्षेत्रीय कार्यालय (डब्ल्यू आर ओ)	पूना	महाराष्ट्र गुजरात, गोवा दादर और नागर हवेली डमन और डयू
3	केन्द्रीय क्षेत्रीय कार्यालय (सी आर ओ)	भोपाल	मध्य प्रदेश राजस्थान
4	उत्तरी क्षेत्रीय कार्यालय (एन आर ओ)	गाजियाबाद	जम्मू और काश्मीर हिमाचल प्रदेश पजाब चडीगढ हरियाणा उत्तर प्रदेश
5	उत्तरी पूर्वी क्षेत्रीय कार्यालय (एन ई आर ओ)	गुहाटी	असम मेघालय मिजोरम मनीपुर त्रिपुरा अरुणाचल प्रदेश नागालैंड
6	पूर्वी क्षेत्रीय कार्यालय (ई आर ओ)	कलकत्ता	पश्चिमी बगाल बिहार उडीसा और सिक्किम
7	दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्रीय कार्यालय (एस डब्ल्यू आर ओ)	बैंगलोर	केरल, कर्नाटक और लक्षद्वीप।

शिक्षा की राष्ट्रीय नीति के अन्तर्गत 1986 में विश्व विद्यालय अनुदान आयोग के कार्यों को सात क्षेत्रीय कार्यालयों में विकेन्द्रित किया गया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग संरचना

(1984 संशोधित अधिनियम के अनुसार दिनांक 20.6.2001 को)

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग संरचना
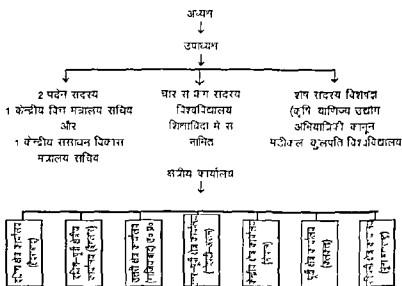
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्य

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1956 के अध्याय 3 की धारा 12 में आयोग के कार्यों का वर्णन किया गया है कि आयोग के प्रमुख कार्यों में प्रथम विश्वविद्यालय शिक्षा का विकास एवं समन्वय, द्वितीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा, परीक्षा और अनुसन्धान के सामान्य स्तर को बनाए रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही करना है। आयोग अधिनियम की इसी धारा में आगे लिखा है कि इन दोनों कार्यों को करने के लिए आयोग को निम्न लिखित कार्य करने हैं–

1. **आयोग कोष से विश्वविद्यालयों को अनुदान राशि का आवंटन**–विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम में वर्णित इस कार्य के लिए आयोग कई प्रकार के अनुदानों का आवंटन करता है –

(क) निर्वाह एवं विकास अथवा किसी विशिष्ट या सामान्य उद्देश्य के लिए सभी केन्द्रीय और राज्य विश्वविद्यालय आयोग से इस प्रकार की सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

(ख) पूर्ण निर्वाह सहायता केवल केन्द्रीय विश्वविद्यालय ही प्राप्त करने के हकदार हैं। विश्वविद्यालय स्तर का दर्जा प्राप्त संस्थानों को भी आयोग अनुदान की

सहायता देता है। यह सहायता विश्वविद्यालय म शाध प्रायाजनाओं और विकास हतु दी जाती है।

(ग) आयाग अपने कोष म स विश्वविद्यालय की तरह मान्य घाषित (डीम्ड यूनिवर्सिटी) की गई संस्था के विकास के लिये या किसी भी सामान्य या विशिष्ट उद्दश्य के लिये अनुदान द सकता है।

2 *विश्वविद्यालय निरीक्षण–आयाग दश क किसी भी विश्वविद्यालय के शैक्षणिक परीक्षा सम्बन्धी तथा अनुसधान स्तर की जानकारी के लिए उस विश्वविद्यालय की सहमति स निरीक्षण कर सकता है। निरीक्षण की पूर्व सूचना आयाग उस विश्वविद्यालय का प्रषित करता है कि वह किन विषयों का निरीक्षण करगा।* निरीक्षण के उपरान्त आयोग अपना प्रतिवेदन तैयार करता है। उसकी प्रतिलिपि सुझावों सहित उस विश्वविद्यालय को भज दता है। उस विश्वविद्यालय का सुझावों की क्रियान्वति के निर्देश भी दे सकता है।

3 अनुदान पर रोक–अगर काई विश्वविद्यालय आयाग के सुझावों निर्देशों की पालना नहीं करता है, तो आयाग उस विश्वविद्यालय का कारण बताओ नाटिस जारी करता है। तदुपरान्त उसका अनुदान राक सकता है।'

4 सूचना सकलन–आयाग दश-विदश क विश्वविद्यालया से शिक्षा तथा अन्य सम्बन्ध विषया के बार म आकडे एकत्रित कर सकता है जिन्हे वह उचित समझता है।

5 विश्वविद्यालयों को परामर्श–आयाग की सिफारिश केवल विश्वविद्यालय तक ही सीमित हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयाग के परामर्शदात्री कार्य व्यापक हैं। आयाग केन्द्र सरकार राज्य सरकारा केन्द्रीय विश्वविद्यालय राज्य विश्वविद्यालय तथा अन्य उच्च स्तररिय शैक्षणिक संस्थाआ को परामर्श दता है। आयोग विश्वविद्यालयों द्वारा परामर्श माँगने पर ही देता है।

आयाग परामर्श निम्न विषया पर देता है–

1 भारत की सचित निधि मे स विश्वविद्यालयों का सामान्य या विशिष्ट उद्दश्य हतु अनुदान सहायता का आवटन
2 नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए राज्य सरकारो का सहायता
3 विश्वविद्यालयों क कार्यक्रमा में विस्तार क लिए
4 केन्द्र सरकार या राज्य सरकार अथवा किसी भी विश्वविद्यालय द्वारा यदि कोई प्रश्न जानकारी या राय की माग की जाय ता सम्बन्धित सत्ता को उसका प्रति उत्तर देता है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयाग सघ सूची क माध्यम स आयाग अधिनियम 1956 में वर्णित जिम्मेदारी का निर्वाह करता है। आयोग की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भूमिका का वर्णन करन स पूर्व उसकी सीमाओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सीमाएँ

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अन्तर्गत सम्बद्ध विश्वविद्यालय एकात्मक विश्वविद्यालय और शिक्षण विश्वविद्यालय मान्य घोषित (डीम्ड)-विश्वविद्यालय– जिनका राष्ट्रीय महत्त्व है, जैसे इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी किसी विश्वविद्यालय को संसदीय अधिनियम द्वारा ही मान्य घोषित किया गया हो। यह संस्थान विकास सहायता विश्वविद्यालय अनुदान केयर से प्राप्त करते हैं। पूर्णरूपेण सम्बद्ध विश्वविद्यालय राजस्थान मे हैं।

सभी राज्य विश्वविद्यालय (कृषि विश्वविद्यालय को छोडकर) सभी मान्य घोषित विश्व विद्यालय।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अनुदान स्वीकृति करता है–

(1) विश्वविद्यालय विकास के लिए

(2) महाविद्यालय विकास के लिए

(3) शिक्षा का स्तर सुधार सम्बन्धी परियोजनाओ के लिए और

(4) विभिन्न स्कीमो के लिये।

केन्द्र सरकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को राशि देती है। आयोग उसे विश्व विद्यालयों में आवंटित करता है। आयोग विश्वविद्यालयों को सरकार से प्राप्त राशि मे से अनुदान आवटन हेतु स्वायत्त है। आयोग, राज्य सरकार और राज्य विश्वविद्यालय के आपसी सम्बंध अति जटिल हैं। सभी विश्वविद्यालयो केन्द्रीय और मान्य घोषित को छोडकर विभिन्न विधानमण्डलो द्वारा अधिनियमों से स्थापित की जाती है। सन् 1964 मे सप्रू समिति ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम मे राज्यों के विश्वविद्यालय सदर्भ मे संशोधन की सिफारिश की थी कि राज्य को विश्वविद्यालय की स्थापना से पूर्व आयोग से परामर्श करना चाहिये। परन्तु राज्य सरकारें बिना आयोग की परामर्श के राज्य में विश्वविद्यालय स्थापित कर रही है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका

अधिनियम मे वर्णित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्यों एव सीमाओ के आधार पर आयोग की भूमिका निम्न प्रकार है–

(1) आयोग उच्च शिक्षा के लिये शीर्षस्थ एव केन्द्रीय निकाय है। आयोग केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय की भुजा एव विशेषज्ञ परामर्शदात्री निकाय है। आयोग उच्च शिक्षा के मानक, स्तर निर्धारण एव समन्वय हेतु कई कार्य करता है जैसे– विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम की सरचना मे परिवर्तन, इस कार्य के लिए विशेषज्ञो का पैनल तैयार करना विशेषज्ञ समितियों का गठन करना, उच्चतर और विशिष्ट अध्ययन केन्द्रो की स्थापना चयनित विभागों हेतु विशेष सहायता कार्यक्रम चलाना शोध को प्रोत्साहन देना परीक्षा

प्रणाली में सुधार प्रस्तावित करना विश्वविद्यालय स्तर की पुस्तके तैयार करवाना पुस्तकालय सुविधा का विश्वविद्यालय / महाविद्यालय मे विकास करना।

आयोग उक्त सभी कार्य उच्च शिक्षा में समन्वय एव मानक निर्धारण के लिये करता है।

(2) आयोग की दूसरी महत्त्वपूर्ण भूमिका विश्वविद्यालय का विकास करना है। आयोग उच्च शिक्षा के विकास के लिए विभिन्न विषयो जिनका सम्बन्ध विज्ञान कला सामाजिक ज्ञान, पर्यावरण अध्ययन अभियान्त्रिकी प्रौद्योगिकी क्षेत्र से है के लिये अनुदान एव सहायता प्रदान करता है।

(3) आयोग की तीसरी महत्त्वपूर्ण भूमिका शिक्षकों का विकास है। विश्वविद्यालय एव महाविद्यालय के शिक्षकों की उच्च शिक्षा के क्षेत्र मे अह भूमिका है। इस भूमिका के निर्वाह हेतु शिक्षकों का शैक्षणिक विकास जरूरी है। शिक्षकों के शैक्षिणिक विकास के लिए आयोग सगोष्ठी परिचर्या, ग्रीष्मकालीन वर्कशाप एव पाठ्यक्रम सम्मेलनों के आयोजन के लिए अनुदान उपलब्ध करवाता है। आयोग शिक्षक आवास-गृहों का निर्माण करवाता है। अनुभवी और ख्याति प्राप्त सेवानिवृत्त शिक्षकों के लिये योजनाएँ बनाता है। आयोग समस्त कार्यक्रमो के माध्यम से विश्वविद्यालय / महाविद्यालयो के शैक्षिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करता है ताकि शिक्षक भावी विद्यार्थियों के उच्च शिक्षा स्तर को बढाने में अपना पूर्ण योगदान दे सकें।

(4) आयोग की चौथी महत्त्वपूर्ण भूमिका विधार्थियो से सम्बन्धित है। उच्च शिक्षा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो के लिये शोध छात्रवृत्तिया फैलोशिप कला विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान सभी क्षेत्रों के अध्ययन और अध्यापन के लिए प्रदान करता है। आयोग विकलाग विद्यार्थियों की उच्च शिक्षा प्राप्ति मे विशेष सहायता करता है। इसके अलावा विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालयों मे कैण्टीन निर्माण के लिये सहायता करता है।

(5) आयोग की पाचवी महत्त्वपूर्ण भूमिका महाविद्यालय और मान्य घोषित सस्थाओ का विकास करना है। आयोग स्नातक और स्नातकोत्तर विकास के लिए महाविद्यालयों और स्वायत्तशासी महाविद्यालयों के विकास के लिए सहायता देता है। आयोग मान्य घोषित विश्वविद्यालयो को भी विकास के लिए सहायता प्रदान करता है जैसे-- राजस्थान मे वनस्थली विद्यापीठ राजस्थान विद्यापीठ जैन विश्व-भारती पिलानी का वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी सस्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानो पर सचालित सभी आई आई टी सस्थान।

(6) आयोग की छठी महत्त्वपूर्ण भूमिका महिलाओं अनुसूचित जाति तथा जनजातियों को उच्च शिक्षा हेतु प्रोत्साहित करना है। आयोग देशभर के सभी विश्वविद्यालयों को महिला अनुसूचित जाति तथा जनजाति उच्च शिक्षा के लिये सभी प्रकार की सहायता सहयोग और सुविधाएँ मुहैया कराता है।

(7) आयोग की सातवी महत्त्वपूर्ण भूमिका सांस्कृतिक आदान-प्रदान एव अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्रदान करना है। इसके लिए आयोग विभिन्न देशों के बीच संयुक्त सगोष्ठियाँ यात्राएँ फेलोशिप आदि का आदान-प्रदान करता है। इसके लिए आयोग यूनेस्को स भी सम्पर्क बनाये रखता है। यूनेस्को एक अन्तरराष्ट्रीय सगठन है।

(8) आयोग की आठवी महत्त्वपूर्ण भूमिका पत्राचार पाठ्यक्रम प्रौढ तथा सतत् शिक्षा के विकास से सम्बन्धित है। जो विद्यार्थी विश्वविद्यालयो मे निरन्तर अपनी उच्च शिक्षा नही प्राप्त कर सकते है उनके लिए पत्राचार पाठ्यक्रमो को चलाने के लिए आयोग सहायता देता है। इसके अलावा प्रौढ शिक्षा और सतत् शिक्षा कार्यक्रमो के लिए भी आयोग सहायता प्रदान करता है।

आयोग और विश्वविद्यालय सम्बन्ध

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विश्वविद्यालय दोनो ही पृथक्-पृथक् संस्थाएँ है। दोनो का गठन व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमो द्वारा किया जाता है। दोनों ही वैधानिक एव स्वायत्त संस्थाएँ है। दोनो के कार्य भी पृथक्-पृथक् है। अत दोनो का आपस म कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। लेकिन कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहा दोनो संस्थाओ को सहयोगी के रूप मे कार्य करना पडता है। इन्ही क्षेत्रो मे दोनो संस्थाओं के सम्बन्धो का परीक्षण किया जा सकता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम की धारा 12 और 13 तथा धारा 25 और 26 में इन दोनों संस्थानों के सम्बन्धो पर प्रकाश डाला गया है।

आयोग और विश्वविद्यालयो के बीच के सम्बधो को दो व्यक्तियो के बीच का सम्बन्ध मान कर अध्ययन किया जा सकता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एक ऐसी संस्था है जो विश्वविद्यालयों को अनुदान देकर सहायता करता है। दूसरी ओर विश्वविद्यालय इस अनुदान सहायता को प्राप्त करता है। इस प्रकार विश्वविद्यालयो को अनुदान सहायता प्रदान करने वाला आयोग ही बन गया है और विश्वविद्यालय को समय-समय पर निर्देश जारी करता है। आयोग अधिनियम की धारा 25 व 26 स स्पष्ट हो गया है कि आयोग विश्वविद्यालय के कार्यो की जाच करता है तथा उनस महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त करता है। अगर कोई विश्वविद्यालय आयोग के सुझावो के अनुसार कार्य नहीं करता है। तो आयोग उस नोटिस देकर उसका अनुदान रोक सकता है। अनुदान प्राप्तकर्ता विश्व विद्यालय का स्थान उसके नीचे है न कि बराबर। ऐसी स्थिति मे विश्वविद्यालय-विश्व विद्यालय अनुदान आयोग की अधीनस्थ संस्था हो जाती है।

आयोग द्वारा विश्वविद्यालय सचालन के लिये जो नियम और विनियम बनाए जाते है। वह विश्वविद्यालय म स्वय प्रभावी नहीं होते हैं। विश्वविद्यालय उन नियमों को सिण्डीकेट मे प्रस्ताव रखकर पारित करती है तभी प्रभावी होते है। व्यवहार में दोनो होने

के कारण आयोग की स्थिति विश्वविद्यालयों की स्थिति से ऊपर एव समन्वयकारी है। आयोग विश्वविद्यालयों को निर्देश जारी करने की स्थिति म है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और केन्द्र सरकार के बीच सम्बन्ध

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ससद द्वारा पारित अधिनियम के अन्तर्गत वैधानिक सस्था है। *केन्द्र सरकार से आयोग के सम्बन्धों का वर्णन विश्वविद्यालय अनुदान* आयोग अधिनियम में स्पष्ट किया गया है। आयोग के अध्यक्ष उपाध्यक्ष और सदस्यो की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा किए जाने का प्रावधान आयोग अधिनियम 1956 सशोधित 1974 1986 म किया गया है। आयोग अपने कर्मचारियो और सचिवो की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा निर्मित कानूनों के अन्तर्गत कर सकता है। यह व्यवस्था आयोग अधिनियम 1956 की धारा 10 मे वर्णित है। *आयोग अपने अधीन सचिवालय कर्मचारियों की नियुक्ति* करने के लिए स्वतत्र है। परन्तु इस स्वतत्रता का उपयोग आयोग केन्द्र द्वारा निर्मित कानूनों के अन्तर्गत ही करता है। स्पष्ट है नियुक्ति के सम्बन्ध में आयोग केन्द्र सरकार पर निर्भर है।[6]

आयोग अधिनियम की धारा 20 में कहा गया है कि उच्च शिक्षा से सम्बन्धित नीति सम्बन्धी मामलों में आयोग को केन्द्र सरकार निर्देश देगी। आयोग अधिनियम म यह भी स्पष्ट वर्णित है अगर नीति सम्बन्धी किसी मामले मे आयोग और केन्द्र सरकार में मतभेद है तो केन्द्र सरकार का निर्णय ही मान्य होगा। आयोग अधिनियम की धारा 25 व 26 केन्द्र सरकार को अधिनियम के उद्देश्यो की पूर्ति हेतु नियम और विनियम बनाने के लिए अधिकृत करती है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन सविधान में वर्णित *उच्च शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति के लिये केन्द्र सरकार द्वारा किया गया है। आयोग केन्द्र* सरकार के अभिकरण के रूप मे कार्य करता है। यह केन्द्र सरकार की भुजा है। आयोग केन्द्र सरकार द्वारा दिए गए निर्देशानुसार कार्य करने के लिए बाध्य है।

आयोग अधिनियम मे यह स्पष्ट वर्णित है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रति वर्ष अपने कार्य निष्पादन का प्रतिवेदन केन्द्र सरकार को देगा जिसे केन्द्र सरकार ससद के दोनो सदनो में प्रस्तुत करेगी।

आयोग अधिनियम म यह भी है कि आयोग द्वारा कार्य निष्पादन हेतु आवश्यक धन राशि ससद द्वारा पारित किए जाने पर ही केन्द्र सरकार देगी। आयोग अपना वार्षिक बजट हर साल वित्तीय वर्ष आरम्भ होने से पूर्व बना कर केन्द्र सरकार को देगा। आयोग अपने व्यय का लेखा रखेगा तथा व्यय का अकेक्षण नियत्रक और महालेखा परीक्षक द्वारा किया जायेगा।

अधिनियम मे वर्णित धाराओ स विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि आयोग एक स्वायत सस्था न हाकर एक केन्द्रीय विभाग है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 रिपोर्ट ऑन द यू जी कमेटी ऑन यू जी सी शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार दिल्ली 1977 पृ स 4
2 रिपोर्ट ऑन द यू जी कमेटी ऑन यू जी सी शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार दिल्ली 1977 पृ स 3
3 डा आर एन चतुर्वेदी यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन ए स्टडी ऑफ ऑरगनाइजेशनल फ्रेम आर जे पी ए अक्टूबर दिसम्बर 1986 पृ स 878
4 रिपोर्ट ऑफ दि रिव्यू कमेटी ऑन यू जी सी शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार दिल्ली 1977 पृ स 84
5 अमृतलाल बोहरा – मेनुअल ऑफ यू जी सी स्कीमस् एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स ऑफ हायर एज्यूकेशन इन इंडिया क्रेस्ट पब्लिशिंग हाउस 5-2, 16 असारी रोड दरयागज, नई दिल्ली 1997
6 वही पृ स 7-8
7 आर एन चतुर्वेदी यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन ए स्टडी ऑफ ऑरगनाइजेशनल फ्रेम आर जे पी ए अक्टूबर-दिसम्बर 1986 पृ स 814
8 वही पृष्ठ स 886

□□□

अध्याय–15

संघ लोक सेवा आयोग

आज विश्व के सभी लोकतांत्रिक देशों की यह मान्यता है कि लोकसेवाओ में भर्ती योग्यता के आधार पर होनी चाहिए और योग्यता निर्धारण का दायित्व एक स्वतत्र एव निष्पक्ष अभिकरण को दिया जाना चाहिए। यह अभिकरण विभिन्न परीक्षाओ द्वारा प्रत्याशियों की योग्यता माप कर निश्चित करे कि कौन प्रत्यासी किस सेवा के योग्य होगा। यह अभिकरण दलबन्दी भाइचारे और सरकारी दबाव से मुक्त हो तथा प्रत्यासी की योग्यता की जाच के क्षेत्र मे विशेषज्ञ भी हो। भारत में सेवीवर्ग प्रशासन के क्षेत्र में सघ लोक सेवा आयोग का प्रमुख कार्य है कि वह अनुपयुक्त व्यक्तियो को केन्द्रीय सेवा से बाहर रखे।

लोक सेवा आयोग की आवश्यकता

लोक सेवा आयोग की आवश्यकता के सदर्भ मे प्रो एम वी पायली ने अपनी पुस्तक इडियन कास्टीट्यूशन मे लिखा है–"लोक सेवा आयोग का कार्य दो प्रकार का *होता है– प्रथम, धूर्त लोगो को सेवा से बाहर रखना* और दूसरा *योग्य व्यक्तियो को सेवा* मे लाने का प्रयास करना।"

भर्ती हेतु लोकसेवा आयोग की आवश्यकता निम्न कारणों से होती है–

1 **स्वतत्रता की दृष्टि से**–सर्वप्रथम कारण भर्ती और चयन का कार्य कार्यपालिका के नियत्रण से पूर्णत स्वतत्र एव निष्पक्ष होना चाहिए। कोई भी सरकारी विभाग या मत्रालय या अभिकरण बिना स्वतत्र और निष्पक्ष रह कर चयन का कार्य नहीं कर सकता है। अत स्वतत्र और निष्पक्ष भर्ती के लिए लोक सेवा आयोग जैसे अभिकरण की आवश्यकता हैं।

2 **विशेषज्ञता एव अनुभव का पुज**–भर्ती और चयन का सारा कार्य एक केन्द्रीय अभिकरण को सौंपने से उसके पास अपने कार्य के विषय में विशेष क्षमता और अनुभव एकत्र हो जाता है। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भर्ती प्रणाली को इसका लाभ मिलता रहता है।

3 **योग्यता का चयन**–स्वतत्र एव निष्पक्ष भर्ती प्रक्रिया द्वारा यह आशा की जाती है कि उपलब्ध प्रत्याशियो मे से योग्यतम का ही चयन किया जा सकेगा।

4 **सेवाओं में कुशलता**–लोक सेवा आयोग निष्पक्ष दृष्टिकोण अपना कर प्रशासन मे अकुशल, धूर्त और भ्रष्ट लोगो को प्रवेश से रोककर योग्य कुशल और निपुण लोगों को सेवा में प्रवेश देकर प्रशासन की कुशलता सुनिश्चित करता है।

5 श्रेष्ठ परामर्श–सेवाओ के विषय म लोक सेवा आयोग सरकार को समय-समय पर स्वतंत्र और श्रेष्ठ परामर्श देता ह। यह कार्य पृथक और स्वतंत्र आयोग द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

6 भारत जैसे देश के लिए अति आवश्यक–भारत भौगोलिक दृष्टि स एक विशाल देश है। जहाँ अनगिनत जाति भाषा वर्ग के लोग रहते है। एसे म भर्ती प्रक्रिया पर अनक प्रकार के दबावो का पडना स्वाभाविक है। उस पर विजय पाने के लिए संविधान म एक स्वतंत्र एव निष्पक्ष आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत म लोक सेवा आयोग की स्थापना के विचार का उल्लेख 5 मार्च सन् 1919 म भारतीय सुधार पर दिए गए एक आवश्यक प्रपत्र म निम्नलिखित रूप मे किया गया था–

"अधिकांश राज्यो म जहाँ कि उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गई है, इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है, कि कुछ स्थायी कार्यालयों की स्थापना करके राजनीतिक प्रभाव स लोकसेवाओ को सुरक्षित बनाया जाय। इन कार्यालयो का मुख्य कार्य सेवा के मामलो म नियम-विनियम बनाना है। वर्तमान समय मे अभी हम इस स्थिति म तो नहीं है कि भारत म एक लोकसेवा आयोग की स्थापना के कार्यों को आगे बढाया जाय परन्तु हम यह अनुभव अवश्य करते हैं कि यह सम्भावना अथवा आशा है कि ये सेवाय अधिकाधिक मत्रीय नियंत्रण मे आ सकती हैं अत इसे नियंत्रण से बचाने के लिए एक ऐसी *निकाय की स्थापना का दृढ आधार प्रस्तुत होता है।"*

इस प्रकार सर्वप्रथम भारत सरकार अधिनियम 1919 में एक लोक सेवा आयोग की स्थापना की आवश्यकता पर विचार किया गया परन्तु इस अधिनियम के लागू होने क तुरन्त बाद लोक सेवा आयोग का निर्माण नहीं किया गया था।

भारत में लोक सेवाओ के सम्बन्ध मे नियुक्त शाही आयोग जिसके अध्यक्ष फर्नहमली थे अपने प्रतिवेदन में एक स्वतंत्र तथा निष्पक्ष लोक सेवा आयोग के बारे में 1924 मे कहा था–

"जहाँ कहीं भी लोकतंत्रीय सरकारे वर्तमान मे है उनके अनुभव से यही पता चलता है कि कुशल लोक सेवा की प्राप्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो सके उसका राजनीतिक अथवा वैयक्तिक प्रभावो स मुक्त रखा जाय और उसे स्थिरता तथा सुरक्षा की स्थिति प्रदान की जाय जो कि ऐसे कुशल तथा निष्पक्ष साधन के रूप मे इसके सफल संचालन के लिए अनिवार्य होती है। जिसके द्वारा सरकार चाहे वे कैसी भी राजनीतिक विचारधारा की क्यो न हो अपनी नीतियो को क्रियान्वित *करती रहे, और आयोग के कार्य क्षेत्र म वे किसी भी प्रकार का कोई व्यवधान उपस्थित* नहीं करे। जिन देशों म इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर दी गई है और इस सिद्धान्त के स्थान पर लूट खसोट प्रणाली लागू है वहाँ उसका स्वभाविक परिणाम एक अकुशल और

असंगठित लोक सेवा के रूप में सामने आया है और भ्रष्टाचार भी अनियंत्रित रूप से बड़ा है। अमेरिका में अब लोक सेवाओं की भर्ती पर नियंत्रण लागू करने के लिए एक लोक सेवा आयोग गठित किया गया है। भारत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के आधिपत्य में शायद अधिक उपयुक्त एवं लाभदायक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। कनाडा आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में अब सरकारी लोक सेवा अधिनियम बने हुए हैं जो लोक सेवाओं की स्थिति तथा नियंत्रण का नियमन करते हैं और उन सबका सामान्य लक्षण है– एक लोक सेवा आयोग का गठन जिसे कि अधिनियमों के प्रबन्ध का कार्य सौंपा गया है।"

सन् 1919 में भारत सरकार अधिनियम और 1924 के ली आयोग द्वारा व्यक्त विचारों के आधार पर 1926 में भारत में सर्वप्रथम अखिल भारतीय तथा उच्च सेवाओं के लिए केन्द्रीय लोक सेवा आयोग स्थापित किया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में यही व्यवस्था बनाए रखी गयी। लोक सेवाओं की भर्ती करने के लिए केन्द्रीय स्तर पर संघीय लोक सेवा आयोग तथा राज्यों में तत्सम्बन्धी लोक सेवा आयोगों की स्थापना की व्यवस्था भारतीय संविधान के अनुच्छेद 315 में स्पष्ट रूप से की गई है।

आयोग का गठन

इस समय संघीय लोक सेवा आयोग में अध्यक्ष (चैयरमेन) के अलावा दस सदस्य हैं। आयोग का कार्यालय नई दिल्ली में धौलपुर हाउस में स्थित है। सभापति (चैयरमेन) और सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। ये नियुक्तियाँ राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के परामर्श पर करता है। आयोग के सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति निर्धारित करता है। लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति के संदर्भ में संविधान में प्रावधान है कि जहाँ तक सम्भव हो कम से कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जो राज्य तथा केन्द्र सरकार के सेवा में दस वर्षों तक रहे हों। इस उपबंध का अभिप्राय यह निश्चित करता है कि आयोग के सदस्य अनुभवी व्यक्ति हों तथा आयोग एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में कार्य कर सके। दूसरे आधे भाग में कौन लोग हों इसके बारे में संविधान में कोई निर्देश नहीं दिया गया है।

संविधान में लोक सेवा आयोग के सदस्यों की सेवा-सुरक्षा तथा विशेषाधिकारों का उल्लेख है जिनके द्वारा आयोग को बाहरी प्रभावों से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है। यह उल्लेख निम्नलिखित रूप में है–

(1) संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि लोक सेवा आयोग के सदस्य अपने पद ग्रहण करने की तारीख से 6 वर्ष तक की अवधि तक अथवा 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक जो भी इनमें से पहले हो नियुक्त किए जाएँगे।

(2) आयोग के सदस्यों की सेवा शर्तों में उनकी नियुक्ति के पश्चात् ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा जो कि उसके लिए अलाभकारी सिद्ध हो।

(3) आयोग के सदस्यों को कुछ विशिष्ट कार्यों के आधार पर उच्चतम न्यायालय के परामर्श से राष्ट्रपति की आज्ञा द्वारा हटाया जा सकता है। लोक सेवा आयोग

का सभापति (चेयरमेन) अथवा कोई भी सदस्य दुराचार के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है। दुराचार को प्रमाणित करने की प्रक्रिया भी संविधान द्वारा निश्चित की गई है। संविधान के अनुच्छेद 145 द्वारा निर्धारित प्रक्रियानुसार जांच का कार्य न्यायालय द्वारा किया जाता है। जांच पूर्ण होने तक राष्ट्रपति सदस्य को आयोग से निलम्बित कर सकता है।

राष्ट्रपति निम्न आधारों पर लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों को अपदस्थ कर सकता है– यदि

(क) वह दिवालिया हो

(ख) वह अपने कार्यकाल में कोई अन्य संवैधानिक कार्य स्वीकार कर लेता है

(ग) राष्ट्रपति की सम्मति में वह व्यक्ति मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण अपने पद पर कार्य करने में असमर्थ हो गया है

(घ) अनुच्छेद 317 के अनुसार यदि भारत सरकार या किसी अन्य सरकार द्वारा या इसके वास्ते किए गए किसी संविदा या करार से लोक सेवा आयोग के चैयरमेन या किसी सदस्य का सम्बन्ध हो तो उसे दुराचार समझा जायगा इस आधार पर उसे पदच्युत किया जा सकता है।

(4) संघीय लोक सेवा आयोग का चेयरमेन भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी भी नौकरी के लिए अपात्र होगा।

(5) राज्य लोक सेवा आयोग का सभापति संघीय लोक सेवा आयोग के सभापति या सदस्य के रूप में अथवा अन्य किसी राज्य के लोक सेवा आयोग के सभापति के रूप में नियुक्त किए जा सकते हैं।

(6) संघीय लोक सेवा आयोग का कोई भी सदस्य संघीय लोक सेवा आयोग के सभापति (चैयरमेन) के रूप में अथवा किसी भी राज्य के लोक सेवा आयोग के सभापति (चैयरमेन) नियुक्त किए जा सकते है। जैसा कि डा भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि– "संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों को कार्यपालिका से स्वतंत्र रखने का एक तरीका यह है कि उन्हें ऐसे किसी भी पद से मुक्त कर दिया जाय जिनके माध्यम से कार्यपालिका द्वारा उन्हें अपने पद से विचलित किए जाने की सम्भावना हो।"

(7) लोक सेवा आयोग के सदस्यों की स्वतंत्रता की एक अन्य महत्त्वपूर्ण व्यवस्था संविधान का अनुच्छेद 322 है। जिसमें स्पष्ट रूप से यह घोषणा की गई है कि आयोग के व्यय भारत की संचित निधि से किए जाएँगे।

वेतन तथा सेवा शर्तें

आयोग के सदस्यों के वेतन एवं भत्ता एवं अन्य शर्तों का निर्धारण राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। किसी सदस्य के वेतन भत्ता तथा सेवा की अन्य शर्तों को उसके सेवा काल में बदला नहीं जा सकता। संघीय लोक सेवा आयोग के चैयरमेन को 9000 रुपये तथा सदस्यों को 8000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। अपनी कार्यावधि की समाप्ति के

बाद आयोग के सदस्य कोई अन्य कार्य नहीं कर सकते हैं और न ही भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कोई नियुक्ति पा सकते हैं। डा. एम मुतालिब के अनुसार– "इस प्रतिबन्ध का जनता पर गम्भीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडा है और आयोग के सदस्यों का विशेष सम्मान इस कारण करती है क्योंकि जनहित के लिए वे भावी पदो का त्याग करते हैं।" इसके अतिरिक्त उन्हें आवास कार टेलिफोन आदि की सुविधाऍं प्रदान की जाती हैं। आयोग के सदस्यों के वेतन भत्ते एव प्रशासकीय व्यय भारत सरकार की सचित निधि पर आधारित है। इन पर ससद में मतदान नहीं होता है।

पैशन

जुलाई 1964 तक सघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य की सेवा समाप्ति के पश्चात पैंशन का कोई प्रावधान नही था। पहले सरकारी सेवा मे रहे अध्यक्ष या सदस्य को ही पैशन मिलती थी। सरकारी सेवा में न रहे आयोग के सदस्य को जुलाई 1964 से पेंशन का हकदार बना दिया गया लेकिन इसके लिए पूर्व शर्त यह है कि अध्यक्ष / सदस्य ने कम से कम 3 वर्ष का कार्यकाल अवश्य पूर्ण कर लिया हो। जिन सदस्यो को राष्ट्रपति द्वारा कार्यकाल पूर्ण होने से पूर्व पदच्युत कर दिया जाता है और जो आयोग मे तीन वर्ष का समय भी पूर्ण नहीं कर पाते हैं उन्हें पैशन नहीं दी जाती है। यदि सघ लोक सेवा आयोग के सदस्य राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष बन जाते हैं तो उस दौरान भी उन्हे पैंशन नही दी जाती है।

लोक सेवा आयोग के कार्य एवं शक्तियाँ

विभिन्न देशों में लोक सेवा आयोग के कार्य भिन्न-भिन्न हैं तथापि मोटे तौर पर इन्हे तीन भागों में बाटा जा सकता है–

1 नियुक्ति के लिए उम्मीदवारों का चयन तथा इससे सम्बन्धित कार्य,
2 पदोन्नति अनुशासन सम्बन्धी मामले तथा अपीलों की सुनवाई और
3 वेतन तथा मजदूरी का निर्धारण पदों का वर्गीकरण।

भारत में लोक सेवा आयोग को मुख्यत प्रथम वर्ग के कार्य सौंपे गये हैं तथा द्वितीय वर्ग के कार्य विभागों को परन्तु इस वर्ग के कार्यों के बारे में भी आयोग का परामर्श आवश्यक है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद 320 के अनुसार लोक सेवा आयोग को निम्नलिखित कार्य सोंपे गये हैं–

1 सघ तथा राज्य सेवाओ में नियुक्तियो के लिए परीक्षाओं का आयोजन करना

2 यदि दो या अधिक राज्य आयोग को सयुक्त नियोजन अथवा भर्ती के लिए आग्रह करें तो राज्यो को इस प्रकार की योजना बनाने में सहायता करना।

3 सघ तथा राज्य सरकारों का निम्नलिखित विषयों पर आयोग से परामर्श करना अपेक्षित है–

(क) लोक सेवाओं में भर्ती के तरीकों के बारे में सभी मामले
(ख) लोक सेवाओं में नियुक्ति और पदो के लिए अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों पर और एक सेवा से दूसरी में स्थानान्तरण और पदोन्नति के मामलों पर

(ग) अनुशासनात्मक मामले

(घ) कानूनी खर्च की प्रतिमूर्ति

(च) शासकीय सेवा में रहते हुए घायल हो जाने के कारण पैंशन देने के मामले।

अन्य कोई ऐसा मामला जो कि राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा विशेष रूप से उसे सौंपा जाय।

डा गुत्तालिब ने अपनी पुस्तक संघीय लोक सेवा आयोग मे आयोग के कार्यों को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया है –

1 कार्यकारी

2 नियामक, और

3 अर्द्ध-न्यायिक।

परीक्षाओ के माध्यम से लोक महत्त्व के पदों पर प्रत्याशियों का चयन करना आयोग का कार्यकारी कार्य है। भर्ती की पद्धतियो तथा नियुक्ति, पदोन्नति एव विभिन्न सेवाओं में स्थानातरण आदि आयोग के नियामक प्रकृति के कार्य हैं। लोक सेवाओ से सम्बन्धित अनुशासन के मामलो पर परामर्श देना आयोग का अर्द्धन्यायिक कार्य हैं।

लोक सेवा आयोग के कार्यों के संदर्भ म लोक सेवा आयाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा किदवई ने लिखा है– "वास्तव में संघ लोक सेवा आयोग विभिन्न संगठित सेवाओ में भर्ती के लिए सलाहकार के माध्यम से चयन करता है, सेवा के नियमो और विनियमों क बारे म सरकार को परामर्श देता है, विभिन्न पदो और सेवाओ के लिए भर्ती के नियम बनाता है, नयी सेवाओं का गठन करता है, पदोन्नति के लिए सिद्धान्त बनाता है, नागरिक कर्मचारियो क अनुशासनात्मक मामलो पर और नागरिक कर्मचारियों द्वारा भारत के राष्ट्रपति को की गई अपीलो, स्मारकों और याचिकाओं के मामले में परामर्श देता है। लोक सेवा आयाग के कार्य शक्तियों के प्रमुख स्रोत है–

1 संसद द्वारा पारित कानून,

2 संविधान,

3 कार्यपालिका आदेश, और

4 परम्परा ।

संविधान की धारा 321 के अन्तर्गत संसद कानून बनाकर आयाग के कार्यों में वृद्धि कर सकती है। यदि संसद उचित समझे तो किसी भी स्थानीय प्राधिकार निकाय अथवा लोक संस्था के कार्मिक प्रशासन के आयोग के अधिकार सीमा म ला सकती है। दिल्ली नगर निगम के अधिनियम में यह प्रावधान रखा है कि निगम के उच्च पदो पर भर्ती संघ लोक सेवा आयोग द्वारा कराई जाय।

संविधान की धारा 318 और 320 क तहत सरकार न आदेश पारित कर आयोग की सेवाओं का सदुपयोग किया है। आयाग कुछ कार्य परम्परा के आधार पर करता आ रहा है। सैन्य सेवाओ और वैज्ञानिक तथा तकनीकी विशेषज्ञों के पूल म भर्ती का कार्य संविधान के तहत न होकर मात्र परम्परा द्वारा सम्पन्न होता आ रहा है। सन् 1986 से

वैज्ञानिक कर्मिया की नियुक्ति सघीय लोक सेवा आयोग के सीमा क्षेत्र के बाहर कर दी गई है। अब यह नियुक्तियॉ वैज्ञानिक विभाग स्वय करते हैं। फिर भी कार्मिक प्रशासन विषय के साधारण सिद्धातों जैसे– आरक्षण सयुक्त सलाहकारि यंत्र तथा पदों की रिक्तता की अधिसूचना आदि का विभागो द्वारा अनुसरण किया जाता है।

सरकारी अधिसूचना के अनुसार वेज्ञानिक पद वह कहलाये जाएगे जिनमे *न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता विज्ञान मे स्नातकोत्तर डिग्री या इंजीनियरिंग, औद्योगिक,* चिकित्सा या फिर इसी प्रकार के विषय में डिग्री हो।

लोक सेवा आयोग के कर्मचारा

लोक सेवा आयोग के कर्मचारियो के सम्बन्ध में सविधान निर्मात्री सभा में कहा गया था कि उच्च और सर्वोच्च न्यायालयों के लिए कर्मचारियों की पृथक व्यवस्था की *भॉति लोक सेवा आयोग के लिए पृथक कर्मचारी की व्यवस्था की जानी चाहिए।* आयोग को अपने कर्मचारियो की भर्ती करने और उनकी सेवा शर्ते निर्धारित करने का अधिकार भी दिया जाना चाहिए। सविधान निर्मात्री सभा के इस विचार को अस्वीकार करते हुए भारतीय सविधान लोक सेवा आयोग के कर्मचारियों की सख्या और सेवा शर्ते निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रपति को देता है। यह परम्परा चली आ रही है कि राष्ट्रपति लोक *सेवा आयोग के कर्मचारियो की सेवा शर्ते निर्धारित करते समय लोक सेवा आयोग से* परामर्श अवश्य करते हैं। आयोग के कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार आयोग के पास है। आयोग कार्यालय के समस्त उच्च पदों पर नियुक्तियॉ आयोग के अध्यक्ष द्वारा की जाती हैं। आयोग में एक सचिव कुछ अतिरिक्त सचिव अधिकारी और कर्मचारी होते है जिनकी सख्या राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती है। आयोग के अध्यक्ष को भारत सरकार के एक आदेशानुसार कुछ शक्तियॉ प्राप्त है जिसके आधीन कुछ स्थायी और अस्थायी पदों की स्वीकृति देते हैं।

आयोग का कार्यालय कर्मचारियो के सम्बन्ध में केन्द्रीय सचिवालय का एक भाग माना जाता है। इस स्थिति द्वारा आयोग के कर्मचारियों को पदोन्नति हेतु केन्द्रीय सचिवालय में अवसर मिलता रहता है। केन्द्रीय सचिवालय के कर्मचारी भी आयोग कार्यालय में आते रहते हैं। आयोग का कार्यालय कार्यकुशलता विशिष्टता तथा विभिन्न स्तर पर विभिन्न वर्गो के अधिकारियो व कर्मचारियों में उत्तरदायित्व की भावना बढाने के उद्देश्य से निम्नलिखित सभागों में विभक्त है –

1 प्रशासनिक सभाग,
2 *भर्ती सभाग,*
3 परीक्षा सभाग
4 लेखा सभाग,
5 विधि सभाग,
6 शोध सभाग

7 नेट संभाग और जे आर एफ परीक्षा

8 गोपनीय।

1 प्रशासनिक सभाग–यह सभाग सस्थापन तथा निरीक्षण विभागों में बाटा गया है। सस्थापन विभाग सभी अधिकारियो तथा कर्मचारियो की सेवा शर्ते निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी है। निरीक्षण विभाग का कार्य सुरक्षा व्यवस्था आपूर्ति भडार की देखभाल अभिलेख की व्यवस्था आदि है।

2 भर्ती संभाग–आयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य एव दायित्व भर्ती का है। इस दृष्टि से भर्ती सभाग महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न पदो के लिए आयोजित परीक्षाओ के आवेदन-पत्र प्राप्त करना तत्सम्बन्धी अभिलेख रखना परीक्षा की कार्यवाही करना तथा साक्षात्कार परिणाम तैयार करना इस सभाग के कार्य हैं। विभागीय पदोन्नति के लिए भी यही सभाग उत्तरदायी है।

3 परीक्षा सभाग–सभी प्रकार के परीक्षा सम्बन्धी कार्यो के कुशलतापूर्वक सचालन के लिए उत्तरदायी है। परीक्षा सम्बन्धी सभी कार्य निर्धारित पद्धति के अनुसार किये जाते हैं। परीक्षा सम्बन्धी सुधार कार्यक्रम साक्षात्कार तथा समीक्षा कार्यो के समन्वय के लिए भी यही विभाग उत्तरदायी है। सघ लोक सेवा आयोग का परीक्षा सभाग 1993 से सतीश चन्द्र समिति के सुझावानुसार परीक्षाओ का आयोजन कर रहा है। सभाग सिविल परीक्षा, नेट आदि परीक्षाओ के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है।

4 लेखा सभाग–इस सभाग का मुख्य कार्य आयोग का बजट बनाना तथा काम-व्यय का हिसाब किताब रखना है।

5 विधि सभाग–आयोग से सम्बन्धित न्यायालय मे मामले, अपील इत्यादि की कार्यवाही करने के लिये जिम्मेदार है।

6 शोध संभाग–भर्ती तथा परीक्षा प्रक्रिया में समय के अनुसार निरन्तर सुधार की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे शोध कार्य व सुधार से सम्बन्धित सुझाव के लिए शोध सभाग स्थापित किया गया है। यह सभाग आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन भी तैयार करता है।

7 नेट सभाग और जे आर एफ परीक्षा–नेट (नेशनल लेवल एज्यूकेशनल टेस्ट) और जे आर एफ (जूनियर रिसर्च फेलोशिप) परीक्षा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योग्यता परीक्षाऍ हैं। जो विश्वविद्यालय / महाविद्यालय आचार्य पात्रता परीक्षा है। इस परीक्षा का आयोजन नेट सभाग करता है।

8. गोपनीय सभाग–परीक्षा से सम्बन्धित उत्तर पुस्तिका की जाच करवाने का कार्य परिणाम तैयार करना परिणाम निकलने तक उसे गोपनीय रखना इस सभाग का प्रमुख कार्य है।

सघीय लोक सेवा आयोग की सरचना निम्नलिखित रूप म होती हे–

सघीय लोक सेवा आयोग

1 चैयरमेन
10 सदस्य
↓
सचिव
↓

अतिरिक्त सचिव
प्रशासन

अतिरिक्त सचिव
भर्ती और कार्मिक प्रशासन

वर्किंग डॅायरेक्टर
सूचना

डायरेक्टर कार्यालय
भाषा

डायरेक्टर
परीक्षा सुधार

↓
सयुक्त सचिव (7)
↓
उप सचिव (14)
↓
अवर सचिव (47)
↓
सेक्सन अधिकारी (103)
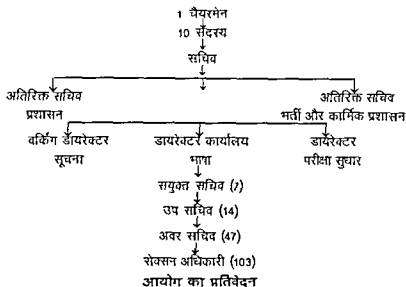
आयोग का प्रतिवेदन

आयोग सवैधानिक कर्त्तव्या के अन्तर्गत अपना प्रशासनिक वार्षिक प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता हैं। सन् 1950 से लेकर 2000 तक लोक सेवा आयोग ने 50 प्रतिवेदन राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किये है। लोक सेवा आयोग अपने प्रतिवेदन के साथ कुछ आवश्यक सुझाव भी देता है। राष्ट्रपति सरकार के उत्तर के साथ लोक सेवा आयोग के वार्षिक प्रतिवेदन को ससद के सम्मुख प्रस्तुत करता है। प्रतिवेदन पर ससद मे विचार-विमर्श होता है। प्रतिवेदन में उन मामलो का उल्लेख होता है जिनमें सरकार द्वारा आयोग की सिफारिशो की अवहेलना की गई है। वार्षिक प्रतिवेदन सरकार के मनमाने तरीके से कार्य करने पर अकुश लगाता है। सघ लोक सेवा आयोग ने न केवल सरकार द्वारा की जाने वाली अनियमित नियुक्तियों का विरोध ही किया है वरन् आयोग ने निडरता से अपने वार्षिक प्रतिवदनो में ऐसे मामलों पर प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ– 1971-72 के वार्षिक प्रतिवेदन में सघीय लोक सवा आयोग ने स्पष्ट शिकायत की है कि सरकार ने अनियमित नियुक्तियों के सम्बन्ध मे आयोग से सलाह तक नहीं ली। आयोग ने अपने बत्तीसवे प्रतिवेदन में आरोप लगाया था कि आयोग द्वारा चयनित होने के बाद भी उम्मीदवारों को नियुक्ति नहीं मिलती है। आयोग ने इसी प्रतिवेदन में उल्लेख किया था "आयोग द्वारा चयनित उम्मीदवारो को नियुक्ति आदेश भेजने में मत्रालय / विभाग विलम्ब करते हैं। कारण पूछे जाने पर आयोग को अवगत कराया जाता है कि इन उम्मीदवारों का सत्यापन पूरा नहीं हुआ था। आयोग का विचार है कि अनिश्चित काल तक उम्मीदवारों

को नियुक्ति आदेशो की प्रतीक्षा मे रखना न्याय सगत नही है। अनुभव यह सिद्ध करता है कि इस प्रकार के असाधारण विलम्ब के कारण उम्मीदवार अन्यत्र नियुक्ति पा जाते हैं और सरकार योग्य पात्रो को उच्च पदों पर नियुक्त करने से वंचित रह जाती है। जिससे आयोग का चयन मे किया गया सारा प्रयास ओर व्यय निरर्थक हो जाता है।

आयोग का सुझाव है कि नियुक्ति के लिए स्वीकृति प्राप्त होने के 60 दिन के अन्दर नियुक्ति प्रस्ताव भेज दिये जाय। सन 1989-90 के प्रतिवेदन मे आयोग का खेद के साथ कहना पड़ा है कि आयोग द्वारा अनुमोदित भर्ती नियमो को अधिसूचित करने म सरकार की ओर से असाधारण विलम्ब होता है। आयाग द्वारा अपने प्रतिवेदनो मे ऐसी शिकायतो का उल्लेख करने से कई बार सम्बन्धित मत्रालयो/विभागो को ससद मे तथा ससद के बाहर आलोचना का शिकार होना पडा है।

सघीय लोक सेवा आयोग की राय को मानने के लिए सरकार बाध्य नही है, लेकिन आयोग की राय के विपरीत काम करने मे असुविधा अवश्य है। अत सरकार द्वारा आयोग के अधिकाश सुझावो को माना गया है। गिने चुने विषयो पर ही सरकार ने आयोग के परामर्श को अस्वीकार भी किया है। यह उल्लेख स्वय आयोग ने अपने सैंतीसवे वार्षिक प्रतिवेदन में किया है । यदि प्रशासकीय विभाग आयोग की सिफारिश की अवहेलना करना चाहता है तो यह मामला मन्त्रिमण्डल द्वारा गठित नियुक्ति समिति मे रखा जाता है। इस समिति की सहमति पर ही आयोग के परामर्श के विरुद्ध काम किया जा सकता है अन्यथा नहीं। जब तक कि प्रशासकीय विभाग ऐसा कोई ठोस तर्क आयोग द्वारा प्रस्तुत परामर्श के विरुद्ध न दे सके जो इस नियुक्ति समिति को स्वीकार हो, तब तक परामर्श की अवहेलना नही की जा सकती है। सामान्यत आयोग की सिफारिशो के अनुसार ही सरकार कार्य करती है।

सघीय लोक सेवा आयोग की भूमिका

आयोग की भूमिका अपने कार्य सम्पादन को निम्नलिखित रूपो म दायित्व के साथ पूरा करता है—

1 **सिविल सेवा भर्ती हेतु प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन**—सघीय लोक सेवा आयोग का प्रमुख कार्य सिविल सेवा हेतु भर्ती है। आयोग इस कार्य को प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा पदोन्नति द्वारा या स्थानातरण द्वारा करता है। प्रत्यक्ष भर्ती हेतु लिखित परीक्षा या साक्षात्कार या दोनों पद्धतियो को अपनाया जाता है। विभिन्न सेवाओं के लिए यह परीक्षा वर्ष मे एक बार आयोजित की जाती है। प्रत्याशियो का चयन भारत सरकार के मत्रालयों से प्राप्त सूचना के आधार पर आयोग द्वारा किया जाता है।

2 **साक्षात्कार द्वारा भर्ती**—स्थापित सेवाओ के अतिरिक्त केन्द्र सरकार के पास भारी सख्या में पद हैं जिन पर नियुक्तियाँ की जानी है और यह नियुक्तियाँ साक्षात्कार द्वारा की जाती हैं। प्रतिवर्ष लगभग तीन हजार पद साक्षात्कार द्वारा भरे जाते हैं। साक्षात्कार मडलो की अध्यक्षता आयोग का अध्यक्ष या सदस्य करते हैं। मडल में एक विशेष योग्य

व्यक्ति सलाहकार के रूप मे और सम्बन्धित मत्रालय का प्रतिनिधि उपस्थित रहता है। निर्णय सभी की राय से लिया जाता है। अगर कभी किसी नियुक्ति के सदर्भ मे मतभेद होता है जिसकी सम्भावना कभी-कभी होती है तो अध्यक्ष का निर्णय अतिम रूप से मान्य होता है।

3 पदोन्नति द्वारा भर्ती–भर्ती का दूसरा तरीका पदोन्नति द्वारा भर्ती है। इस तरीके को अखिल भारतीय सेवाओ केन्द्रीय सेवाओं और अन्य केन्द्र द्वारा नियत्रित सेवाओ के लिये काम मे लाया जाता है। सरकारी कर्मचारियो की नैतिकता बनाये रखने की रुचि से और व्यक्ति मे सेवा के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा और समर्पित भावना दोनों को बनाये रखने के लिए पदोन्नति का प्रावधान सेवा नियमो में रखा गया है। आयोग द्वारा नियत्रित सेवाओं का एक निश्चित प्रतिशत नीचे से पदोन्नति द्वारा भरा जाता है। यह कार्य विभागीय पदोन्नति समितियो द्वारा किया जाता है। पदोन्नति समितियो की अध्यक्षता लोक सेवा *आयोग का अध्यक्ष या कोई सदस्य करता है। समिति की कार्यवाही को अनुमोदन के लिये जब कभी आवश्यक हो आयोग को भेजा जाता है। पदोन्नति समिति की सिफारिशो को* आयोग द्वारा अनुमोदित होने पर ही सरकार स्वीकृति प्रदान करती है।

4 सिविल सेवकों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही–राष्ट्रपति किसी सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने से पूर्व आयोग से परामर्श करता है। आयोग अनुशासनात्मक कार्यवाही के विरुद्ध अपील पिटीशन या मीमो के आदेश जो राष्ट्रपति के अधीनस्थ किसी अधिकारी द्वारा जारी किया गया है जारी करने से पूर्व राष्ट्रपति से परामर्श करता है।

5 स्थानातरण और अदायगी सम्बन्धी मामले–सघीय लोक सेवा आयोग *सरकार को कर्मचारी के एक सेवा से दूसरी सेवा मे स्थानातरण के मामलो में परामर्श देता है। सविधान के अनुच्छेद 320 (3) (डी) कर्मचारी के कानूनी अदायगी के मामलो* मे निर्णय करने का अधिकार सघ लोक सेवा आयोग को देता है। आयोग सरकार को प्रत्येक मामले के कारणों और कितनी राशि अदा करनी चाहिए के सम्बन्ध में परामर्श देता है।

6 अर्द्ध-स्थायित्व सम्बन्धी मामले–सिविल सेवा नियम 1949 मे स्पष्ट लिखा है कि तीन वर्ष की सेवा पूर्ण कर लेने पर कर्मचारी अर्द्ध-स्थायी माना जाता है। सरकार आयोग के परामर्श पर ही किसी कर्मचारी को अर्द्ध-स्थायी मानती है जहाँ कही प्रत्यक्ष भर्ती का प्रश्न आयोग के क्षेत्राधिकार मे है।

7 अस्थायी नियुक्तियाँ और पुन सेवा–*अस्थायी नियुक्तियाँ करते समय आयोग से परामर्श किया जाता है।* अस्थायी नियुक्तियाँ एक निश्चित अवधि के लिए की जाती है और उनकी सूचना आयोग को भेजी जाती है। अगर किसी व्यक्ति की नियुक्ति को आगे निरन्तर बनाये रखना है तो पुन आयोग से परामर्श किया जाता है। अवकाश प्राप्त कर्मचारियों/अधिकारियो को पुन सेवा मे लेने के लिए भी लोक सेवा आयोग का परामर्श जरूरी है।

संविधान म एक महत्त्वपूर्ण प्रावधान लोक सेवा आयोग के परामर्श के लिए विशेष आदेश की आवश्यकता है–

सर्वप्रथम संसद आयाग के कार्यों म वृद्धि कर सकती है। किसी भी स्थानीय सेवा स्वायत्त संस्थान की सेवाओ पर पुनर्विचार का अधिकार आयोग को दे सकती है।

द्वितीय राष्ट्रपति नियुक्ति के लिए पिछड वर्ग अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति क पदो के निर्धारण के लिए नियम बनाता है।

कुछ विशिष्ट नियुक्तियो के सदर्भ मे आयाग से परामर्श नहीं लिया जाता है–

(1) प्राधिकरण या आयाग की सदस्यता या अध्यक्षता हेतु,

(2) उच्च कूटनीतिक प्रकृति के पदा हेतु

(3) तृतीय और चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियो के लिए जिनकी संख्या केन्द्र सरकार के कर्मचारियों का 90 प्रतिशत है।

तृतीय राष्ट्रपति किसी भी विषय में आयोग से परामर्श कर सकता है, जिसका वर्णन संविधान में नही किया गया है।

आयोग की परामर्शदात्री भूमिका

सघ लोक सेवा आयोग सघीय स्तर पर एक स्टाफ अभिकरण की भाँति कार्य करता है। तात्पर्य यह है कि आयोग को आदेशात्मक शक्तियाँ प्राप्त नही है। आयोग एक परामर्शदात्री संस्था है। आयोग द्वारा प्रत्याशियो का सरकारी पदो के लिए चयन परामर्श मात्र है। यह सरकार पर निर्भर है कि वह उस परामर्श को माने या न माने। आयोग द्वारा प्रकाशित परीक्षा परिणाम के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित रहता है कि परीक्षा में सफलता से नियुक्ति का कोई अधिकार नहीं होता है। इसी तरह अन्य सेवा सम्बन्धी मामलों में जिनमें पदान्नति आदि के मामले भी सम्मिलित हैं आयोग केवल परामर्श ही देता है, न केवल स्वतत्रता प्राप्ति के बाद वर्तमान में वरन् ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित आयोग की भूमिका भी परामर्शदात्री ही थी। सन् 1935 में तत्कालीन भारत सचिव सेमुअल होर ने ब्रिटिश लोक सदन म लोक सेवा आयोग की परामर्शदात्री स्थिति का समर्थन करते हुए कहा था कि–"यह सयुक्त प्रवर समिति का निश्चित विचार था और मेरे यहाँ के भारतीय सलाहकारो का भी निश्चित विचार है कि लाक सेवा आयोग को सलाहकार रखना कहीं अच्छा है। अनुभव दर्शाता है कि सलाहकार हाने पर बाध्यकारी होने की अपेक्षा वे अधिक प्रभावशाली होते हैं। खतरा यह है कि यदि आप उन्हें बाध्यकारी शक्तियाँ दे दे तो आप प्रत्येक राज्य म और केन्द्र मे दो-दो सरकारे बना देंगे– अनेक दृष्टिकोणो से यही अच्छा है कि वे सलाहकार ही रहें।"

भारतीय संविधान निर्माताओ ने 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत लोक सेवा आयोग का निर्धारित सलाहकार स्वरूप बनाये रखा क्योकि यह एक परामर्शदात्री निकाय है। अत सरकार को इस बात की स्वतत्रता होती है कि आयाग द्वारा दी गई सलाह को स्वीकार करे अथवा नहीं परन्तु एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अनुसार सरकार से यह माग

की जाती है कि वह आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन विधान मण्डल में प्रस्तुत करते समय उन कारणों का भी स्पष्टीकरण करे कि किन विशिष्ट कारणों से आयोग का परामर्श अस्वीकार किया गया है। इस व्यवस्था से यह लाभ होता है कि सरकार का यह साहस नहीं होता है कि वह बड़े पैमाने पर आयोग की सिफारिशों की अवहेलना कर सके क्योंकि उसे भय होता है कि ससद तथा सम्बन्धित विभाग उसकी आलोचना और निन्दा करेंगे।

सन 1954 मे ससद के शीतकालीन अधिवेशन के दौरान सघ लोक सेवा आयोग के 1952-53 के प्रतिवेदन पर वाद-विवाद हुआ। इस वर्ष आयोग ने कई सिफारिशे की थी। सरकार ने उनमे से दो मामलो को छोडकर सभी सिफारिशो को मान लिया था लेकिन ससद के भीतर उन्हीं दो मामलों को लेकर तूफान खड़ा हो गया।

सरकार द्वारा आयोग से कुछ मामलों में परामर्श लेना अनिवार्य होता है। उन मामलो में परामर्श न लेना असवैधानिक होता है। परामर्श लेकर उसे न मानना असवैधानिक नहीं माना जाता है। सविधान के अनुसार सरकार आयोग से परामर्श लेने के लिए बाध्य है परामर्श न मानने के लिए बाध्य नहीं है।

लोक सेवा आयोग की समीक्षा

भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था मे लोक सेवा आयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आयोग स्वतत्र तटस्थ और निष्पक्ष अभिकरण के रूप में कार्य कर सके इसके लिये सविधान में अनेक स्पष्ट प्रावधान कर दिये गये है। आयोग मे निम्नलिखित कमिया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है–

(1) भारत में लोक सेवा आयोग का दृष्टिकोण एव कार्य प्रक्रिया अभी तक मूल रूप से नकारात्मक है। यह धूर्तों को दूर रखने का ही प्रयत्न करता है। इसके द्वारा रिक्त पदो के लिए दिए गए विज्ञापन योग्य तथा कुशल प्रत्याशियो को आकर्षित नही कर पाते।

(2) आयोग का कार्यभार अधिक है। वह सदैव अपने नियमित कार्यों में व्यस्त रहने के कारण भर्ती नीतियो मे अधिक नये प्रयोग नहीं कर पाता।

(3) अभी तक भर्ती के सदर्भ मे ऐसी व्यवस्था विकसित नही की गई है कि पर्याप्त समय रहते सरकार आयोग को सूचित कर सके कि किस कार्य के लिए लगभग कितने व्यक्ति भर्ती करने की आवश्यकता होगी। इसके अभाव मे आयोग उचित भर्ती तकनीक विकसित नही कर सकता है।

(4) भर्ती हेतु आयोजित परीक्षा पाठ्यक्रम भी ठीक तरह से विकसित नहीं है। जैसे– प्रधान परीक्षा के ऐच्छिक विषयो में से आधे के लगभग विभिन्न भाषाओं के साहित्य से सम्बन्धित है। जिनमे से एक विषय 600 अकों के 2 प्रश्न पत्रों का चयन किया जा सकता है। परन्तु इनमे से अनेक भाषाओं के साहित्य का भारतीय प्रशासनिक ओर पुलिस सेवाओं की योग्यता से सम्बन्ध कम समझा जाता है।

(5) सघ लोक सेवा आयोग मे अभी भी नियुक्तियों मे चयन क्षमता को ध्यान मे रखने के बजाय अन्य बातों पर ध्यान अधिक दिया जाता है।

(6) प्राय साक्षात्कार मण्डल म कोई भी उस योग्यता को मापने की क्षमता नहीं रखता है जिसकी जाच का आयाग विज्ञापन देता है। खेद का विषय है कि प्रशासन सुधार आयोग (1968) की ठोस सिफारिशो के बावजूद अभी तक चयनकर्ताओ की योग्यता बढाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है।

(7) अस्थायी अवधि के लिए तदर्थ नियुक्ति की प्रवृत्ति म दिनोदिन वृद्धि हो रही है। यद्यपि उच्चतम न्यायालय न तदर्थ नियुक्ति की भर्त्सना की है। कार्यपालिका का किसी के साथ पक्षपात करन का यह एक कानूनी तरीका बन गया है। अस्थायी नियुक्ति के लिए सरकार को आयोग स परामर्श करने की आवश्यकता नहीं होती है।

(8) सरकार द्वारा आवश्यकता स कुछ अधिक सरकारी पदो को आयाग के कार्यक्षेत्र स बाहर कर दिया गया है।

(9) आयाग को प्रशासनिक पद सोपान से बाहर रखा गया है और स्वतत्र रूप से सगठित किया गया है किन्तु व्यवहार मे विविध कानूनो एव नियमों के माध्यम से कार्यपालिका प्रामाणिक रूप स आयाग का कार्यक्षेत्र निर्धारित करती है।

(10) आयाग के सदस्यो की नियुक्ति करत समय आयाग के अध्यक्ष स परामर्श नहीं लिया जाता है। प्रारम्भ म यह परम्परा थी कि आयोग क सदस्यों की नियुक्ति करते समय आयोग के अध्यक्ष स परामर्श लिया जाता था। लेकिन अब इस परम्परा की अवहलना अधिक होने लगी है।

(11) विभिन्न अध्ययनो के आधार पर मौखिक परीक्षा के अधिकतम अको को कम करने की जोरदार सिफारिश क उपरान्त भी हाल ही म आयाग द्वारा मौखिक परीक्षा के अधिकतम अको म कटौती के स्थान पर वृद्धि कर दी गई है।

(12) सघ लोक सेवा आयाग द्वारा आयोजित की जाने वाली सिविल सेवा परीक्षा क पर्चो की गोपनीयता भग होन क मामले प्रकाश म आने लगे है। इससे आयोग की विश्वसनीयता घट सकती है।

(13) आयाग द्वारा अपनायी गयी चयन प्रक्रिया के कारण कवल उच्च परिवारो क धनी प्रत्याशियो को ही उच्च सेवाओ म प्रवेश मिल पाता है। डा सी पी भाम्भरी के अनुसार "लोक सेवा आयाग एक बन्द नौकरशाही निगम है जो अपनी भर्ती के तरीकों द्वारा स्थापित नौकरशाही व्यवस्था को निरन्तर बनाए रखता है।"

सुधार सम्बन्धी अपेक्षाएँ

उक्त कमियो को दूर करन क लिए निम्न सुधार अपेक्षित है–

1 भर्ती प्रक्रिया को अधिकाधिक सकारात्मक बनान का प्रयत्न किया जाना चाहिए।
2 कार्मिक विभाग दीर्घकालीन श्रमशक्ति या मानव शक्ति योजनाएँ बनाए।
3 परीक्षा पद्धति को अधिकाधिक वस्तुपरक बनाया जाए।
4 सरकार द्वारा तदर्थ और अस्थायी नियुक्तियाँ न की जाए।

5 साक्षात्कार के अधिकतम अकों को कम किया जाय।

6 सरकार सभी कार्यों के मध्य समानता का स्तर स्थापित करे। सरकार द्वारा किसी कार्य को कम और किसी को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मानना चाहिए।

7 *परीक्षा पाठयक्रमों को सेवा की आवश्यकता से जोडा जाए।*

8 आयोग म सर्वोत्तम व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय। आयोग मे सदस्यों की नियुक्ति करते समय अध्यक्ष से परामर्श की परम्परा का निर्वाह किया जाय।

9 *प्रशासनिक सुधार आयोग(1968) की सिफारिश के अनुसार आयोग के* सदस्यो की न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता निर्धारित की जाय।

10 आयोग के सदस्यों कि नियुक्ति भिन्न-भिन्न श्रेणी से की जाय।

11 आयोग का प्रतिवेदन शीघ्र ससद मे विचारार्थ रखा जाना चाहिए।

12 सघ लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा किदवई का सुझाव है कि– "राष्ट्रीय प्रतिभा परीक्षाओं के प्रयोग को चालू किया जाए। यही एक रास्ता है जिससे हम राष्ट्रीय रोजगार नीति बना पाने में सफल होगे।" परीक्षा की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने कहा कि– आज 100 में से 97 3 प्रत्याशी सघ लोक सेवा आयाग की परीक्षाओं मे अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। यदि राष्ट्रीय स्तर पर सभी प्रकार के रोजगार के लिए एक ही परीक्षा का आयोजन किया जाता तो इन अनुत्तीर्ण नवयुवकों में से एक तिहाई को विभिन्न प्रकार के रोजगारो मे लगाया जा सकता था। उद्देश्य यह हे कि अलग-अलग नौकरियो के लिए आवेदन देते समय बार-बार एक ही प्रकार की परीक्षा में बैठना पडता है जो धन का समय का एव शक्ति का भी अपव्यय है। यदि एक ऐसी योजना बनायी जाए जिसस प्रतिवर्ष नौकरी चाहने वाले सभी नवयुवको को केवल एक बार परीक्षा मे बैठने का मौका दिया जाय और उसी परीक्षा के मूल्याकन के आधार पर उन्हे योग्यतानुसार अलग-अलग नौकरियो मे भेजा जाय तो समस्या का निदान हो सकता है।"

इसमें सन्देह नही है कि सघ लोक सेवा आयोग अपने दायित्व का निर्वाह स्वतत्र अभिकरण के रूप मे कर रहा है और आयोग द्वारा चयन में निष्पक्षता की सराहना भी की जाती रही है। बदलती परिस्थितियो के अनुसार इसमें कतिपय सुधारों की आवश्यकता भी है।

सदर्भ एव टिप्पणियाँ

1 एम वी पायली इडियन कॉन्स्टीट्यूशन

2 *भारतीय सविधान अनुच्छेद 315*

3 डा मुतालिब सघीय लोक सेवा आयोग

4 लोक सेवा आयोग के वार्षिक प्रतिवेदन

5 *प्रो रमेश अरोरा एड रजनी ग्रोवर* इडियन एडमिनिस्ट्रेशन

□□□

अध्याय–16

रेल्वे बोर्ड : संगठन एवं कार्य

भारतीय रेलवे के लिए रेल मन्त्रालय उत्तरदायी है। रेलवे पथ परिवहन का साधन है। यह देश का सबसे बड़ा लोक उपक्रम है। भारतीय रेल एशिया की सबसे बड़ी रेल और संसार की दूसरी सबसे बड़ी व्यवस्था है। भारतीय रेल व्यवस्था की शुरुआत ब्रिटिश शासन काल मे 16 अप्रेल 1853 को हुई थी। प्रथम रेल लाइन की दूरी केवल 34 किलोमीटर थी और यह बम्बई और थाणे के बीच थी। मार्च, 1990 तक 62,597 किलोमीटर तक रेल लाइन का विस्तार हुआ और निरन्तर रेलो और रेल लाइनों की संख्या में प्रगति हो रही है। सन् 1950-51 में किलोमीटर गाडी यात्रियो की संख्या 66 52 अरब थी जो बढकर 1996-97 मे 357 अरब हो गई है। सन् 1950-51 मे रेलों द्वारा माल ढुलाई 732 लाख टन थी जो बढकर 1997-98 मे 4293 8 लाख टन हो गई है। रेल यात्रियो की संख्या 1950-51 मे 12 840 लाख से बढकर 1997-98 मे 43 483 लाख हो गई है। वर्ष 2002-03 में यह संगठन मात्र 32 किलोमीटर के शुरुआती दौर से निकल कर 62 000 रूट किलोमीटर से भी अधिक विशाल नेटवर्क का रूप ले चुका है।

भारतीय रेलें तीन तरह की चौड़ाई के मार्गो पर चलती है। ये ब्राड गेज, मीटर गेज और नेरो गेज। सातवीं योजना के अन्त तक रेल मार्गों की कुल लम्बाई का 15 प्रतिशत भाग का विद्युतीकरण हो चुका था। विद्युतीकरण रेल मार्गो पर रेलें विद्युत इजनों से चलती है। रेल इजनो मे वाष्प इजन डीजल इजन और विद्युत इजन हैं। वाष्प इजन का उपयोग भारत मे लगभग समाप्त-सा हो गया है। केवल नेरोगेज लाइनों पर कहीं-कहीं इसका उपयोग शेष रहा है।

भारतीय रेल गतिविधियों के लिए उत्तरदायी रेल मन्त्रालय है। जिसका शीर्षस्थ अधिकारी रेल मत्री है। उसकी सहायता के लिये एक राज्य मत्री होता है। कभी-कभी उपमत्री की भी नियुक्ति की जाती है। ये सभी राजनीतिक अधिकारी हैं। राजनीतिक मत्रियों के नीचे विभागीय पद्धति पर गठित लोक उपक्रम की प्रबन्ध व्यवस्था के लिए एक प्रबन्ध मण्डल है जो रेलवे बोर्ड कहलाता है।

भारत म सम्पूर्ण रेल प्रशासन के लिए रेल मत्रालय और रेलवे बोर्ड उत्तरदायी है। व्यवहार मे रेलवे मत्रालय और रेलवे बार्ड दो इकाई न होकर एक ही इकाई हैं। रेलवे

बोर्ड ही रेल मंत्रालय के रूप में सम्पूर्ण रेल प्रशासन के लिए उत्तरदायी है। रेलवे बोर्ड ही रेलों का प्रबन्ध उनके सम्बन्ध में नीति-निर्माण नियमन संचालन संरक्षण और दिशा निर्देश जारी करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

रेलवे बोर्ड ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

रेलवे बोर्ड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करने से पता चलता है कि प्रारम्भिक दिनों में भारत में रेल एक अंग्रेज कम्पनी चलाती थी। भारत सरकार ने 1869 में पहली बार रेलों के निर्माण एवं स्वामित्व की नीति का श्री गणेश किया। इस नीति के अन्तर्गत रेलों से सम्बन्धित प्रशासनिक कार्यों का एक 'राज्य रेलवे निदेशालय' को हस्तांतरित किया गया। रेलवे के संचालन का कार्य केन्द्रीय निर्माण विभाग की एक पृथक शाखा द्वारा किया जाता था। रेल प्रशासन में सुधार हेतु 1901 में स्पेशल कमिश्नर फॉर इण्डियन रेलवेज नियुक्त की गई। इस रॉबर्टसन समिति भी कहते हैं। इस समिति ने 1903 में भारत में रेल प्रशासन के लिये रेलवे बोर्ड का सुझाव दिया था। समिति ने यह भी *सिफारिश की कि रेलवे बोर्ड में रेलवे का व्यवहारिक ज्ञान रखने वाले सदस्यों को ही* स्थान दिया जाना चाहिए।

तत्कालीन भारत सरकार ने समिति के सुझावों को स्वीकार करते हुये रेलवे बोर्ड अधिनियम 1905 पारित किया और 1905 में रेलवे बोर्ड की स्थापना की थी। इस अधिनियम द्वारा रेलवे बोर्ड को वैधानिक आधार दिए जाने पर केन्द्रीय निर्माण विभाग ने रेलवे *संचालन का सम्पूर्ण कार्य रेलवे बोर्ड को हस्तांतरित कर दिया। रेलवे बोर्ड में चैयरमन* और दो सदस्य नियुक्त किए गए। ये सभी रेलों का व्यवहारिक अनुभव रखते थे। चैयरमन को रेलवे के सभी मामलो पर निर्णय लेने का दायित्व सौंपा गया। चैयरमन रेलवे बोर्ड द्वारा लिए गए सभी निर्णयों पर सारे बोर्ड द्वारा पुष्टीकरण आवश्यक था। शीघ्र यह अनुभव किया गया कि रेलवे बोर्ड अपने उत्तरदायित्व का सही निर्वाह नहीं कर रहा है। अतः 1908 *में रेलवे बोर्ड को एक स्वायत्त विभाग में बदल दिया गया। चैयरमैन को अपने साथियों* के निर्णय को रद्द करने का अधिकार प्रदान किया गया। चैयरमन की स्थिति विभागाध्यक्ष की हो गई। वह अब गवर्नर जनरल एवं उसकी परिषद् के सदस्यों से सीधे बातचीत कर सकता था।

भारत सरकार ने रेलवे बोर्ड के पुनर्गठन हेतु 1921 में एक समिति गठित की। *इस समिति को ऑकवर्थ समिति के नाम से जाना गया। इस समिति ने रेलवे बोर्ड में* सुधार हेतु अपने प्रतिवेदन में कई सिफारिशें दी थीं जिनमे से प्रमुख सिफारिशें थीं–

1. रेलवे बोर्ड का नाम बदलकर रेलवे आयोग किया जाना चाहिए।
2. आयोग को रेलवे से सम्बन्धित सभी प्रकार की नीतियाँ बनाने का अधिकार होना चाहिए।
3. *आयोग का सर्वोच्च अधिकारी आयुक्त होना चाहिए।*
4. आयुक्त की सहायता के लिए चार अन्य आयुक्तों की आयोग में नियुक्ति की जानी चाहिए।

5 मुख्य आयुक्त को सारे तकनीकी मामलात तथा नीतियों के निर्माण में सहायता प्रदान की जानी चाहिए
6 अन्य चार आयुक्तों में से एक वित्त आयुक्त होना चाहिए और
7 रेलवे बजट को सामान्य बजट से पृथक रखना चाहिए।

समिति के सुझावानुसार तत्कालीन ब्रिटिश सरकार रेलवे बोर्ड का नाम बदल कर रेलवे आयोग करने की पक्षधर न थी। आगे चलकर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने ऑकवर्थ समिति की अधिकांश सिफारिशें स्वीकार कर लीं और रेलवे बोर्ड में कई संगठनात्मक सुधार किये। रेलवे आयुक्त की नियुक्ति की गई। उसे नीतिगत और निर्णयात्मक मामलों में सर्वोच्च अधिकारी के अधिकार प्रदान किए गए। साथ ही यह अधिकार भी दिया गया कि आयुक्त अपने साथी आयुक्तों के विचारों को रद्द करते हुए निर्णय ले सकता।

सन् 1923 में रेलवे बोर्ड में एक वित्त आयुक्त का पद सृजित किया गया। वित्त आयुक्त को वित्तीय मामलों में निर्णय लेने का अधिकार भी प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त वित्त आयुक्त सदस्य होने के नाते रेलवे से सम्बन्धित सभी मामलों पर अपने विचार व्यक्त कर सकता था। वित्त आयुक्त का गवर्नर जनरल की परिषद् के वित्त सदस्य से सीधा सम्पर्क था। समिति की सिफारिश के अनुसार रेलवे बजट को सामान्य बजट से पृथक रखा गया।

रेलवे बोर्ड की प्रत्येक शाखा को एक-एक निदेशक के नियंत्रण में रखा गया। ये शाखायें थीं— सिविल इंजीनियरिंग, मेकेनिकल इंजीनियरिंग, ट्रैफिक, स्थापना तथा वित्त। प्रत्येक शाखा के लिये निदेशक को उत्तरदायी बना कर सदस्यों को रेल प्रशासन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों से मुक्त कर दिया गया ताकि वह अपना पूरा ध्यान रेलवे के नीतिगत मामलों पर केन्द्रित कर सकें। सन् 1923 के सुधारों से पूर्व रेलवे बोर्ड का सर्वोच्च अधिकारी प्रेसीडेन्ट ऑफ रेलवे बोर्ड कहलाता था। मुख्य आयुक्त रेलवे बोर्ड को इस पुनर्गठन द्वारा रेलवे विभाग में भारत सरकार के पदेन सचिव की स्थिति प्रदान की गई। सन् 1933 में भारत सरकार ने एक नया संचार विभाग स्थापित किया और रेलवे बोर्ड को प्रशासनिक दृष्टि से इसी संचार विभाग के अन्तर्गत रखा गया। संचार विभाग के सचिव को रेलवे बोर्ड का पदेन सचिव बना दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान 1942 में एक नया विभाग 'युद्ध यातायात विभाग' गठित किया गया और रेलवे बोर्ड को संचार विभाग से युद्ध यातायात विभाग को हस्तान्तरित कर दिया। अब संचार विभाग के सचिव के स्थान पर युद्ध यातायात विभाग के सचिव बोर्ड के पदेन सचिव हुए। यह व्यवस्था स्वतंत्रता प्राप्ति तक भारत में चलती रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दोनों विभाग रेलवे और यातायात एक ही मंत्री रेलवे एवं यातायात मंत्री के पास थे।

सन् 1951 में रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन किया गया। रेलवे बोर्ड में मुख्य आयुक्त का पद समाप्त कर उसके स्थान पर चैयरमन रेलवे बोर्ड का पद सृजित किया गया।

घोषणा की। इस प्रकार 1977 मे पुनर्गठित रेलवे बोर्ड म एक अध्यक्ष एक वित्त आयुक्त तथा तीन सदस्य– ट्रेफिक इजीनियरिंग तथा स्टाफ के रह गये। इन सभी सदस्यो को रेलवे बोर्ड मे कार्यरत विभिन्न निदेशालयों के निदेशको द्वारा सहायता दी जाती थी। इनके अलावा, वित्त, औद्योगिक सम्बन्ध और इलेक्ट्रीकल इजीनियरिंग से सम्बन्धित सलाहकार और यातायात के महानिदेशक भी बोर्ड की सहायता के लिए नियुक्त थे।

वर्तमान रेल प्रशासन

भारत के रेल प्रशासन के वर्तमान स्वरूप म रेल मन्त्रालय रेलवे बोर्ड सलाहकार मण्डल/समितियो, क्षेत्रीय रेलें उत्पादन यूनिट अन्य यूनिट और पब्लिक सेक्टर अडरटेकिग हैं। जैसा कि 1998 के रेलवे चार्ट मे दर्शाया गया है।

रेलवे मन्त्रालय के शीर्षस्थ अधिकारी रेल मत्री है। वह रेलवे के हितों का ससद में अनुरक्षण करता है। उसके इस कार्य में रेल राज्य मत्री एव रेल उपमत्री, यदि हो तो, सहायता करते हैं। रेल मत्री केवल राजनीतिक नेतृत्व और निदेशन रेल विभाग को देता है। वर्तमान में रेलवे बोर्ड मे चैयरमेन एक वित्त आयुक्त और चार अन्य कार्यात्मक सदस्य और एक सचिव है। चैयरमेन रेलवे बोर्ड की समस्त गतिविधियो के लिये उत्तरदायी है। यह एक कार्यकारी सदस्य होने के साथ-साथ रेल विभाग का प्रशासनिक अध्यक्ष भी है। यह रेल विभाग के नीतिगत मामलो म रेल मत्री को परामर्श देता है। इसे भारत सरकार के मुख्य सचिव का दर्जा प्राप्त है। अध्यक्ष (चैयरमेन) रेलवे बोर्ड की सहायता के लिए अन्य कार्यकारी सदस्य जैसे– इलेक्ट्रीकल मेकेनिकल इजीनियरिंग स्टाफ और वित्त आयुक्त हैं। इन सभी कार्यकारी सदस्यों के पास अपने-अपने क्षेत्रो के विशिष्ट कार्यों का उत्तरदायित्व भी है। सम्पूर्ण रेल प्रशासन को प्रशासनिक सुविधा हेतु नौ क्षेत्रो (जोन) मे विभक्त किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र का प्रशासन एक महाप्रबन्धक को सौंपा गया है। इस तरह रेलवे बोर्ड में नौ क्षेत्रीय महाप्रबन्धक हैं। महाप्रबधक की सहायता के लिये अतिरिक्त महाप्रबधक और विभिन्न विभागाध्यक्षों की नियुक्ति प्रत्येक जोन मे व्यवस्था बनाए रखने हेतु की जाती है। इसी तरह उत्पादन यूनिट में छ महाप्रबन्धक हैं जो पृथक-पृथक उत्पादनों के लिये उत्तरदायी हैं जैसे– (1) चितरजन लोकोमेटिव (2) डीजल लोकोमेटिव वर्क्स, (3) इन्टीग्रल कोच फैक्टरी, (4) रेल कोच फैक्टरी, और (5) व्हील एण्ड एक्सल प्लांट, (6) डीजल लोकोमेटिव वर्क्स वाराणसी। रेलवे बोर्ड के अन्य यूनिटो के लिए भी तीन महाप्रबन्धक हैं– (1) एन एफ रेलवे सगठन (2) मेट्रो रेलवे कलकत्ता और (3) सैन्ट्रल ऑर्गनाइजेशन फॉर रेलवे इलैक्ट्रीफिकेशन। तीन महा निदेशक हैं। जिनमें से एक महानिदेशक रिसर्च डिजाइन एण्ड स्टैन्डर्ड ऑर्गनाइजेशन (आर डी एस ओ) है। दूसरा महानिदेशक रेलवे स्वास्थ्य सेवा (आर एच ओ) और तीसरा रेलवे सुरक्षा बल (आर पी एफ) का कार्य देखता है। रेल मत्रालय के साथ कई पब्लिक सेक्टर अडरटेकिंग भी जुड़े हैं।

रेलवे का अपना स्टॉफ कॉलेज है जिसका प्रशासन कॉलेज प्रिंसिपल के नियत्रण में है। रेलवे का मुख्य प्रशासनिक अधिकारी सी ए ओ (आर) सेन्ट्रल ऑर्गनाइजेशन फॉर माडर्नाइजेशन ऑफ वर्कशाप्स (डीजल कम्पोनेंट्स) के कार्य को देखता है।

रेलवे बोर्ड की संरचना

(1998 के अनुसार)

रेल मंत्रालय / रेलवे बोर्ड

मंत्री

चैयरमैन (रेलवे बोर्ड)
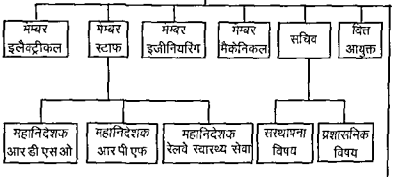
क्षेत्रीय रेलवे	उत्पादन इकाई	अन्य इकाइयाँ	पब्लिक सेक्टर अण्डरटेकिंग
9 क्षेत्रीय महाप्रबन्धक	6 महाप्रबन्धक	उत्तरी सीमान्त रेलवे	IRON आयरन
1 केन्द्रीय	1 चितरंजन लोकोमोटिव	संगठन (एन एफ रेलवे	RITES राइटस
2 पूर्वीय	2 डीजल लोकोमेटिव वर्क्स	ऑरगनाइजेशन)	ORIS ओरिस
3 उत्तरी	3 इन्ट्रीग्रल कोच फैक्टरी	मेट्रो रेलवे कलकत्ता	CONCOR कॉनकोर
4 उत्तरी पूर्वी	4 व्हील एण्ड एक्सल प्लाट	सेन्ट्रल ऑरगनाइजेशन	IRRO आइरो
5 उत्तरी पूर्वीय सीमान्त	5 रेलवे कोच फैक्टरी	फॉर रेलवे	KRC के आर सी
6 दक्षिणी	कपूरथला	इलैक्ट्रीफिकेशन	
7 दक्षिण केन्द्रीय	6 डीजल लोकोमेटिव वर्क्स	ए एल डी	
8 दक्षिण पूर्वीय	वाराणसी	3 महानिदेशक	
9 पश्चिमी		1 रिसर्च डिजाइन एण्ड स्टेन्डर्ड ऑर्गनाइजेशन (आर डी एस ओ)	
		2 रेलवे स्वास्थ्य सेवा, आर एच ओ	
		3 रेलवे प्रोटैक्शन फोर्स (आर पी एफ)	
		1 प्रिंसिपल रेलवे स्टाफ कॉलेज	
		2 चीफ एडमिनिस्ट्रेटर सेन्ट्रल ऑर्गनाइजेशन ऑफ वर्कशॉप्स (डीजल कम्पोनेंटस)	

नोट — पब्लिक सेक्टर अंडरटेकिंग

1. इरकॉन इंटरनेशनल लिमिटेड
2. रेल इंडिया टेक्नीकल एण्ड इकोनेमिक सर्विसज (राइटस)
3. भारतीय कंटेनर निगम लिमिटेड (कॉनकोर)
4. भारतीय रेल वित्त निगम (आई आर एफ सी)
5. कोंकण रेलवे कारपोरेशन (के आर सी)
6. इंडियन रेलवे रिसर्च ऑरगनाइजेशन (आइ आर आर ओ)

रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति मंत्रिमण्डल की नियुक्ति समिति की सिफारिश पर रेल मंत्री द्वारा की जाती है। बोर्ड के सदस्यों का कार्य-काल पांच वर्ष है। सेवानिवृत्ति आयु पूर्ण होने पर उन्हें कार्यकाल से पूर्व भी सेवानिवृत्त किया जा सकता है।

रेलवे बोर्ड में एक पद सचिव का है। सचिव का दर्जा भारत सरकार के संयुक्त सचिव के बराबर है। सचिव रेलवे बोर्ड के सामान्य प्रशासन, रेलवे बोर्ड प्रशासन की विभिन्न शाखाओं और रेल मंत्रालय का अन्य मंत्रालयों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। वह रेलवे बोर्ड की स्थापना शाखा से सम्बन्धित कार्यों की भी देखभाल करता है। उसकी सहायता के लिए संयुक्त सचिव, उपसचिव तथा अवर सचिव होते हैं।

वित्त आयुक्त रेलवे बोर्ड के वित्तीय मामलों के लिये उत्तरदायी है। इसकी सहायता के लिए निदेशक वित्त, निदेशक लेखा, निदेशक रेलवे आयोजना, निदेशक सांख्यिकी और अर्थशास्त्र आर्थिक सलाहकार होते हैं। वित्त आयुक्त वित्त मंत्रालय का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति है। उसे रेलवे व्यय से सम्बन्धित स्वीकृति प्रदान करने की पूरी शक्ति प्राप्त है। *वित्त कमीश्नर की स्वीकृति के बिना कोई भी रेल व्यय और रेल राजस्व सम्बन्धी प्रस्ताव वैध नहीं माना जाता है।*

रेलवे बोर्ड की कार्यप्रणाली

रेलवे सम्बन्धी निर्णय रेलवे बोर्ड की बैठकों में लिए जाते हैं। रेलवे बोर्ड की बैठक सप्ताह में दो बार होती है। आवश्यकता पड़ने पर बोर्ड की बैठक सप्ताह में दो बार से अधिक हो सकती है। बोर्ड की बैठक चैयरमेन रेलवे बोर्ड आयोजित करता है। वही बैठकों का सभापति होता है। चैयरमेन ही बोर्ड के सदस्यों के सुझावों को ध्यान में रखकर कार्यसूची तैयार करता है। कार्यसूची सदस्यों को भेजने का कार्य बोर्ड का सचिव करता है। सचिव ही बोर्ड की बैठकों की कार्यवाही लेखबद्ध करता है। कार्यवाही का प्रारूप तैयार कर चैयरमेन और सदस्यों को स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता है। बैठकों के निर्णयों को स्वीकृति के बाद सम्बन्धित फाइल में रखता है। तत्सम्बन्धी कार्यवाही हेतु सम्बन्धित निदेशक को भेज दिया जाता है।

रेलवे बोर्ड की कार्यप्रणाली में यह भी व्यवस्था है कि आवश्यकतानुसार रेलवे बोर्ड की रेलमंत्री के साथ बैठक आयोजित की जा सकती है। इस प्रकार की बैठकों के आयोजन का उद्देश्य यह है कि मंत्री द्वारा प्रस्तुत नीति सम्बन्धी मामलों पर विचार-विमर्श का निर्णय लिया जा सके। कारण यह है कि सभी नीति सम्बन्धी मामले बोर्ड के चैयरमेन द्वारा ही रेल मंत्री के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं। चैयरमेन रेलवे बोर्ड वित्त आयुक्त को छोड़कर शेष सभी सदस्यों के विचारों को रद्द कर सकता है। यदि कभी किसी वित्तीय मामले में चैयरमेन और वित्त आयुक्त में मतभेद उत्पन्न हो जाता है। तो उस विषय को रेलमंत्री तथा वित्तमंत्री के विचारार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि रेलवे से सम्बन्धित किसी वित्त प्रस्ताव से वित्त आयुक्त असहमत है, तो वह ऐसे मामलों को सीधा वित्त मंत्री को भेज सकता है।

रेलवे बोर्ड के कार्य

रेलवे बोर्ड या ता देश मे रेलो के कुशल संचालन के लिए उत्तरदायी है। यह रेल मंत्रालय के रूप मे कार्य करता है। अध्ययन की सुविधा के लिए रेलवे बोर्ड के कार्यों को निम्नलिखित शीर्षको मे बाटा जा सकता है –

1 **रेलवे प्रशासन**–रेलवे बोर्ड रेल प्रशासन की शीर्षस्थ प्रशासनिक संस्था है। रेलवे बोर्ड क्षेत्रीय रेलों और डिविजनल रेलो के अधीक्षण एव समन्वय का कार्य करता है। उन्हे निर्देश जारी करता है। सारे देश मे रेलो के कुशल संचालन नियमन देखभाल और नियत्रण का दायित्व रेलवे बोर्ड का है। चैयरमेन प्रशासनिक अधिकारी होने के नाते इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि बोर्ड के निर्णयो की सूचना तत्काल सम्बधित क्षेत्रीय महानिदेशको को पहुँचा दी जाय। नीतिगत और व्यवहारगत कार्यो मे समन्वय हेतु चैयरमेन क्षेत्रीय पदाधिकारियो के साथ बैठक आयोजित करता है। इन्ही बैठको मे क्षेत्रीय समस्याओ का समाधान किया जाता है।

2 **रेल नीति निर्धारण**–रेलवे बोर्ड रेल प्रशासन और रेल संचालन हेतु सर्वोच्च नीति निर्मा ी संस्था है। नीति सम्बन्धी सभी निर्णय रेलवे बोर्ड अपनी बैठको मे लेता है। बोर्ड के सभी सदस्य अपने-अपने क्षेत्रो के विकास से सम्बधित और क्षेत्रीय समस्याओ के समाधान से सम्बधित विषयो पर निर्णय लेते है। बोर्ड के सभी सदस्य अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर नीतिगत निर्णय लेते है। कई बार बोर्ड पूर्व मे लिये नीति सम्बन्धी निर्णयो मे सुधार हेतु निर्णय भी करते है। नई रेल लाइनो का बिछाना छोटी लाइन को बडी लाइन मे बदलना नई रेलो को चलाने यात्री किराया माल किराया यात्री सुविधाएँ आदि के सम्बन्ध मे नीतिगत निर्णय बोर्ड की बैठको मे ही लिए जाते है।

3 **रेल मंत्रालय सम्बन्धी कार्य**–रेलवे बोर्ड भारत सरकार के मंत्रालय के रूप मे कार्य करता है। रेलवे बोर्ड का शीर्षस्थ अधिकारी रेलमत्री है। बोर्ड एक सयुक्त निकाय के रूप मे समस्त नीति सम्बन्धी परामर्श रेलमंत्री को देता है। रेलमत्री रेलवे बोर्ड के तकनीकी कार्यो मे हस्तक्षेप नही करता है पर सामान्य रेल नीति और रेल वित्तीय मामलो मे वह बोर्ड को सलाह एव उचित आदेश देकर उसका मार्गदर्शन करता है। रेल मत्रालय के कार्यो का योजना आयोग एव अन्य मत्रालयो से समन्वय मे सहयोग करता है। रेलवे बोर्ड का चैयरमैन रेल मंत्रालय का पदेन प्रमुख सचिव होता है और अन्य कार्यकारी सदस्य भी मत्रालय के सचिव के रूप में कार्य करते है। रेलवे बोर्ड मंत्रालय के रूप मे भारत सरकार द्वारा चाही गई सभी सूचनाएँ उपलब्ध कराता है। रेलवे बोर्ड रेल मंत्रालय के रूप मे वार्षिक बजट तैयार करता है। जिसे रेल मत्री संसद मे स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करता है। संसद द्वारा स्वीकृत बजट को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व भी रेलवे बोर्ड का है।

4 **रेल कार्मिकों सम्बन्धी कार्य**–रेलवे भारत सरकार का सबसे बडा कार्मिक नियोजन विभाग है। इस मंत्रालय मे कर्मचारियो की भर्ती सेवा शर्तें पदोन्नति अनुशासनात्मक कार्यवाही, सेवानिवृति लाभ सम्बन्धी नीति निर्धारण मे रेलवे बोर्ड अहम् भूमिका निभाता है। कर्मचारियो के चयन हेतु रेलवे चयन बोर्ड है।

5 अन्य–रलव बार्ड दश म रेलो के कुशल सचालन हेतु समय सारिणी तैयार करता है। उसका प्रकाशन करता है। रलवे के विभिन्न मार्गो पर स्टेशनो विश्रामालया और तत्सम्बन्धी सुविधाओ का निर्धारण और निर्माण करता है। रलवे सम्पत्ति की रक्षा के लिए रेलवे बोर्ड आवश्यक व्यवस्था करता है। क्षेत्रीय स्तरो पर सहकारी उद्यम दला तथा प्रत्येक उत्पादन इकाई म सयुक्त परिषदो की व्यवस्था करता है। रेलवे स्टेशनो पर यात्रियो को खान-पान की सुविधाएँ उपलब्ध करान क लिए व्यक्तिगत निविदा दाताओ को आमत्रित करता है।

मूल्यांकन

रेलवे बोर्ड अपनी सगठनात्मक सरचना मे लाक उद्यम और भारत सरकार का मत्रालय दोनो ही है। यह एक सामूहिक निकाय है। सभी सदस्य कार्यात्मक है। इसम सचिवालयीय तथा प्रशासनिक दोना प्रकार के कार्यो का सामजस्य किया गया है। यह विशेषज्ञों की एक सस्था है जा नीति-निर्माण से लेकर नीति क्रियान्वयन तक के सभी कार्य करती है। बोर्ड के चैयरमेन के पास भी व्यापक शक्तियाँ एव अधिकार है।

इतने बडे लोक उद्यम मे कुछ कमियो का पाया जाना स्वाभाविक है। रेलवे के सचालन से जनसाधारण को कई असुविधाएँ और रेल कर्मचारियो मे व्याप्त भ्रष्टाचार की शिकायते अकसर पढने और सुनने को मिलती रहती है। उनके सदर्भ मे रेलवे कोई ठास कदम नही उठा पा रहा है। रेल समय सारिणी के अनुसार नही चल पाती है। आरक्षण म भी मनमानी की जाती है। वेटिंग लिस्ट म नाम हान वाले यात्रियो को आज भी आरक्षण नहीं मिल पाता है। उनक स्थान पर भ्रष्ट तरीक अपनाने वाला का आरक्षण का लाभ मिल जाता है। रलव बार्ड की नीति के अनुसार सुपरफास्ट ट्रेनो म निश्चित दूरी का टिकट जारी किया जाता है। यदि ट्रेन उस दूरी से पूर्व क स्टेशन पर रुकती है ता यात्री बिना टिकट यात्रा कर उतर जाता है और रेल विभाग का आर्थिक क्षति पहुचती है। उदाहरणार्थ जयपुर मुम्बई सुपरफास्ट म जयपुर से सवाई माधोपुर का टिकट नियमानुसार यात्री को नही दिया जाता है। ट्रेन प्रतिदिन सवाई माधोपुर 15 मिनट तक रुकती है। यहा ट्रेन का इजन चैज होता है। यात्री आराम स यात्रा करता है। इसी तरह मासिक पास बना कर यात्रा करने वाला का पसेन्जर गाडियों का मासिक पास बनाया जाता है। पर वह प्रतिदिन जल्दी घर पहुचन के लिए उसी पास द्वारा सुपरफास्ट ट्रेन म यात्रा करत है। अगर रेलव बार्ड द्वारा निरीक्षण की निरन्तर व्यवस्था बनाई रखी जाय ता विभाग का हाने वाली क्षति से काफी हद तक बचा जा सकता है।

इस सदर्भ म रेल कर्मचारिया क नैतिक उत्थान हेतु प्रयास भी आवश्यक है। जनसाधारण का गलत कार्यो हेतु दण्ड भी दिया जाना चाहिए। रलवे प्रशासन की सरचना में बिना कोई परिवर्तन किए इसकी भूमिका को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनाया जा सकता है। इसमे सन्देह नहीं है कि रेलवे बोर्ड रेल यातायात और जन सुविधाएँ प्रदान करन मे प्रमुख महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है और इस ओर निरन्तर प्रयासरत है।

□□□

अध्याय–17

भारतीय रिज़र्व बैंक

भारत के रिजर्व बैंक ने एक अप्रैल 1935 को हिस्सेदारों के बैंक के रूप में कार्य करना आरम्भ किया था। भारत के रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 के पारित होने से पूर्व मुख्य प्रश्नों पर पर्याप्त मतभेद थे– प्रथम क्या भारत के लिए पृथक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जानी चाहिए? द्वितीय भारत का इम्पीरियल बैंक जो कि भारत में केन्द्रीय बैंक के रूप कार्यरत है पर्याप्त है। क्या भारत के रिजर्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक होना चाहिए? या एक राज्य बैंक होना चाहिये?

स्पष्ट है कि 1935 से पूर्व भारत में कोई केन्द्रीय बैंक न था। कई आयोग समितियों और सम्मेलनों में इसकी सिफारिश की गई थी। जिनमें प्रमुख है– यंग आयोग 1926 केन्द्रीय जांच समिति 1931 और गोलमेज सम्मेलन 1933। गोलमेज सम्मेलन 1933 की सिफारिश पर एक प्रस्ताव 8 सितम्बर 1933 को केन्द्रीय व्यवस्थापिका के विचारार्थ प्रस्तुत किया गया जो शीघ्र ही पारित कर दिया गया जिस पर 6 मार्च 1934 को वायसराय ने हस्ताक्षर कर दिए।

भारत के रिजर्व बैंक ने हिस्सेदार बैंक के रूप में कार्य करना आरम्भ किया। इसकी अधिकृत पूँजी पांच करोड़ रुपये थी जो कि 100 रुपये के प्रत्येक हिस्से में विभक्त थी। सत्ता के कुछ हाथों में केन्द्रीयकरण से बचने के लिए हिस्सों का संग्रह हेतु कम या अधिक क्षेत्रानुसार हिस्सेदार लिये जाना तय किया गया। देश को पांच क्षेत्रों में विभाजित कर हिस्सेदारों को रिजर्व बैंक में स्थान दिया गया। आगे चलकर बर्मा के पृथक हो जाने पर चार क्षेत्रों बम्बई कलकत्ता दिल्ली और मद्रास के हिस्सेदारों का हिस्सा रिजर्व बैंक में रह गया। मार्च 1940 को रिजर्व बैंक अधिनियम को संशोधित किया गया। इस संशोधित अधिनियमानुसार, संशोधन के पश्चात किसी भी नवीन हिस्सेदार को रिजर्व बैंक का हिस्सेदार नहीं बनाया। केन्द्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी पांच करोड़ जो 100 रुपये के 5 लाख अंशों में विभक्त थी जिसमें से 2.20 लाख रुपये के अंश केन्द्रीय सरकार के थे। शेष निजी अंशधारियों द्वारा खरीदे गये थे। भारत सरकार ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सभी 5 लाख अंशों का स्वयं खरीद लिया। निजी अंशधारियों को उनके अंशों का भुगतान ब्याज सहित तत्काल कर दिया गया। भारत के रिजर्व बैंक की अधिकृत व प्रदत्त पूँजी वर्तमान में भी 5 करोड़ रुपये है। भारत के रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है।

राष्ट्रीयकरण से पूर्व भारत के रिजर्व बैंक के संचालक मण्डल में 16 सदस्य थे। एक गवर्नर दो उपगवर्नर (केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त) आठ निदेशक सरकार द्वारा मनोनीत आठ निदेशक विभिन्न क्षेत्रों के हिस्सेदारों द्वारा चयनित के अतिरिक्त एक सरकारी अधिकारी केन्द्र सरकार द्वारा नामजद किया जाता था। स्थानीय मण्डलों में आठ सदस्य हुआ करते थे। जिसमें से पांच को उस स्थान विशेष के हिस्सेदार चयन करते थे और तीन को केन्द्र सरकार मनोनीत करती थी।

रिजर्व बैंक का संगठन

रिजर्व बैंक की केन्द्रीय बैंक के रूप में प्रबन्ध व्यवस्था हेतु एक केन्द्रीय निदेशक मण्डल है जिसके बीस सदस्य हैं। बीस सदस्यों में से एक गवर्नर और चार डिप्टी गवर्नर केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। शेष पन्द्रह में से चार संचालक स्थानीय मण्डलों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। शेष ग्यारह सदस्यों में दस संचालक और एक अधिकारी भारत सरकार द्वारा मनोनीत या नियुक्त किया जाता है जैसा कि नीचे दर्शाया गया है -

रिजर्व बैंक संगठन

पूर्णकालिक 8(1A)		गवर्नर	(केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त)
	4	डिप्टी गवर्नर	(केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त)
8(1B)	4	संचालक	(स्थानीय मण्डलों से)
पूर्णकालिक 8(1C)	10	संचालक	(भारत सरकार द्वारा नियुक्त)
नहीं 8(1D)	1	अधिकारी	(भारत सरकार द्वारा नियुक्त)
कुल सदस्य	20		

गवर्नर और डिप्टी गवर्नर का कार्यकाल पांच वर्ष का होता है। गवर्नर और डिप्टी गवर्नर बैंक के पूर्णकालिक अधिकारी होते हैं। इन्हें सेवा कार्यकाल में निर्धारित वेतन दिया जाता है। गवर्नर और डिप्टी गवर्नर को पुनः नियुक्त किया जा सकता है। दस संचालकों का कार्यकाल चार वर्ष है। सरकारी अधिकारी सरकार द्वारा निर्धारित समय तक ही रिजर्व बैंक के निदेशक मण्डल का सदस्य रह सकता है। स्थानीय मण्डलों द्वारा मनोनीत चार संचालकों का कार्यकाल उनके स्थानीय मण्डल में सदस्यता के कार्यकाल के समानान्तर होता है।

गवर्नर और डिप्टी गवर्नर को छोड़कर निदेशक मण्डल के शेष सभी पंद्रह सदस्य पूर्णकालिक नहीं हैं। इन्हें केवल बैठकों में भाग लेने के लिए आने पर केवल यात्रा व्यय और अन्य भत्ते दिये जाते हैं। वर्ष में छः केन्द्रीय निदेशक मण्डल की बैठकों का प्रावधान है। एक बैठक तीन माह में अवश्य हो जानी चाहिए।

केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक के केन्द्रीय निदेशक मण्डल के अतिरिक्त चार स्थानीय मण्डल भारत की चारों दिशाओं में स्थित हैं- मुम्बई (पश्चिम में) कलकत्ता (पूर्व में) दिल्ली (उत्तर में) और चेन्नई (दक्षिण में) हैं। प्रत्येक स्थानीय मण्डल में पांच-

पाच सदस्य हैं। सभी को भारत सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। स्थानीय प्रधान कार्यालय भी इन्हीं राज्यो मे हैं।

स्थानीय मण्डलो के अतिरिक्त रिजर्व बैंक की कई शाखाएँ हैं। जिनके कार्यालय अहमदाबाद भुवनेश्वर गोहाटी जयपुर बगलौर हैदराबाद कानपुर नागपुर पटना मुम्बई भोपाल चण्डीगढ जम्मू व त्रिवनतपुरम मे हैं। रिजर्व बैंक के मुम्बई मे केन्द्रीय स्थानीय और शाखा तीनो कार्यालय स्थित हैं।

स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक का सगठन केन्द्र स्थान और शाखाओं मे कार्य सुविधानुसार *विभक्त है जैसा कि नीचे दर्शाया गया है –*

केन्द्रीय निदेशक मण्डल कार्यालय मुम्बई

स्थानीय प्रधान कार्यालय

मुम्बई दिल्ली कलकत्ता चेन्नई

रिजर्व बैंक शाखाएँ

अहमदाबाद भुवनेश्वर गुहाटी जयपुर बगलोर हैदराबाद

कानपुर नागपुर पटना मुम्बई भोपाल चण्डीगढ जम्मू त्रिवनतपुरम्

रिजर्व बैंक के केन्द्रीय कार्यालय मे निम्नलिखत 17 प्रमुख विभाग हैं–

1 सेविवर्ग नीति विभाग
2 मुद्रा प्रबन्ध विभाग
3 *सरकार एव बैंक खाते विभाग*
4 *ग्रामीण नियोजन एव साख विभाग*
5 व्यय एव बजट नियत्रण विभाग,
6 बैंकिग परिचालन व विकास विभाग
7 साख्यिकी विश्लेषण एव कम्प्यूटर सेवाएँ
8 *ओद्योगिक एव निर्यात साख विभाग*
9 *वित्तीय कम्पनिया का विभाग*
10 विनिमय नियत्रण विभाग
11 आर्थिक विश्लेषण एव नीति विभाग
12 निरीक्षण विभाग
13 प्रबन्धीय सेवा विभाग
14 बाह्य निवेश एव परिचालन विभाग
15 शहरी बैंक विभाग
16 परिसर विभाग,
17 सचिव का विभाग।

1. **सेविवर्ग नीति विभाग**–यह विभाग सेविवर्ग प्रशिक्षण और बैंक सविवर्ग सम्बन्धों के परिचालन सम्बन्धी मामला के लिये उत्तरदायी है। सविवर्ग की भर्ती उनकी सेवा सम्बन्धी शर्तों का निर्धारण और सेविवर्ग के वेतन सम्बन्धी मामले इस विभाग के अधीन हैं। विभाग को कार्यकुशलता की दृष्टि से चार अनुभागों– भर्ती अनुभाग प्रशिक्षण अनुभाग सेविवर्ग सम्बन्ध अनुभाग और हिन्दी अनुभाग में विभक्त किया गया है। रिजर्व बैंक ने अपने अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए 1 नवम्बर 1990 से प्राविडेण्ट फण्ड स्कीम के स्थान पर केन्द्रीय कर्मचारियों की भाँति पेंशन स्कीम को अपनाने का निश्चय किया है।

2 **मुद्रा प्रबन्ध विभाग**–यह विभाग मुद्रा नोटों की डिजाइन छपाई और उनको जारी करना सिक्कों की ढलाई और वितरण नकदी तिजोरी की स्थापना बैंक की प्रेषण सुविधा योजना केन्द्रीय और राज्य सरकारों के भी कारोबार सम्बन्धी ऐजेन्सी व्यवस्था और विदेशी केन्द्रीय बैंको तथा अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष की नीति और कार्य विधि से सम्बधित कार्य करता है।

3 **सरकार एव बैंक खाते विभाग**–यह विभाग केन्द्र और राज्य सरकारों के लेन-देन का देश के अन्तर और बाहर का हिसाब किताब रखने का कार्य करता है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक जैसी संस्थाओं के बैंक कार्यालय में रखे जाने वाले खाता से सम्बन्धित कार्य करता है।

4 **ग्रामीण नियोजन एव साख विभाग**–रिजर्व बैंक कृषि वित्त व्यवस्था का कार्य 1982 से पूर्व कृषि वित्त विभाग के माध्यम से सम्पादित करता था। जुलाई 1982 को राष्ट्रीय कृषि एव ग्रामीण विकास की स्थापना की गई और वित्त विभाग के कार्य उसे सौंप दिए गए। रिजर्व बैंक में ग्रामीण नियोजन और साख कार्य हेतु यह नया विभाग खोला गया। इस विभाग का कार्य कृषि ऋण सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञ कर्मचारियों को रखना सहकारी बैंकों तथा कृषि ऋण के क्षेत्र में लगी अन्य संस्थाओं के कार्यकलापों में समन्वय स्थापित करना है। सहकारी ऋण ढाचे को सुदृढ बनाने के लिए केन्द और राज्य सरकारों के साथ मिलकर सक्रिय कार्य करता है।

5 **व्यय एव बजट नियन्त्रण विभाग**– यह विभाग मुख्य लेखापाल के अधीन है। इस विभाग का कार्य इश्यू और बैंकिग मे रिजर्व बैंक के लेखे रखना और उनका पर्यवेक्षण करना है तथा इन विभागों के साप्ताहिक और मासिक आर्थिक लेखों का संकलन करना है। यह बैंक के विभिन्न कार्यालयों और विभागों द्वारा किये जाने वाले व्यय और बजट पर भी नियन्त्रण रखता है।

6 **बैंकिग परिचालन व विकास विभाग**– इस विभाग का प्रमुख कार्य भारतीय वाणिज्यिक बैंक व्यवसाय के पर्यवेक्षण नियन्त्रण और विकास का है। यह विभाग बैंकिंग विनियमन अधिनियम 1949 का वाणिज्यिक बैंकों पर लागू करता है। यह विभाग रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकृत बैंकों से सम्बन्धित उन कर्तव्यों का पालन भी करता है जो बैंकिंग कम्पनी अधिनियम, 1970 के अधीन उसे सौंपे गए हैं। इस विभाग का कार्य दो प्रभागों–

परिचालन प्रभाग और निरीक्षण प्रभाग मे विभाजित है। अहमदाबाद बैंगलोर भुवनेश्वर जयपुर मुम्बई कलकत्ता हैदराबाद कानपुर मद्रास दिल्ली और त्रिवेन्दरम इसके क्षेत्रीय कार्यालय हैं।

7 सांख्यिकी विश्लेषण एव कम्प्यूटर सेवाएँ–साख्यिकी विभाग का प्रमुख कार्य आर्थिक व्यवस्था के बैकिग और वित्तीय क्षेत्रो की जानकारी एकत्रित कर उन्हे सकलित करना है। इस विभाग का कार्य आर्थिक विभाग के कार्य का पूरक है। यह विभाग पाँच प्रभागो में बटा है –

1 कम्पनी वित्त और निधियो का आगम
2 आकडो का निवर्तन
3 अर्थ वित्तीय अध्ययन तथा साख्यिकी आसूचना
4 बुलेटिन करेन्सी रिपोर्ट और अन्य प्रकाशन और
5 कम्प्यूटर सेवाये।

यह विभाग रिजर्व बैंक के प्रकाशनो के उस अश को तैयार करने के लिए उत्तरदायी है जिसमे सामयिक साख्यिकी आकडे रहते हैं। कम्प्यूटर विभाग रिजर्व बैंक और *अन्य बैको को कम्प्यूटर द्वारा कार्य करने के लिए प्रेरित करता है तथा सभी सूचनाओ को कम्प्यूटरीकृत करता है।*

8 औद्योगिकी एव निर्यात साख विभाग–*राज्य वित्तीय निगमो के प्रति रिजर्व* बैंक के जो कार्य और कर्त्तव्य हैं वे इस विभाग द्वारा निभाए जाते हैं। यह विभाग भारत सरकार के अभिकर्त्ता के रूप मे उसकी ऋण गारटी योजना को चलाता है और इस उद्देश्य के लिए उसे गारटी सगठन का नाम दिया गया है। राज्य के वित्त निगमो को ऋण देने उनके बाड जारी किए जाने के सम्बन्ध मे परामर्श दिए जाने और बाड जारी किए जाने का अनुमोदन करने, नीति और क्रिया विधि सम्बन्धी प्रश्नो का सामान्य मार्ग दर्शन देने के लिए यह विभाग कार्यवाही करता है।

9 वित्तीय कम्पनियों का विभाग–रिजर्व बैंक का यह विभाग कम्पनियो द्वारा दिए जाने वाले ऋण सम्बन्धी नीति का निर्धारण करता है। नेशनल हाउसिग बैक और हुडको की आय ससाधनो को बढाने में रिजर्व बैंक सहायता करता है। नेशनल हाउसिग बैंक की स्थापना जुलाई 1988 में की गई थी। यह विभाग वित्तीय कम्पनियों का मार्गदर्शन करता है तथा उन्हे दिशा निर्देश प्रदान करता है।

10 आर्थिक विश्लेषण एव नीति विभाग–*यह विभाग व्यापारिक बैंकिग आकडे एकत्रित करने के लिए सर्वेक्षण का कार्य करता है। इन आकडो का उद्देश्य बैंकिग और ऋण नीतियो का निर्धारण और चयनात्मक ऋण नियत्रण के परिचालन मे बैकों की सहायता करना है। यह विभाग बैंकिग समस्याओ पर अनुसधान कर विश्लेषण करता है।* भारत के भुगतान आवेश के आकडों को सकलित कर उनका शोधन करता है और भावी वित्तीय नीति के निर्धारण में सहायता करता है। मुद्रा नीति मे होने वाले परिवर्तनों के साथ सम्पर्क बनाए रखता है।

11 विनिमय नियत्रण विभाग–यह विभाग विनिमय मूल्य स्थिर रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। विभाग अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तथा देश मे मौद्रिक तथा साख की स्थिति को नियत्रण म रखता है ताकि विकास के लिए आतरिक स्थिरता तथा बाह्य स्थिरता मे बराबर की वृद्धि न हो वरन दोनो कम ज्यादा एक दूसरे पर निर्भर हो।

12 निरीक्षण विभाग–इस विभाग का अधिकारी निरीक्षक होता है। यह विभाग बैंक के विभिन्न कार्यालयो और विभागा का समय-समय पर आतरिक निरीक्षण करता है और इन कार्यालयो के सामान्य कार्य सचालन के सम्बन्ध मे अपना प्रतिवेदन व्यय और बजट नियत्रण विभाग को भजता है। वास्तविक कार्य भार की दृष्टि स विभिन्न श्रणी के कर्मचारियो की पर्याप्तता की जाच भी इसी विभाग द्वारा की जाती है।

13 प्रबन्धीय सेवा विभाग–यह विभाग सगठन और पद्धति के अन्तर्गत रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई कार्य विधि की निरन्तर जाच करता है। उनमे सुधार लाने के लिए सुझाव देने का भी कार्य करता है। रिजर्व बैंक के परिचालन और कार्य सम्बन्धी दक्षता सर्वोत्तम स्तर पर बनाये रखने के लिए यह विभाग एक स्थायी तत्र के रूप मे कार्य करता है।

14 बाह्य निवेश एव परिचालन विभाग–यह विभाग केन्द्र सरकार द्वारा रिजर्व बैंक का भारतीय रक्षा नियमो के अन्तर्गत सौपे गये कार्यों को करता है। सितम्बर 1939 म विदेशी मुद्रा सोन चादी और प्रतिभूतियो के लेन-देन पर नियत्रण रखने के लिये विदेशी मुद्रा नियत्रण विभाग को रिजर्व बैंक मे स्थापित किया गया था। उदारीकरण की नीति को अपनाकर भारत म बाह्य निवेश को प्रोत्साहन दिया गया और रिजर्व बैंक मे विदेशी मुद्रा नियत्रण विभाग का नाम बाह्य निवेश एव परिचालन विभाग किया गया। यह विभाग बैंक परिचालन और विकास विभाग के साथ मिलकर प्राधिकृत व्यापारियो के विदेशी मुद्रा विभागो का निरीक्षण एव परिचालन का कार्य करता है।

15 शहरी बैंक विभाग–यह विभाग रिजर्व बैंक द्वारा शहरी क्षेत्र मे खोले गए नए बैंको बैंको की शाखाओ को लाइसेंस जारी करने का कार्य करता है। विभाग उद्योगो और व्यवसाय की वृहत् सम्भावनाओ वाले क्षेत्रो का पता लगाने हेतु सर्वेक्षण कार्य करता है। विभाग विशेष शाखाओं की स्थापना हेतु प्रार्थना-पत्रो की योग्यता के आधार पर स्वीकृत करता है।

16 परिसर विभाग–यह विभाग रिजर्व बैंक के कार्यालयो प्रशिक्षण सस्थाओ और कर्मचारियो के आवास हेतु निर्माण कार्य करवाने के लिए उत्तरदायी है। जहाँ भी आवश्यक होता है यह विभाग कार्यालय और आवास दोनो ही प्रयोजनो के लिए निदेशक मण्डल के निर्देशानुसार भवन बनवाता है या उपयुक्त परिसर किराए पर लेने की व्यवस्था करता है। इन कार्यो के लिए उपयुक्त स्थल का चुनाव मानचित्रो का निर्माण निर्माण कार्यों के लिए करार और उसकी प्रगति पर निगरानी यही विभाग रखता है।

17. सचिव विभाग–इस विभाग का सम्बन्ध विशेषत रिजर्व बैंक की नीति को प्रभावित करने वाले विभिन्न विषयो से है। इस विभाग का कार्य रिजर्व बैंक के खुले बाजार

सम्बन्धी लन-दन केन्द्रीय आर राज्य सरकारा क ऋण कोष क बिलो को जारी करना नीति विषयक मामल केन्द्र आर राज्य सरकाग का अर्थपूर्ति हतु अग्रिम स्वीकृत करना सरकारा के अधिशय निधियों क निवेश करन सम्बन्धी मामले अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण आर विकास बैंक क साथ रिजव बैंक के लन-दन स सम्बन्धित हैं। यह विभाग कन्द्रीय बार्ड आर उसकी समिति स सम्बन्धित सचिवालयीय कार्य भी करता है।

रिजर्व बैंक ने अपन अधिकारिया और पर्यवेक्षको की नियुक्ति परीक्षाआ ओर साक्षात्कार क माध्यम से करने के लिए जुलाई 1968 में सवा बोर्ड की स्थापना की थी। बार्ड में अशकालिक अध्यक्ष और पूर्णकालिक सदरय और अन्य सदस्य है। जिनकी नियुक्ति रिजर्व बैंक क गवर्नर द्वारा की जाती ह। सवा बार्ड नियुक्ति हतु चयन के साथ अनुशासनात्मक कार्यवाही के प्रश्न पर भी अपनी सलाह देता है।

रिजर्व बैंक ने अपने अधिकारिया कर्मचारिया का प्रशिक्षित करन के लिए प्रशिक्षण सस्थान स्थापित किए हैं। जिनमें प्रमुख प्रशिक्षण सस्थान ह –

(1) बेंकर्स प्रशिक्षण महाविद्यालय मुम्बई

(2) कृषि बैकिंग महाविद्यालय पुणे

(3) रिजर्व बैंक स्टाफ महाविद्यालय चन्नई और

(4) क्षेत्रीय प्रशिक्षण सस्थान दिल्ली मुम्बई कलकत्ता।

रिजर्व बैंक का एक प्रधान आर्थिक सलाहकार है जा रिजर्व बैंक को बैंकिग वित्त आर्थिक ज्ञान तथा अनुसधान विषयक सलाह देता है।

रिजर्व बैंक के कई कार्य हैं। सभी कार्यो को मोटे तौर पर दो भागा म विभक्त कर रामझा जा सकता है –

(1) रिजर्व बैंक के एक केन्द्रीय बैंक के रूप मे कार्य तथा

(2) रिजर्व बैंक के एक व्यापारिक बैंक के रूप मे कार्य।

रिजर्व बैंक अन्य किसी केन्द्रीय बैंक सस्थान की भाँति देश में साख और मुद्रा पर नियत्रण रुपये के परिवर्तन मूल्य की व्यवस्था और सरकार लन-देन की व्यवस्था करता है।

अत रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्यो का उल्लेख निम्नलिखित रूप मे किया जा सकता है –

1 नोट जारी करना–*रिजर्व बैंक को भारत का केन्द्रीय बैंक हाने के नाते* रिजर्व बैंक ऑफ इडिया अधिनियम के अन्तर्गत नाट जारी करने का एकाधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक न्यूनतम कोष पद्धति के आधार 2 5 10 20 50 100 500 और 1000 रुपय के नोट जारी कर सकता है। न्यूनतम कोष पद्धति के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के पास 200 कराड रुपये का कोष होना जरूरी है। इन 200 करोड के कोष में से 115 करोड का स्वर्ण और शेष 85 करोड राशि विदेशी प्रतिभूतियों में हो सकती है। भारत के रिजर्व बैंक के इस कार्य हेतु इग्लैण्ड की भाँति दो विभाग हैं– (1) नोटी जारी विभाग (2) बैकिंग प्रभाग।

2 साख नियन्त्रण–रिजर्व बैंक का केन्द्रीय बैंक के रूप मे दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य साख नियन्त्रण है। साख नियन्त्रण के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित कार्य करता है।

(i) बैंक दर
(ii) खुले बाजार की क्रियाएँ
(iii) नकद कोषो के अनुपात मे परिवर्तन
(iv) तरल कोषों मे परिवर्तन
(v) चयनात्मक साख नियन्त्रण
(vi) बिल बाजार योजनाएँ
(vii) बहुमुखी ब्याज दरें (पुनर्वित्त)
(viii) नैतिक दबाव की नीति

जैसे कार्यकलापो की सहायता से बैंको का नियन्त्रण करता है। प्रत्येक का विस्तृत वर्णन निम्नांकित है –

(i) बैंक दर–भारत का रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंको के सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है। उनके प्रथम श्रेणी बिलों को भुनाता है। जिस दर पर वह ऋण दिया जाता है तथा प्रथम श्रेणी के बिलों का भुगतान किया जाता है। वह बैंक दर कहलाती है। रिजर्व बैंक समय-समय पर इस बैंक दर में परिवर्तन करता रहता है।

(ii) खुले बाजार की क्रियाएँ–खुले बाजार की क्रियाओ के अन्तर्गत अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियों प्रथम श्रेणी के बिलों व प्रतिज्ञा पत्रों आदि का क्रय विक्रय आता है। रिजर्व बैंक जब इन प्रतिभूतियों को बेचता है तो जनता उसे खरीदती है। जिससे जनता का इन प्रतिभूतियों म विनियोजन हो जाता है। फलत मुद्रा की पूर्ति मे कमी आ जाती है। इसी तरह जब रिजर्व बैंक द्वारा इन प्रतिभूतियों को खरीदा जाता है, तो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है। यही कारण है कि खुले बाजार की क्रियायों का साख नियन्त्रण मे उपयोग किया जाता है। रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत खुले बाजार की क्रियायों का अधिकार भारत मे रिजर्व बैंक को प्राप्त है।

(iii) नकद कोषों के अनुपात में परिवर्तन–प्रत्येक अनुसूचित बैंक को रिजर्व बैंक के पास अपनी जमाओ का एक न्यूनतम प्रतिशत जमा कराना पड़ता है। रिजर्व बैंक समय-समय पर इस न्यूनतम प्रतिशत जमा म परिवर्तन कर साख पर नियन्त्रण रखता है। रिजर्व बैंक न्यूनतम प्रतिशत जमा 20% तक कर सकता है।

(iv) तरल कोषों में परिवर्तन–रिजर्व बैंक अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत प्रावधान है कि प्रत्येक अनुसूचित बैंक अपनी कुल जमा को कम से कम 20 प्रतिशत तरल रूप मे अपने पास अवश्य रखेगी। सन् 1962 में इस अनुपात म वृद्धि की गई और बैंक की तरल जमा कुल जमा का 25% की गई। इसम समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। अब 25% से बढ कर तरल जमा राशि 38.5% हो गई है।

के तहत जमा स्वर्ण को इसी उद्देश्य के लिए अन्य नामित बैंकों को उधार दे सकते हैं। केन्द्रीय बैंक ने बैंक दर और रिपो दरों में कोई बदलाव नहीं किया है और आरक्षित नकद अनुपात को भी नहीं बदला।

रिजर्व बैंक ने अभी इसी महीने के शुरू में बैंक दर को एक प्रतिशत घटाकर 7% और सी.आर.आर. को 9% से घटा कर 8% कर दिया है। रिपो दर 6% से 5% कर दी गई है। रिजर्व बैंक ने मुद्रा और ऋण बाजार में सुधार के कार्यक्रमों को बढ़ाने के लिए कई नये उपायों की घोषणा की है। रिजर्व बैंक वास्तविक अर्थों में ऋण सहायता का अंतिम आश्रय बनने की घोषणा करता रहा है। इस पर अमल करने के लिए उसने सरकारी प्रतिभूतियों को वापिस खरीदने की वर्तमान प्रणाली में बदलाव किया है।

नई नीति में कहा गया है कि वर्तमान अंतरिम तरलता समायोजन नीति के स्थान पर 5 जून से स्थायी तरलता समायोजन सुविधा लागू की जायेगी। एल.ए.एफ. में रिपो की नीलामी की जायेगी और इसकी नीलामी में केवल वे बैंक और प्राथमिक डीलर ही भाग ले सकते हैं जो सांविधिक सामान्य बही खाता रखते हैं और रिजर्व बैंक के साथ करंट एकाउन्ट खोले हुए हैं। बोली सुबह 10.30 बजे लगानी होगी। शुक्रवार को छोड़कर नीलामी एक दिन की होगी। वर्तमान अंतरिम नीति में रिजर्व बैंक तरलता बनाए रखने में सरकारी प्रतिभूतियों की पुनर्खरीद की एक दर निश्चित करता है।

सी.आर.आर. और प्रतिभूतियों की पुनर्खरीद दरों में भी कटौती की गई है। रिजर्व बैंक ने निर्यात साख को तरल बनाने हेतु एक नवीन नीति की घोषणा की है।

3. सरकार का बैंक–भारत का रिजर्व बैंक केन्द्र और राज्य सरकारों के बैंकर के रूप में कार्य करता है। रिजर्व बैंक केन्द्र और राज्य सरकारों को उनकी आर्थिक और मौद्रिक नीतियों में सलाह देने का कार्य करता है। सरकार का बैंकर होने के नाते बिलों को एकत्रित करने, राशि स्वीकार करने और भुगतान करने का कार्य करता है। केन्द्र और राज्य सरकारों की तरफ से ऋण देता है। सरकारों की तरफ से ऋण शर्तों का निर्धारण करता है। रिजर्व बैंक सार्वजनिक ऋण, कृषि वित्त, सहकारिता, औद्योगिक वित्त, पूँजी विनियोग, पंचवर्षीय योजनाओं के सम्बन्ध में वित्तीय पहलुओं पर सरकार को सलाह देता है।

4. बैंकों का बैंक–रिजर्व बैंक बैंकों का बैंक है। इसे बैंकों के नियमन का अधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक के पास व्यापारिक बैंकों की नकद निधि जमा रहती है। कोई भी नया बैंक या नई शाखा रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना नहीं खोली जा सकती है। देश के समस्त बैंकों को सारा नियंत्रण, बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएँ, बैंकों की निधि आदि कार्यों के लिए रिजर्व बैंक नीतिगत निदेश जारी करता है। रिजर्व बैंक बैंकों के लिये उसी तरह से कार्य करता है जैसे कोई बैंक अपने ग्राहक के लिये करता है। स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक और बैंकों के मध्य सम्बन्ध बैंक और ग्राहक का है। रिजर्व बैंक बैंकों के बिलों को भुनाता है। उनके समाशोधन की व्यवस्था करता है। रिजर्व बैंक बैंकों को अवांछनीय कार्य करने से रोकता है। उनका शुभचिंतक एवं नियंत्रक है।

5 रुपये के विदेशी विनिमय का नियमन–रिजर्व बैंक रुपये के विदेशी विनिमय नियमन का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इस बात का ध्यान रखता है कि रुपये के विदेशी विनिमय की दर स्थिर रहे। रिजर्व बैंक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित नीतियो और भारत सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा के विनिमय हेतु सभी प्रकार की कार्यवाही करता है।

6 निजी क्षेत्रों को बैंकिंग लाइसेंस–निजी क्षेत्र मे बैंकिंग सेवाये देने वाले संस्थानो को लाइसेंस जारी करने का कार्य भी रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है।

7 ग्रामीण नियोजन एव साख–रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को कृषि वित्त व्यवस्था का भार सौंपा गया है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए रिजर्व बैंक मे पृथक कृषि वित्त विभाग स्थापित किया गया है। 12 जुलाई 1982 को राष्ट्रीय कृषि एव ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना की गई और कृषि वित्त विभाग के सारे कार्य उसे सौंप दिए गए। नया ग्रामीण नियोजन एव साख विभाग बनाया गया है। यही विभाग अब ग्रामीण नियोजन और साख का कार्य करता है।

8 आकड़ों का सकलन एव प्रकाशन–रिजर्व बैंक मुद्रा साख बैंकिंग विदेशी विनिमय विदेशी व्यापार भुगतान सन्तुलन औद्योगिक एव कृषि उत्पादन मूल्य प्रवृत्तियो आदि के आकडो का सग्रह प्रकाशन का कार्य करता है।

9 प्रशिक्षण की व्यवस्था–रिजर्व बैंक अपने बैंक अधिकारियो और अन्य बैंक अधिकारियो के प्रशिक्षण हेतु व्यवस्था करता है। इसके लिए रिजर्व बैंक ट्रेनिंग कॉलेज है।

10. किन्ही विशेष परिस्थितियों में रिजर्व बैंक राजकीय रक्षण वस्तुओ का क्रय विक्रय कर सकता है। इस तरह विनिमय बिलो पर बट्टा प्राप्त करने का अधिकार भी रिजर्व बैंक को है।

11 व्यापारिक बैंक सेवा–रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंक के रूप मे निम्नलिखित कार्य करता है –

(i) केन्द्र सरकार राज्य सरकारो बैंको संस्थाओ एव व्यक्तियो से बिना ब्याज के जमा स्वीकार करना

(ii) अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशो की केन्द्रीय बैंको मे खाता खोलना

(iii) भारत मे शोधनीय अधिकतम 90 दिन की अवधि के ऐसे बिलो एव प्रतिज्ञा पत्रों का क्रय एव विक्रय करना तथा उनको पुन भुनाना जिस पर दो श्रेष्ठ हस्ताक्षर हो

(iv) विश्व बैंक के साथ लेन देन करना

(v) स्वर्ण सिक्को एव धातु का क्रय-विक्रय करना

(vi) भारत मे शोधनीय अधिकतम 35 माह की अवधि के दो श्रेष्ठ हस्ताक्षरों से युक्त कृषि बिलो एव प्रोनोटो को क्रय करना उनका विक्रय करना एव उनकी पुन कटौती करना

(vii) मुद्रा प्रतिभूतियो व आभूषणो आदि को सुरक्षित रखना

(viii) अधिकतम 30 दिन की अवधि के लिए अधिक से अधिक कुल पूँजी की राशि तक के ऋण अन्य देशो के केन्द्रीय बैंक या अपने ही सदस्य बैंको से लेना

(ix) भारत के बाहर अन्य किसी देश की ऐसी प्रतिभूतियो को खरीदना जो कि क्रय की तारीख से 10 वर्ष के अन्दर शोधनीय हो।

(x) सदस्य बैंको से दो लाख या इससे अधिक की राशि के विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना।

रिजर्व बैंक की भूमिका

रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक होने के नाते देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विशेषकर देश की औद्योगिक वित्त व्यवस्था और ग्रामीण साख व्यवस्था मे रिजर्व बैंक ने योगदान दिया है। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् औद्योगीकरण के कारण औद्योगिक वित्त की माग दिन-प्रति-दिन बढती जा रही थी। इन मागो की पूर्ति के लिये भारत सरकार ने कई वित्तीय निगम स्थापित किए। इन वित्तीय निगमो में रिजर्व बैंक ने अपनी काफी पूँजी लगाई है। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक में तो पूरी पूँजी ही रिजर्व बैंक ने लगाई है। स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक ने उद्यमो के विकास में अपना योगदान अप्रत्यक्ष रूप से किया है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने औद्योगिक वित्त के लिए कुछ विशेष व्यवस्थाएँ भी की हैं। जैसे– राष्ट्रीय औद्योगिक साख कोष की स्थापना। यह दीर्घकालीन कोष है। इसकी स्थापना 1964 मे की गई थी। भारतीय औद्योगिक बैंक को ऋण देना और छोटे उद्योगों के लिये साख गारण्टी योजना।

रिजर्व बैंक अपने प्रारम्भिक काल 1935 से ही अपने कृषि विभाग के माध्यम से राज्य सहकारी बैंक व अन्य बैंकों के कार्यो के बीच समन्वय स्थापित करता आया है। परन्तु रिजर्व बैंक ने ग्रामीण क्षेत्र में अधिक सहायता प्रदान करने के लिए 1956 में दो कोष स्थापित किए थे।

(1) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष

(2) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष।

सन् 1982 में राष्ट्रीय कृषि एव ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना के बाद ये दोनों कोष इसे हस्तातरित कर दिए गए है।

भारत सरकार द्वारा आर्थिक विकास और लोककल्याण की पचवर्षीय योजनाओं के कारण रिजर्व बैंक के कार्यों में वृद्धि हुई है, और निरन्तर हो रही है। जिन कार्यों को पूर्व मे केन्द्रीय बैंक की परिधि मे नही रखा जाता था उन्हें भी रिजर्व बैंक को सौपा जा रहा है। रिजर्व बैंक अपने विभाग और अपने अधीन पजीकृत सभी बैंकों और उनकी शाखाओं के लिए नियामकीय कार्य करता है, उन्हें निदेश देता है, उनका मार्गदर्शन

करता है। इसने सहकारिता को बढावा दिया है। सरकार का बैंकर होने के नाते सर्वेक्षण कर सरकार को वित्तीय मामलो मे परामर्श देने का कार्य करता है। रिजर्व बैंक जमा-कर्त्ताओं के हितो की रक्षा करता है। आज रिजर्व बैंक बैकिग व्यवस्था की किसी भी शिकायत या समस्या पर ध्यान देता है। तत्सम्बन्धी कार्यवाही तत्काल करने हेतु तत्पर रहता है।

इसमे सन्देह नहीं है कि रिजर्व बैंक की सुलभ मुद्रा नीति के कारण ही भारतीय उद्योग कृषि और वाणिज्य की बढती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है। रिजर्व बैंक विनिमय दरो को स्थिर बनाए रखने में सफल हुआ है। रिजर्व बैक ही केन्द्र और राज्य सरकारों के बढ़ते हुए आय-व्यय की व्यवस्था मे सहायता करता है।

□□□

अध्याय–18
केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीनकाल से ही शासको ने भारत मे जन कल्याण की ओर विशेष ध्यान दिया है। *ब्रिटिश शासन काल मे जन कल्याण को गम्भीरता से लिया गया। सन 1935 मे प्रान्तों* मे कांग्रेस मन्त्रालयो के गठन के साथ समाज कल्याण कार्यक्रमों को मान्यता देना आरम्भ किया गया। परन्तु द्वितीय युद्ध के कारण जन कल्याण परियोजनाओ पर ध्यान नहीं दिया जा सका। ऐच्छिक संस्थान अपनी सामर्थ्य के अनुसार देश मे कल्याणकारी क्षेत्र में कार्य कर रहे थे। स्वतन्त्रता के पश्चात संविधान निर्माताओ ने समाज कल्याण कार्यक्रमो की ओर गम्भीरता से विचार किया। संविधान के अनुच्छेद 17 में राज्य मे अस्पृश्यता को समाप्त करने अनुच्छेद 46 मे शोषण का अन्त और सामाजिक अन्याय समाप्त करने, अनुच्छेद 19 में जाति के आधार पर भेद-भाव समाप्त करने, अनुच्छेद 29 मे किसी व्यक्ति को जाति के आधार पर शिक्षण संस्थान मे प्रवेश की अनुमति न देने, सम्बन्धी उल्लेख किया गया है।

अनुच्छेद 16 के अनुसार लोक सेवाओ मे अनुच्छेद 32-34 के अनुसार विधानमण्डल में पदो के आरक्षण की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 164 के अन्तर्गत उनके हितो की रक्षा के लिए विशेष अधिकारियो को नियुक्त किया जाता है। अनुच्छेद 224 के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्र और जनजाति क्षेत्रो के प्रशासन एव नियन्त्रण की व्यवस्था भी संविधान में की गई है। संविधान के नीति निदेशक तत्वों में कहा गया है कि– राज्य जनता के दुर्बलतम वर्गों– विशेषतया अनुसूचित जातियो, जनजातियो और आदिम जातियो की शिक्षा तथा आर्थिक हितो की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा और सामाजिक अन्याय एव सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।' भारत के संविधान की प्रस्तावना मे भी इस बात पर बल दिया गया है कि– राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का पूर्ण प्रयास करेगा जिसमे सभी को सामाजिक आर्थिक व राजनीति न्याय प्राप्त हो सके।'

उक्त संवैधानिक दायित्व को ध्यान मे रखते हुए अगस्त 1953 में तत्कालीन शिक्षा मन्त्रालय ने एक प्रस्ताव द्वारा केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की। समाज कल्याण बोर्ड का कार्य उस समय देश में कार्यरत 6000 ऐच्छिक संगठनो के कार्यों मे समन्वय स्थापित करना था। केन्द्रीय स्तर पर समाज कल्याण परामर्शदात्री बोर्ड स्थापित

किया गया और राज्य स्तर पर राज्य समाज कल्याण परामर्शदात्री बोर्ड द्वारा समाज कल्याण योजनाओं को लागू किया जाता है। प्रत्येक राज्य मे अगस्त 1954 में समाज कल्याण परामर्शदात्री निकाय राज्य सरकारो द्वारा स्थापित किए गए। प्रत्येक राज्य मे समाज कल्याण विभाग हैं जिसका अध्यक्ष भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी है। यह विभाग सरकार द्वारा निर्णीत नीतियो के क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी है। राज्यो में समाज कल्याण निदेशालय भी गठित किए गए हैं। परामर्शदात्री निकाय का अध्यक्ष गैर सरकारी सामाजिक कार्य करता है। बोर्ड मे सरकारी और गैर सरकारी दोनों तरह के सदस्य होते हैं। इनका कार्यकाल एक वर्ष रखा गया। गैर सरकारी सात सदस्यो में से 5 महिला + एक प्रतिनिधि लोकसभा + एक प्रतिनिधि राज्य सभा के होते हैं + चार पदेन मनोनीत केन्द्रीय मत्रालयो शिक्षा स्वास्थ्य श्रम और वित्त। बोर्ड के पास स्वय के कर्मचारी अधिकारी होते हैं जो राज्य मे समाज कल्याण परियोजनाओं में समन्वय स्थापित करते हैं। राज्य डिप्रेस्ड लोगों के लिए भी कई कल्याणकारी योजनाएँ चलाता है।

जिला स्तर पर समाज कल्याण गतिविधियों के लिए जिला कल्याण अधिकारी उत्तरदायी हे। जिला कल्याण अधिकारी अन्य कार्यक्रमो के साथ हरिजन कल्याण भी देखता है। प्रत्येक जिले मे समाज कल्याण समिति हाती हे जिसका अध्यक्ष महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्यकर्ता होता है। समिति समाज कल्याण मण्डल की कल्याणकारी परियोजनाओं को लागू करने में सहायता करती है। समिति स्थानीय जिला अधिकारी के घनिष्ठ सहयोग से कार्य करती है।

खण्ड स्तर पर समाज कल्याण योजनाओं के लिए खण्ड विकास अधिकारी उत्तरदायी है। खण्ड स्तर पर खण्ड कल्याण समितियाँ हैं, ताकि कल्याणकारी कार्यक्रमों को सही तरीके से क्रियान्वित किया जा सके। सविधान समाज कल्याण लक्ष्य से सलग्न सभी समितियों एव स्तरों को नीचे दर्शाया गया है।

समाज कल्याण
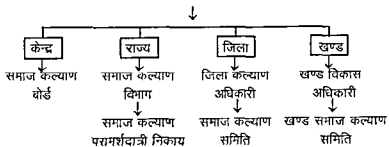
समग्र समाज कल्याण कार्यक्रमों का आरम्भ केन्द्र से होता है और स्थानीय स्तर तक उसे क्रियान्वयन हेतु भेजा जाता है ताकि सफलतापूर्वक कार्यक्रमो को क्रियान्वित किया जा सके। केन्द्रीय स्तर पर 1953 में गठित समाज कल्याण बोर्ड के अग्रलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए थे–

1 विभिन्न समाज कल्याण सगठनो की आवश्यकताओ तथा अपेक्षाओ का सरक्षण
2 सरकार अनुदान प्राप्त सस्थाओ द्वारा चलाए जा रहे कार्यक्रमो और परियोजनाओ का मूल्याकन
3 केन्द्रीय मत्रालयो और राज्य सरकारो द्वारा कल्याण कार्य मे सलग्न सगठनो को दी जा रही सहायता मे समन्वय स्थापित करना
4 स्वय सेवी सस्थाओ की स्थापना को प्रोत्साहन प्रदान करना
5 समाज कल्याण कार्य मे सलग्न सगठनो एव सस्थाओं को आर्थिक सहायता देना।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का सगठन

सन 1953-54 में स्थापना के समय केन्द्रीय समाज बोर्ड मे दो प्रकार के सदस्य–सरकारी और गैर सरकारी थे। बोर्ड को दैनिक कार्यों के सम्पादन हेतु पर्याप्त स्वायतता प्रदान की गई थी। इसकी प्रारम्भिक स्थापना एक अभिकरण के रूप मे की गई थी। बोर्ड के प्रथम अध्यक्ष दुर्गा भाई देशमुख थे। इसमें अध्यक्ष सहित 12 सदस्य थे। अध्यक्ष के अतिरिक्त ग्यारह सदस्यो मे से 4 सदस्य सरकारी, शेष सात सदस्यो मे से 5 गैर सरकारी सदस्य थे। शेष दो सदस्य सरकार द्वारा योजना आयोग और सामुदायिक विकास विभाग से मनोनीत किए गए थे। समाज कल्याण बोर्ड को कम्पनी अधिनियम 1956 के अन्तर्गत एक पजीकृत सस्था का रूप दिया गया। लोक लेखा समिति वर्ष 1965-66 के प्रतिवेदन में समिति ने समाज कल्याण मडल हेतु यह सिफारिश की थी कि समाज कल्याण बोर्ड 1969 से एक पजीकृत स्वायत्तशासी निकाय है। समाज कल्याण बोर्ड पूर्णतया भारत सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

अब समाज कल्याण मण्डल की सदस्य सख्या में वृद्धि हो गई है। बोर्ड का परिवर्तित सगठन के प्रमुख अग इस प्रकार हैं–

समाज कल्याण बोर्ड की संरचना

(कम्पनी अधिनियम 1956 के अन्तर्गत पजीकृत सस्था के रूप मे)

अध्यक्ष
↓
कार्यकारी निदेशक
↓
सामान्य निकाय
↓
कार्यकारिणी समिति
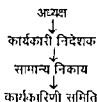
अध्यक्ष–समाज कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है। अध्यक्ष अपने पद के अतिरिक्त कार्यकारिणी तथा सामान्य निकाय का पदेन सदस्य हाता है। अध्यक्ष ही कार्यकारिणी और निकाय की अध्यक्षता करता है।

कार्यकारी निदेशक–कार्यकारी निदेशक बोर्ड के दिन-प्रति-दिन के प्रशासनिक कार्यो की देखभाल करता है। सामान्य निकाय और कार्यकारिणी समिति का सदस्य भी है।

सामान्य निकाय–रानाडे समिति के सुझाव पर समाज कल्याण बोर्ड के सामान्य निकाय मे अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्य हैं। कुल सदस्यो म से 30 सदस्य सभी राज्यो केन्द्र प्रशासित राज्यो के प्रतिनिधि 5 सदस्य सामाजिक कार्यकर्त्ता समाज वैज्ञानिक समाज कल्याण प्रशासक दो ससद सदस्य तथा बोर्ड के कार्यक्रमो के साथ सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न केन्द्रीय मत्रालयो के एक-एक प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। जैसे– समाज कल्याण मत्रालय ग्रामीण विकास स्वास्थ्य शिक्षा श्रम वित्त और योजना आयोग।

समाज कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष एव सदस्य सभी सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। अब बोर्ड पूर्णरूपेण मनोनीत है।

सामान्य निकाय में 18 जून, 2001 को निम्नलिखित सदस्य हैं –

1 श्रीमती मृदुला सिन्हा (चेयर परसन केन्द्रीय समाज कल्याण मडल)
2 श्रीमती शबाना आजमी (ससद सदस्य)
3 डा रेचल मथाई
4 डा (श्रीमती) वीना पाडे (उत्तरप्रदेश विधानसभा सदस्य)
5 डा फिरोजा बानो
6 डा (श्रीमती) मजू श्रीपाठक
7 श्रीमती प्रभा शकरानारायणन
8 श्रीमती रेनू देवी
9 *श्रीमती के शान्ता रेड्डी*
10 श्रीमती सत्यबाला अग्रवाल
11 श्री विजय सिह (वित्तीय सलाहकार महिला और बाल विकास विभाग नई दिल्ली)
12 डिप्टी एडवाइजर (योजना आयोग नई दिल्ली)
13 डा जे एस शर्मा (सयुक्त सचिव, आई आर डी नई दिल्ली)
14 श्रीमती सोनाली कुमार (निदेशक, एन एफ ई शिक्षा विभाग नई दिल्ली)
15 श्रीमती प्रीति वर्मा (डिप्टी सेक्रेटरी, श्रम मत्रालय, नई दिल्ली)
16 श्री ए पी सिह (डिप्टी सेक्रेटरी सोशल जस्टिस एण्ड एम्पावरमेंट कृषि भवन नई दिल्ली)
17 डा अनुभा घोष (सहायक आयुक्त परिवार कल्याण विभाग नई दिल्ली)
18 *श्रीमती सरोजनी गजू ठाकुर (सयुक्त सचिव महिला और बाल विकास* विभाग नई दिल्ली)
19–50 चेयर परसन ऑफ ऑल स्टेट शोसल (30 सदस्य) वेलफेयर बोर्डस

51 श्रीमती विजय श्रीवास्तव (एक्जीक्यूटिव डाइरक्टर केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल)

बैठक–सामान्य निकाय की बैठक वर्ष म एक बार हाती है। बैठक म बार्ड का वार्षिक प्रतिवदन और लेखा अकेक्षण प्रस्तुत किया जाता है। बैठक म बार्ड द्वारा चलाय जा रहे विभिन्न कार्यक्रमा क विकास आर उपलब्धिया का मूल्याकन भी किया जाता है। बैठक मे कार्यकारिणी समिति क प्रतिवदन पर भी विचार किया जाता है।

कार्यकारिणी समिति– केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के कार्यों का सचालन करन के लिए कार्यकारिणी समिति गठित की जाती ह। कार्यकारिणी समिति की सदस्य सख्या अध्यक्ष और कार्यकारी निदशक सहित 15 हाती है। सभी नियुक्तियाँ भारत सरकार द्वारा बार्ड के सदस्या म स की जाती ह। समिति की बैठक दो माह म एक बार हाती है।

18 जून 2001 को केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल की कार्यकारी समिति म निम्नलिखित पन्द्रह सदस्य हैं –

1 श्रीमती मृदुला सिन्हा अध्यक्ष केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल
2 अध्यक्ष कर्नाटक स्टेट सोशल वेलफेयर एडवाइजरी बोर्ड
3 अध्यक्ष पजाब स्टेट सोशल वेलफेयर एडवाइजरी बोर्ड
4 अध्यक्ष मिजोरम स्टट साशल वेलफेयर एडवाइजरी बोर्ड
5 अध्यक्ष उत्तर प्रदेश स्टेट सोशल वेलफेयर एडवाइजरी बोर्ड
6 अध्यक्ष पॉडिचेरी स्टेट सोशल वेलफेयर एडवाइजरी बोर्ड
7 श्रीमती सरोजन मजू ठाकुर सयुक्त सचिव, महिला और बाल विकास विभाग नई दिल्ली
8 डा अनुभा घोष सहायक आयुक्त, परिवार कल्याण विभाग, नई दिल्ली
9 डा जे एस शर्मा सयुक्त सचिव आई आर डी नई दिल्ली
10 श्रीमती विजय सिंह वित्तीय सलाहकार महिला एव बाल विकास विभाग, नई दिल्ली
11 श्रीमती सानाली कुमार निदेशक, एन एफ ई शिक्षा विभाग, नई दिल्ली
12 श्री एपी सिंह उप सचिव सोशल जस्टिस एण्ड एम्पावरमट मत्रालय नई दिल्ली
13 डा रेचल मथाई केरल
14 डा (श्रीमती) मजु श्री पाठक (असम)
15 श्रीमती विजय श्रीवास्तव कार्यकारी निदशक केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड

उद्देश्य–कम्पनी अधिनियम 1956 के अन्तर्गत पजीकृत समाज कल्याण बोर्ड के उद्देश्य 1969 म इस प्रकार वर्णित हैं–

(अ) समाज कल्याण सगठनो की आवश्यकताओ और अपेक्षाओ का समय-समय पर सरक्षण शोध और मूल्याकन के माध्यम से समुचित अध्ययन करना।

(ब) अनुदान प्राप्त सगठनों के कार्यक्रमो ओर परियोजनाआ का मूल्याकन करना।

(स) समाज कल्याण क क्षेत्र में काम करने वाली स्वय सेवी सस्थाओं/सगठनों के गठन को प्रोत्साहित करना।

(द) समाज के दुर्बल वर्गो– जैसे महिलाओ बच्चो और विकलागों बेरोजगारों वृद्धों रोगियो आदि के सामान्य कल्याण से प्रेरित हो विभिन्न सामाजिक कल्याण की गतिविधियों को प्रोत्साहित करना।

(य) सामाजिक कार्य के लिए पहलकारी विभिन्न परियोजनाओ तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन और प्रोत्साहन।

(र) प्राकृतिक सकट के समय राष्ट्र में कहीं भी सहायता पहुचाने के लिए अपने सगठन के माध्यम से सहायता कार्यक्रमों का आयोजन करना।

(ल) विभिन्न समाज सेवी सस्थाआ तथा पचायती राज सस्थाआ को भारत सरकार द्वारा निर्धारित सिद्धान्तो के अनुरूप तकनीकी और वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना।

(व) केन्द्रीय मत्रालयों और राज्य सरकार द्वारा बोर्ड के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु जो सहायता समाज कल्याण गतिविधियों को दी जाती है उसमें समन्वय स्थापित करना।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का कार्यालय

1953 मे समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना के समय बोर्ड के प्रशासनिक कार्यालय का स्वरूप छोटा था। उस समय समाज कल्याण बोर्ड मे एक सचिव एक कार्यालय अधीक्षक एक लेखाकार और तीन सहायक थे। 1969 म बोर्ड कार्यालय के पुनर्गठन हेतु एक समिति बनाई गई। इस समिति की सिफारिश पर समाज कल्याण बोर्ड कार्यालय को नौ सभागों मे गठित किया गया है। अब बोर्ड का विशाल प्रशासनिक कार्यालय ही बोर्ड का सर्वोच्च अधिकारी अध्यक्ष है तथा प्रशासनिक अधिकारी सचिव है। सचिव को स्थायी रूप से 1955 म बोर्ड मे नियुक्त किया गया और इस पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति उप सचिव स्तर का था। सचिव को प्रशासनिक कार्यों में सहायता देने के लिये कई अन्य अधिकारी और कर्मचारी नियुक्त है। जैसे– प्रशासनिक अधिकारी सम्पादक समाज कल्याण पत्रिका हिन्दी व अग्रेजी सहायक सम्पादक उप सम्पादक

परियोजना अधिकारी परियोजना अधिकारी प्रशासन लेखाधिकारी सहायक परियोजना अधिकारी, लेखाकार वरिष्ठ निजी सहायक (अध्यक्ष) निजी सहायक (अध्यक्ष) निजी सहायक सचिव, आशुलिपिक वरिष्ठ लिपिक कनिष्ठ लिपिक कलाकार उत्पादन सहायक अनुवादक, पुस्तकालय अध्यक्ष सहायक ग्रेड प्रथम सहायक ग्रेड द्वितीय डार्करूम सहायक, ड्राइवर ऑपरेटर दफ्तरी चपरासी आदि।

समाज कल्याण बोर्ड के 9 प्रमुख सभाग हैं–

1 सामाजिक, आर्थिक सभाग
2 सघन कार्यक्रम सभाग
3 परियोजना सभाग
4 क्षेत्रीय परामर्श निदेशन सभाग
5 अनुदान सभाग
6 आन्तरिक नियत्रण सभाग
7 वित्त एव लेखा सभाग
8 प्रकाशन सभाग
9 प्रशासन सभाग,

1. सामाजिक, आर्थिक सभाग–इस सभाग का सचालन दो कार्यक्रम अधिकारियो के निदेशन मे किया जाता है। दोनो ही अधिकारी समाज कल्याण बोर्ड के सचिव के प्रति उत्तरदायी हैं। यह सभाग सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रमों को सचालित करता है। सभाग का प्रमुख उद्देश्य महिलाओ और शारीरिक रूप से विकलाग व्यक्तियो के लिए ऐसे कार्यक्रम चलाना कि वह आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बन सकें। सभाग द्वारा इस कार्य मे सलग्न स्वयसेवी सस्थाओं एव सगठनों को अनुदान स्वीकृत किया जाता है ताकि सगठन इन वर्गों के लिए नवीन उत्पादक इकाइयाँ स्थापित कर स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध करा सके। स्वयसेवी सस्थान अपने अनुदान प्रार्थना-पत्र अपने सम्बन्धित राज्य समाज कल्याण विभाग को प्रेषित करते हैं। राज्य समाज कल्याण विभाग उन्हें केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड को अपनी सिफारिश के साथ भेज देता है। केन्द्र स्तर पर इन आवेदनो की प्रत्यक्ष जाच की जाती है। और अनुदान स्वीकृत किए जाते हैं। अनुदान की राशि सस्थान को एक मुश्त न वितरित कर दो तीन चरणों में वितरित की जाती है। उन सस्थाओं की प्रगति को देखते हुए अनुदान वितरण किया जाता है। वितरित किये गये अनुदान का वार्षिक लेखा तथा उपयोगिता प्रमाण-पत्र राज्य का समाज कल्याण सलाहकार बोर्ड द्वारा किया जाता है। ताकि केन्द्र स्तर पर दिए गए अनुदान को उसी उद्देश्य के लिए कुशलतापूर्वक काम मे लिया जा सके।

2. सघन कार्यक्रम सभाग–इस सभाग के सचालन के लिए एक कार्यक्रम अधिकारी नियुक्त है जो अपने स्टाफ कर्मचारियो की सहायता से सभाग के कार्यों का

दायित्व निर्वाह करता है। सभाग 18 से 30 वर्ष की महिलाओ को मिडिल और सैकण्डरी परीक्षाओं मे प्रविष्ट होने के लिए सहायता व्यवस्था करता है। इस वर्ग की महिलाओ को पूर्णत आवासीय गैर आवासीय और मिश्रित आवासीय आदि सभी प्रकार से मिडिल और सैकेण्डरी परीक्षा मे बैठने के पाठयक्रमो का आयोजन करता है। इन कार्यक्रमो के आर्थिक अनुदान के लिए स्वयसेवी सस्थान राज्य समाज कल्याण बोर्ड के माध्यम से केन्द्र समाज कल्याण बोर्ड को आवेदन प्रस्तुत करते हैं। केन्द्र समाज कल्याण मण्डल इन सस्थाओ के द्वारा प्रस्तुत किए गए आवेदनों की जॉच कर यह सहायता स्वीकार करता है। राज्य समाज कल्याण बोर्ड इस वर्ग के महिलाओ को दिये जाने वाले प्रवेश की अन्तिम अनुमति देता है। सभाग के तीन प्रकार के पाठयक्रम हैं – (1) दो वर्षीय (2) एक वर्षीय और (3) व्यावसायिक प्रशिक्षण।

प्रारम्भ मे केन्द्र समाज कल्याण बोर्ड इन पाठयक्रमो के लिए 50 % सहायता राज्य समाज कल्याण बोर्ड को देता है। राज्य समाज कल्याण मण्डल इन पाठयक्रमो की कुशलता का परीक्षण करता है। इसके पश्चात् शेष सहायता राशि दी जाती है। यह सस्थाएँ भी प्रवेश हेतु विद्यार्थियों की जाच परीक्षा आयोजित करती हैं। सभाग परियोजना का वार्षिक प्रतिवेदन प्रकाशन हेतु भिजवाता है।

3 परियोजना सभाग–इस सभाग का अध्यक्ष निदेशक है। सभाग बच्चो और परिवार कल्याण कार्यक्रमों– पोषण कल्याण विस्तार कार्यक्रमो बालबाडी एकीकृत स्कूल पूर्व कार्यक्रम कामकाजी महिला छात्रावास परियोजनाओ और विभिन्नि परियोजनाओं से सम्बन्धित पुराने भवनो की मरम्मत के लिए अनुदान देने का कार्य करता है। सभाग परियोजनाओं के निर्माण राशि वितरण स्वयसेवी सस्था द्वारा प्रार्थना-पत्रो की जाच और सकल परियोजना क्रियान्वयन मे समन्वय का कार्य करता है। परिवार और बच्चों के कल्याण से सम्बन्धित कार्यक्रम प्राय राज्य सरकारो को हस्तातरित कर दिए जाते हैं। यह वह कार्यक्रम हैं जिन्हे समाज कल्याण विभाग की पहल पर चलाया जाता है और जिनका निष्पादन केन्द्र समाज कल्याण बोर्ड द्वारा नही किया जाता है।

4 क्षेत्रीय परामर्श निदेशन सभाग–इस सभाग की स्थापना एक नवम्बर 1969 को हुई है। इस सभाग का अध्यक्ष कार्यक्रम अधिकारी है। सभाग मे कार्यक्रम अधिकारी की सहायता के लिए अनेक अधीनस्थ कर्मचारी नियुक्त हैं। कार्यक्रम अधिकारी अपने कार्यों के लिए सचिव के प्रति उत्तरदायी हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का यह भी दायित्व है कि वह चलाई गई सभी परियोजनाओ का सामयिक निरीक्षण करे। परियोजनाओ मे वित्त और मानव शक्ति का सही उपयोग हो इसके निरीक्षण के लिये पर्यवेक्षको की आवश्यकता होती है। किसी परियोजना को भविष्य में चालू रखने के लिए प्रथम आवश्यकता है कि चालू परियोजना की क्रियान्विति के परिणाम का सफलता पूर्वक आकलन किया जाय। यह सभाग देश भर मे समाज कल्याण अधिकारियों सस्थाओ और

परियोजनाओ के कार्यक्रमों पर निरन्तर निगरानी रखता है। यह सम्भाग समाज कल्याण अधिकारियो के कार्यों की मासिक डायरी तथा उनके द्वारा तैयार वार्षिक प्रतिवेदन का अध्ययन और विश्लेषण करता है। सभाग कई प्रकार के सम्मेलन सेमीनार और वर्कशाप का आयोजन करता है। सभाग कल्याण की विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं में कार्यरत निदेशको के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। समाज कल्याण से सम्बन्ध विभिन्न संस्थाओ और परियोजनाआ का सामयिक परिवेक्षण भी करता है।

5 **अनुदान सभाग**–इस सभाग का कार्यकारी अधिकारी कार्यक्रम अधिकारी है। कार्यक्रम अधिकारी सीधा सचिव के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी है। सभाग स्वयसेवी संस्थाओ को अनुदान स्वीकृत करता है। केन्द्र समाज कल्याण बोर्ड अनुदान हेतु प्रार्थना-पत्र संस्थाओ से राज्यों के माध्यम से प्राप्त करता है। यह सभाग प्राप्त आवेदनों की सभी प्रकार से जाच करता है तथा अध्यक्ष द्वारा किए गए निर्णयानुसार संस्थानो को अनुदान सहायता देता है।

6 **आन्तरिक नियन्त्रण सभाग**–सभाग का कार्यकारी मुखिया नियत्रण अधिकारी वित्तीय सलाहकार और मुख्य लेखाधिकारी है जो कि अपने विभागीय कार्यों के लिए सचिव के प्रति उत्तरदायी है। सभाग समाज कल्याण बोर्ड का वार्षिक बजट तैयार करता है। सभाग वार्षिक बजट की तैयारी सरकार द्वारा निर्धारित प्रक्रिया मे सामान्य नियमो के अन्तर्गत करता है। चार्टेड अकाउटेट समाज कल्याण मण्डल के अकेक्षण के लिए उत्तरदायी हे। चार्टेड अकाउटेट राज्य समाज कल्याण बोर्ड के निरीक्षण के सम्बन्ध में भी परामर्श देता है।

7 **वित्त और लेखा सभाग**–इस सभाग का अधिकारी वेतन नियत्रण अधिकारी और लेखाधिकारी है। यह अधिकारी वित्तीय परामर्शदाता और मुख्य लेखाधिकारी के प्रति उत्तरदायी है। यह सभाग समाज कल्याण बोर्ड के लिए समस्त आहरण और वितरण के लिए उत्तरदायी है। सभाग समस्त प्रकार के आहरण और वितरण सम्बन्धी बिल की जाच कर उन्हें पारित करने का कार्य करता है। सभाग बोर्ड की समस्त नकद धन राशि और मूल्यवान वस्तुओ की रक्षा के लिए उत्तरदायी होती है। बोर्ड के विभिन्न कार्यक्रमो में आवटित धन को निर्दिष्ट और स्वीकृत परिस्थितियों में बनाए रखने का दायित्व इसी सभाग का है। सभाग बोर्ड मे भी सभी प्रकार की सामग्री खरीदने के लिए निविदाएँ आमन्त्रित करना मण्डल की रोकड़ पुस्तक को नियमित और नियमानुकूल रखना, वेतन बिल बनाकर उन्हें वेतन दिलवाने तथा सभी प्रकार की अग्रिम राशि के भुगतान के लिये उत्तरदायी है। बोर्ड के आय-व्यय के लेखों के नियमानुकूल रख रखाव की व्यवस्था भी यही सभाग करता है।

8. **प्रकाशन सभाग**–प्रकाशन सभाग मे दो सम्पादक हैं जो दो पत्रिकाओं के प्रकाशन के लिए उत्तरदायी हैं। प्रथम हिन्दी पत्रिका– समाज कल्याण दूसरी अग्रेजी

पत्रिका "सोशल वेल्फेयर"। सम्पादको को सम्पादन कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए उपसम्पादक और सहायक सम्पादक के पद हैं। इनके अतिरिक्त उत्पादन सहायक और अनुवादक के पद हैं। सभाग उक्त दोनो प्रकाशनो के प्रकाशन और वितरण के लिए उत्तरदायी है। *बोर्ड उक्त दोनो प्रकाशनो की सहायता से केन्द्र द्वारा निर्दिष्ट निर्देशो के* अनुरूप नीतियों और कार्यक्रमों को जनसाधारण तक पहुचाता है। सभाग पत्रिका प्रकाशन के लिये लेख स्वीकार करता है उनके स्तर की जाच करना और प्रकाशन हेतु स्वीकृति प्रदान करता है। उनके विशेष अक प्रकाशित करने के लिये स्वीकार करता है। विद्वानो का पारीश्रमिक निश्चित करता है। प्रकाशन व्यय के अनुमान निर्धारित करता है। जनसम्पर्क के अन्य माध्यमो से सम्पर्क बनाए रखता है।

9 **प्रशासन सभाग**–नियत्रण अधिकारी इस सभाग का मुखिया है। नियत्रण अधिकारी अपने कार्यो के लिए सचिव के प्रति उत्तरदायी है। इस सभाग का कार्य समाज कल्याण बोर्ड का प्रशासन और सेवावर्ग से सम्बन्धित है। जैसे– कर्मचारियो की नियुक्ति पदोन्नति स्थानातरण ओर अनुशासनात्मक कार्यवाही करना। सभाग अन्य सभागो की आवश्यकताओ में समन्वय स्थापित करता है। कर्मचारियो की छुट्टियाँ स्वीकृत करता है। बोर्ड की विभिन्न सामग्रियो का रख-रखाव वाहन आदि की व्यवस्था यही सभाग करता हैं। सभाग कर्मचारियो का वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन तैयार करता है।

उक्त वर्णित सभागो के माध्यम से समाज कल्याण बोर्ड के विविध दायित्वों का निर्वाह करने हेतु व्यवस्था की गई है। समाज कल्याण बोर्ड के सचिवालय मे प्रारम्भ मे *केवल पाच सभाग थे– औद्योगिक प्रोग्राम प्रशासन सभाग वेलफेयर प्रोग्राम प्रशासन* सभाग प्रशासन सभाग वित्त और लेखा सभाग प्लानिग मोनीटरिंग एण्ड कॉरडीनेशन सभाग। प्रत्येक सभाग का अधिकारी सयुक्त निदेशक होता है।

समाज कल्याण बोर्ड के कार्य

समाज कल्याण बोर्ड द्वारा चालू की गई अब तक की योजनाएँ जिनका सम्बन्ध महिलाओ बच्चों और विकलागो के कल्याण से है। निरन्तर अपने कार्यक्रमो के विस्तार मे एक लाख से भी अधिक स्वयसेवी सस्थाओ के सहयोग से वार्षिक प्रतिवेदनो के आधार पर समाज कल्याण बोर्ड के कार्यों को निम्न प्रकार से सूचीबद्ध किया गया है–

1 स्वय सेवी सस्थाओं को सामान्य अनुदान दिया जाता है जो सस्थाएँ महिला बच्चो वृद्धो ओर विकलागो से सम्बन्धित कार्यक्रमो का आयोजन करते हैं।

2 **वेलफेयर एक्सटेंशन प्रोजेक्ट**–इनका आरम्भ अगस्त 1954 से किया गया है। इस के अन्तर्गत परियोजनाओ की तीन कोटियॉ हैं– सामान्य शहरी और सीमावर्ती क्षेत्र के लिए। इन परियोजनाओ मे प्रमुख बालबाडी प्रसूति खराब स्वास्थ्य शिक्षा महिलाओ को सामाजिक शिक्षा है। प्रत्येक ग्रामीण परियोजना क्षेत्र मे पॉच गावो के पॉच केन्द्र हैं। प्रत्येक केन्द्र पर एक ग्राम सेवक एक क्राफ्ट निरीक्षक और एक दाई जिसके कार्य का पर्यवेक्षण मुख्य सेविका (चीफ वेलफेयर ऑरगनाइजर) और एक मिड वाइफ प्रोजेक्ट स्तर

पर नियुक्त किए जाते हैं। बोर्ड केन्द्रो के भवन के निर्माण हेतु सहायता देता है। सीमावर्ती क्षेत्रो मे बहुउद्देशीय परियोजनाओ का खर्च समाज कल्याण बोर्ड और राज्य सरकार द्वारा 2 1 के अनुपात मे वहन किया जाता है। देश के 15 राज्यो मे 465 केन्द्रो वाली 95 परियोजनाये सचालित हैं। 15 राज्य हैं– अरुणाचल मध्यप्रदेश उत्तर प्रदेश जम्मू और काश्मीर मणिपुर मिजोरम नागालैंड पजाब राजस्थान सिक्किम त्रिपुरा हिमाचल पश्चिम बगाल अण्डमान निकोबार लक्षद्वीप। जिनकी प्रबन्ध व्यवस्था क्रियान्वयन समिति की है। समिति मे अध्यक्ष और अन्य सदस्य अधिकाश महिलाये हैं। 1961 से इन प्रोजेक्टो को महिला मण्डलो मे परिवर्तित कर दिया गया है।

3 **महिला मण्डल**–कार्यक्रम 19 राज्यो मे 335 महिला मण्डलो द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। जैसे– बालवाडी क्राफ्ट प्रसूति शिक्षा, सामाजिक शिक्षा और स्वास्थ्य। महिला मण्डलों की स्थापना के लिये समाज कल्याण बोर्ड कुल अनुमानित खर्च का 75% भाग सहायता देता है। शेष 25% तक का व्यय सगठन द्वारा अपने हिस्से मे वहन करना पड़ता है। धन देने की कार्यवाही सम्बन्धित राज्य कल्याण बोर्ड करता है।

4 **श्रमजीवी महिलाओं के लिये आवास व्यवस्था**–समाज कल्याण बोर्ड देश भर मे महिला आवास का निर्माण करवाता है ताकि एकाकी और श्रमजीवी महिलाओं को अपने घर से दूर रहने पर आवास की असुविधा न हो।

5 **बालवाडियों का सचालन**–बालवाड़ियो के लिये समाज कल्याण बोर्ड अनुदान उपलब्ध कराता है। बालवाडियों का देश भर मे जाल-सा बिछा है। स्वयसेवी सस्थाओ द्वारा बालवाडिया बच्चों के लिये चलाई जाती हैं। 1970 से निम्न आयवर्ग के परिवारो से सम्बद्ध तीन से पाच वर्ष की आयु वर्ग के बच्चों के लिये पूरक पोषाहार उपलब्ध करवाने के लिये बालवाडी पोषाहार कार्यक्रम आरम्भ किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत स्वास्थ्य सुविधाएँ भी सम्मिलित हैं। इसमें बच्चो का टीकाकरण और स्थानीय निकायों के सहयोग से बेहतर सफाई तथा पर्यावरण व्यवस्था शामिल है।

6 **बच्चों के लिये अवकाश शिविर**–10 से 16 वर्ष की आयु वर्ग के निर्धन बच्चों के लिए अवकाश शिविर आयोजित करने हेतु बोर्ड भिन्न-भिन्न प्रकार की सहायता भिन्न-भिन्न सस्थाओ को देता है। यह सहायता बोर्ड द्वारा नियमानुसार निर्धारित मापदण्ड के अन्तर्गत दी जाती है। इस प्रकार की सहायता बोर्ड स्कूल और कॉलेज दोनों स्तर के छात्रों को देता है।

7. **शिशु-गृह कार्यकर्ता प्रशिक्षण**–महिला एव बाल विकास विभाग ने 1986-87 मे शिशु-गृह कार्यकर्ता प्रशिक्षण आरम्भ किया था, ताकि शिशु-गृह चलाने के लिए शिशु-गृह कार्यकर्ताओ को प्रशिक्षित किया जा सके। इस कार्यक्रम को 1989-90 को समाज कल्याण बोर्ड को सौंप दिया गया ताकि इस कार्य में स्वयसेवी सस्थाएँ सहयोग कर सके।

8. **सामाजिक आर्थिक कार्यक्रम**–सन् 1958 में समाज कल्याण बोर्ड ने सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम आरम्भ किया था ताकि स्वयसेवी सस्थाओं को वित्तीय

सहायता प्रदान की जा सके। स्वयसेवी सस्थाएँ आर्थिक रूप से पिछडे और विकासशील देश की महिलाओं अपग निराश्रित विधवाओ निर्धन और पिछडे वर्ग की महिलाओ को रोजगार के अवसर उपलब्ध करा सकें। इन कार्यक्रमों में लघु औद्योगिक एकक हाथ करघा दुग्धशालाएँ हस्तशिल्प और पशुपालन कार्यक्रम– (सूअर बकरी भेड और मुर्गीपालन) द्वारा अपना राजगार स्थापित करने की व्यवस्था है। बोर्ड नवीन आय उत्पादक क्षेत्रो का पता लगान पर भी जोर देता है। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य महिलाओं और विकलागों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना है।

9 अनुसधान और मूल्याकन–समाज कल्याण बोर्ड न केवल कल्याणकारी कार्यों का सम्पादन करता है वरन बोर्ड की वित्तीय सहायता से चलाए जाने वाले कार्यक्रमों का मूल्याकन भी करता है। मूल्याकन करने के लिए बोर्ड अनुसधान और अध्ययन आयाजित करता है।

10 प्रचार कार्य–समाज कल्याण बोर्ड अपने कार्यक्रमों का प्रचार कार्य करता है ताकि जनसाधारण को बोर्ड के कार्यक्रमों की अधिक से अधिक जानकारी हा और वह कार्यक्रमों का लाभ उठा सकें। बोर्ड मासिक पत्रिका– समाज कल्याण और सोशिल वलफयर के प्रकाशन के अतिरिक्त सेमीनार सम्मलन और बैठकों के लिये भी सहायता देता है।

11 स्वैच्छिक कार्य ब्यूरो और परिवार परामर्श केन्द्र–बार्ड ने 1982 स स्वैच्छिक कार्य ब्यूरो और परिवार परामर्श केन्द्र सहायता प्रदान करना आरम्भ किया है। स्वैच्छिक कार्य ब्यूरो और परिवार परामर्श केन्द्र अत्याचार और शोषण के शिकार बच्चों महिलाओं को निवारक उपचारात्मक और पुनर्वासात्मक सवाएँ प्रदान करते हैं।

12 अन्य कार्यक्रम–वोर्ड भारत सरकार द्वारा विकास के लिए चलाए जा रहे 20 सूत्री कार्यक्रम का अध्ययन करवाता है। देश में प्राकृतिक आपदाओं से पीडित व्यक्तियों की सहायता करता है। सभी राज्य बोर्डों द्वारा चुने गए आदर्श प्रशिक्षण सस्थानों द्वारा एक तीन दिवसीय औरियेन्टेशन प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किये जाने का प्रावधान रखा गया है। प्रत्येक राज्य / केन्द्रशासित राज्य को कम से कम एक और अधिक से अधिक आठ ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रम आवटित किए गए हैं। प्रत्येक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में 40 कार्यकत्ताओं को प्रशिक्षण दिया जाता है।

बोर्ड के कार्यों में कम्प्यूटरीकरण के लिए विशेष प्रयास किया गया है। प्रबन्ध आम सूचना प्रणाली "पेरोल" पद्धति और वित्तीय तथा सेवीवर्ग प्रणाली में कम्प्यूटरीकरण किया गया है। बोर्ड से सहायता प्राप्त स्वयसेवी सस्थाओं की निदेशिका भी कम्प्यूटर द्वारा तैयार की जाती है।

शहरी क्षेत्र परियोजना के अन्तर्गत नाइट शेल्टर स्थापित किए जाते हैं। ये उन व्यक्तियों की सहायता के लिए है जिनके पास आवास नहीं है और अल्प वेतनभागी हैं। कई राज्यों में कई सस्थान इस कार्य में सलग्न हैं। बोर्ड उनके निर्माण के लिए वित्तीय

सहायता प्रदान करता है। इस समन्वयकारी कार्य योजना का उत्तरदायित्व भारत सेवक समाज के पास है।

समाज कल्याण बोर्ड का भविष्य

समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना शिक्षा मंत्रालय के एक प्रस्ताव द्वारा 1953 में हुई थी। समाज कल्याण बोर्ड का कानूनी अस्तित्व नहीं है परन्तु बोर्ड स्वायत्त संस्थान के रूप में शिक्षा मंत्रालय से राशि प्राप्त कर राज्य समाज कल्याण परामर्शदात्री बोर्ड और सम्बन्ध संस्थाओं को देता है। वर्तमान में समाज कल्याण बोर्ड भारत सरकार के मानव संसाधन मन्त्रालय के "महिला एवं बाल विकास विभाग" से सम्बद्ध है।

समाज कल्याण के कार्यों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि बोर्ड ने महिलाओं बच्चों अशक्त लोगों और विकलांगों के लिए स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से काफी कार्यक्रम चलाए हैं। कई नवीन योजनाएँ भी कार्यक्रमों के विस्तार के लिए चलाई हैं। परन्तु केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड और राज्य स्तरीय समाज कल्याण सलाहकार बोर्ड की भूमिका संतोषजनक नहीं रही है। इसमें पाई गई कमियाँ इस प्रकार हैं –

(1) समाज कल्याण बोर्ड के पास प्रशिक्षित और कुशल विशेषज्ञों का अभाव होने से आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों सम्बन्धी आवश्यक नीति निर्माण मूल्यांकन और समन्वय स्थापित करने में बाधा आती है।

(2) समाज कल्याण बोर्ड पर बनाए गए कार्यक्रमों का क्रियान्वयन स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा किया जाता है। कई कार्यक्रम तो केवल कागजों में रहते हैं, व्यवहार में उनका कोई अस्तित्व नहीं पाया जाता है।

(3) बोर्ड के पास कार्यक्रमों के अनुपात में कर्मचारियों का अभाव है। अतः बोर्ड केन्द्र और राज्य स्तर पर चल रहे कार्यक्रमों का सही निरीक्षण, पर्यवेक्षण और मूल्यांकन नहीं कर पाता है।

(4) स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा प्रेषित प्रतिवेदनों का बोर्ड में सही और सूक्ष्म विश्लेषण नहीं हो पाता है। प्रतिवेदनों का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है। फलतः कार्यक्रम जनसाधारण में अपना कोई उपयोगी प्रभाव नहीं बना पाते हैं।

(5) स्वयंसेवी संस्थाओं को दिये जाने वाले अनुदान की औपचारिक प्रक्रियाओं पर विशेष जोर दिया जाता है।

(6) बोर्ड द्वारा चलाए गए कार्यक्रमों में निहित स्वार्थों का बोलबाला है जिससे भ्रष्टाचार में वृद्धि हो रही है।

उक्त कमियों को दूर करने के निमित्त केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। बोर्ड को एक संसदीय संगठन बनाना चाहिए। बोर्ड को संसदीय स्वायत्त संस्थान गठित करने से कई लाभ हो सकते हैं।

इस पुनर्गठित कल्याण बोर्ड को प्रभावशाली कार्य करने के लिए आवश्यक शक्ति दी जानी चाहिए। बोर्ड आत्मनिर्भर होगा बिना देरी किए शीघ्र कार्य कर सकेगा। स्वयंसेवी

सरथानो की सामाजिक समरयाओ के निराकरण के लिए बोर्ड को आवश्यक सरल प्रक्रिया बनानी होगी। बोर्ड मे ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए जो सेवा के क्षेत्र से जुडे हो। *बोर्ड का आलसी अकुशल स्वार्थी और भ्रष्ट लोगों की शरणस्थली बनने से* रोकना होगा। समाज कल्याण बोर्ड को ससदीय सरथापन बनाने का विषय भारत सरकार के विचाराधीन है। इस सदर्भ में प्रस्ताव शीघ्र ही ससद मे रखा जायेगा।

सदर्भ एव टिप्पणियाँ

1 भारतीय सविधान अनुच्छेद 46
2 भारतीय सविधान 1950 प्रस्तावना
3 सचदेवा सामाजिक प्रशासन
4 समाज कल्याण पत्रिका
5 सोशल वेलफेयर पत्रिका

❑❑❑

परिशिष्ट

अध्याय–1

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 जनता की, जनता द्वारा और जनता के लिये सरकार को " लोकतान्त्रिक " सरकार किसने कहा है?
(क) पंडित नेहरू (ख) जार्ज वाशिंगटन
(ग) अब्राहम लिंकन (घ) महात्मा गाँधी

2 भारत के संविधान के किस अनुच्छेद में छुआछूत को समाप्त करने को कहा गया है?
(क) अनुच्छेद 17 (ख) अनुच्छेद 19
(ग) अनुच्छेद 18 (घ) किसी में नहीं

3 शासन में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी सुनिश्चित होती है–
(क) पूँजीवादी व्यवस्था में (ख) अराजकतावादी राज्य में
(ग) लोकतंत्र में (घ) अहस्तक्षेपवादी राज्य में

4 "समाजवादी समाज" का लक्ष्य प्राप्त करने हेतु प्रस्ताव भारतीय संसद में कब पारित हुआ?
(क) 1948 (ख) 1954
(ग) 1977 (घ) 1981

5 लोकतान्त्रिक समाज में शासन की नीतियों का क्रियान्वयन किया जाता है–
(क) अधिकारी तंत्र द्वारा (ख) राजनेताओं द्वारा
(ग) विधानमण्डल द्वारा (घ) कार्यपालिका द्वारा

उत्तरमाला

1	(ग)	2	(क)	3	(ग)	4	(ख)	5	(घ)

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 प्रजातांत्रिक समाज की दो विशेषताएँ लिखिये।

उत्तर– (1) प्रजातांत्रिक समाज में लिए गये निर्णयों का आधार खुला विचार विनिमय होता है।
(2) निर्णय प्रक्रिया में सम्पूर्ण समाज को सहभागी बनाया जाता है।

प्रश्न 2 समाजवादी समाज व्यवस्था से क्या तात्पर्य है?

उत्तर– इस व्यवस्था में राज्य को विशेष महत्त्व दिया जाता है। राज्य के माध्यम से

समाजवाद लाने का प्रयास किया जाता है। उत्पादन के सभी साधनो पर *सामाजिक नियत्रण स्थापित किया जाता है। राज्य द्वारा शक्तियो का प्रयोग* श्रमिको को उचित वेतन दिलाने आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने तथा मुनाफाखोरी बद करने के लिए किया जाता है।

प्रश्न 3 क्या भारत एक समाजवादी समाज है?

उत्तर-- हा भारतीय सविधान की प्रस्तावना मौलिक अधिकार और नीति निदेशक सिद्धान्तो मे इस व्यवस्था के तत्त्व पाए जाते है। प्रस्तावना मे सभी नागरिको के लिए सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय विचार अभिव्यक्ति विश्वास धर्म और उपासना की स्वतत्रता तथा प्रतिष्ठा एव अवसर की समता की व्यवस्था करने का वादा किया गया है।

प्रश्न 4 *भारत में कौन-कौनसी प्रमुख प्रशासनिक सस्थाएँ है?*

उत्तर– (1) लोक सेवा आयोग

(2) योजना आयोग

(3) प्रशासनिक प्राधिकरण

(4) स्वायत्तता प्राप्त आयोग–

(i) निर्वाचन आयोग

(ii) योजना आयोग

(iii) राज्य भाषा आयोग आदि।

प्रश्न 5 समाजवादी समाज के चार गुण लिखिये?

उत्तर– (1) *उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है।*

(2) आर्थिक विषमता दूर करने का प्रयास किया जाता है।

(3) सभी के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य का होता है।

(4) उत्पादन समाज की आवश्यकता की दृष्टि से किया जाता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 समाजवाद का अर्थ एव समस्याओं का वर्णन कीजिये ?

2 समाजवाद के दोषो को स्पष्ट कीजिये ?

3 समाजवाद के सारत्व (essentials) पर एक निबन्ध लिखिये ?

4 प्रजातान्त्रिक समाज की विशेषताएँ बतलाइये ?

□□□

अध्याय–2

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. 'लेसेज फेयर' किस भाषा का शब्द है?
   (क) अंग्रेजी (ख) लैटिन
   (ग) फ्रेंच (घ) उक्त मे से कोई नही
2. वही सरकार सबसे अच्छी है जो कम से कम शासन करती है यह कथन है–
   (क) जॉन स्टुअर्ट मिल (ख) फ्रीमैन
   (ग) हर्बर्ट स्पेन्सर (घ) मैक्सी
3. योग्यतम की विजय के सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं–
   (क) एडम स्मिथ (ख) बैंथम
   (ग) मिल (घ) हर्बर्ट स्पेन्सर
4. निम्न मे से कौन अहस्तक्षेपवादी विचारधारा का समर्थक नहीं है–
   (क) जॉन लोक (ख) मिल्टन
   (ग) बोसाके (घ) वाल्टेयर
5. अहस्तक्षेपवादी नीति का विकास हुआ–
   (क) 16वी से 17वीं शताब्दी के बीच
   (ख) 17वीं से 18वीं शताब्दी के बीच
   (ग) 18वी से 19वीं शताब्दी के बीच
   (घ) 19वी से 20वी शताब्दी के बीच

उत्तरमाला

1 (ग)	2 (ख)	3 (घ)	4 (ग)	5 (ग)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 लेसेज फेयर अहस्तक्षेपवादी राज्य के अनुसार राज्य के कार्य क्या हैं ?

उत्तर– सुरक्षा शांति और व्यवस्था बनाए रखना, न्याय की स्थापना करना आदि कार्य व्यक्ति नहीं कर सकता है। अत राज्य के केवल तीन कार्य है (1) व्यक्ति की बाहरी दुश्मनों से रक्षा, (2) व्यक्ति की आन्तरिक दुश्मनों से रक्षा, तथा (3) कानूनी रूप से किए गए अनुबन्धों का पालन करवाना।

प्रश्न 2 अहस्तक्षेपवादी राज्य की क्या विशेषता है?

उत्तर– व्यक्ति स्वतत्रता में विश्वास करते हैं। राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। राज्य को अयोग्य सस्था मानते हैं। उनके अनुसार वह सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम शासन करती है।

प्रश्न 3 अहस्तक्षेपवादी राज्य के पक्ष में कोई एक तर्क दीजिये ?

उत्तर– प्रत्येक मनुष्य अपने लाभ-हानी भली-भाँति समझता है। अत राज्य को व्यक्ति

के जीवन में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होता है। यदि वस्तु की माँग अधिक होगी और पूर्ति कम तो वस्तु के दाम बढ़ जायेंगे। यदि वस्तु की माग कम है और पूर्ति अधिक तो वस्तु के दाम कम हो जायेगे। राज्य को इस क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह उनका आर्थिक तर्क है।

प्रश्न 4 हस्तक्षेपवादी राज्य पर दो आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये ?

उत्तर– (1) व्यक्ति सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक होता है। आज यह स्वीकार नहीं किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भली-भाँति समझता है और उसमें अपने हित साधन की पूरी क्षमता है।

(2) वर्तमान में राज्य एक बुराई नहीं दिखलाई देता है। राज्य सभी देशो मे प्रगति और विकास की सस्था है।

प्रश्न 5 हर्बर्ट स्पेन्सर के योग्यतम की विजय के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए?

उत्तर– हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार, जीवन सघर्ष में जो व्यक्ति योग्य होते हैं वे आगे बढ जाते हैं और अयोग्य तथा दुर्बल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति का नियम है। समाज पर भी लागू होता है पर समाज में यह तभी लागू हो सकता है जब व्यक्ति को स्वतत्र छोड दें। इस आधार पर व्यक्तिवादी कहते हैं कि राज्य को दुर्बल निर्धन असहाय व्यक्तियों की सहायता नहीं करनी चाहिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 अहस्तक्षेपवादी राज्य की विशेषताएँ लिखिए ?
2 अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा से आपका क्या तात्पर्य है ?
3 हस्तक्षेपवादी राज्य के समर्थको द्वारा इस विचारधारा के पक्ष मे दिए गए तर्कों का वर्णन कीजिए ?
4 अहस्तक्षेपवादी राज्य के गुण दोषों पर प्रकाश डालिए ?
5 राज्य के कार्यों के सदर्भ में अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा लिखिए ?

अध्याय–3

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व मे आया और सद्जीवन के लिए उनका अस्तित्व बना हुआ है।" यह कथन है–
   (क) प्लेटो का (ख) गिलक्राइस्ट का
   (ग) रूसो का (घ) अरस्तू का

2 भारतीय संविधान के किस भाग मे लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा अभिव्यक्त हुई है–
   (क) संविधान की प्रस्तावना मे (ख) नीति निदेशक तत्वो मे
   (ग) संविधान के प्रथम संशोधनो मे (घ) मौलिक अधिकारो के अध्याय मे

3 लोक कल्याणकारी राज्य का प्रमुख लक्षण है–
   (क) नागरिको की आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा
   (ख) नागरिक स्वतन्त्रता तथा समानता
   (ग) न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी
   (घ) उपर्युक्त सभी

4 "एक लोक कल्याणकारी राज्य वह है जो अपने नागरिको के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान करता है" यह कथन है–
   (क) अरस्तू का (ख) प्लेटो का
   (ग) टी डब्ल्यू केण्ट का (घ) अब्राहम लिंकन का

5 "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है" यह परिभाषा है–
   (क) एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज की
   (ख) टी डब्ल्यू केण्ट की
   (ग) एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका
   (घ) डा अब्राहम की

उत्तरमाला

1	(घ)	2	(ख)	3	(घ)	4	(ग)	5	(घ)

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 लोककल्याणकारी विचारधारा के विकास की अमेरिका, इंग्लैण्ड मे कौन-सी परिस्थितियाँ थी?

उत्तर– प्रथम विश्वयुद्ध रूसी क्रांति सुधारात्मक विश्वव्यापी आर्थिक मंदी और नवीन आदर्श नीति औद्योगीकरण और उसका नकारात्मक प्रभाव और द्वितीय विश्व युद्ध।

प्रश्न 2 लोककल्याणकारी राज्य के क्या प्रमुख कार्य हैं ?

उत्तर– लाककल्याणकारी राज्य के अनिवार्य कार्य आन्तरिक शान्ति व्यवस्था बनाए रखना प्रतिरक्षा और न्याय के साथ ऐच्छिक कार्यों– जिनका सम्बन्ध नागरिका की भलाई से है सम्पादित करता हे। समाज सुधार श्रम नियमन कृषि उद्योग व्यापार शिक्षा स्वास्थ्य रक्षा आर्थिक सुरक्षा परिवार कल्याण असहायो की सहायता सब लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य हैं।

प्रश्न 3 स्वतत्र भारत ने लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए किन-किन क्षेत्रो मे प्रयास किया?

उत्तर– प्रथम प्रजातान्त्रिक पद्धति और राजनीतिक स्वतत्रता द्वितीय व्यक्तिगत स्वतत्रता के साथ सही आर्थिक सुविधाएँ देना सामाजिक बुराइयों छुआछूत पर्दा-प्रथा बाल-विवाह दूर करने का प्रयास तथा कला और सस्कृति के विकास कार्य किये हैं।

प्रश्न 4 भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का क्या प्रावधान है?

उत्तर– भारतीय सविधान मे लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के प्रावधान इस प्रकार किए गए है–

(i) सविधान की प्रस्तावना

(ii) मौलिक अधिकार (अध्याय 3) और राज्य के नीति निदेशक तत्व (भाग 4)।

प्रश्न 5 बोवरिज प्रतिवेदन मे इग्लैण्ड मे लोककल्याणकारी राज्य के लिए कौन से तीन स्तम्भ सुझाए गये थे–

उत्तर– प्रथम शिक्षा अधिनियम द्वितीय राष्ट्रीय अधिनियम और तृतीय राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम ।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए ?
2 भारत के सदर्भ मे लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के बारे में सवैधानिक प्रावधानो का विस्तृत वर्णन कीजिए ?
3 "राज्य आवश्यक है" सिद्ध कीजिए।
4 "लोक कल्याणकारी राज्य अहस्तक्षेपवादी राज्य की तुलना मे श्रेष्ठ है।" सिद्ध कीजिए।

□□□

अध्याय–4

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 प्रशासकीय राज्य से क्या अभिप्राय है ?
(क) प्रशासन की राज्य पर निर्भरता (ख) राज्य की राष्ट्र पर निर्भरता
(ग) राज्य की प्रशासन पर निर्भरता (घ) प्रशासन की समाज पर निर्भरता

2 प्रशासनिक राज्य मे सर्वाधिक शक्तिशाली निकाय होता है–
(क) न्यायपालिका (ख) व्यवस्थापिका
(ग) कार्यपालिका (घ) उपर्युक्त सभी

3 प्रशासकीय राज्य मुख्यत निर्भर है–
(क) कुशल व अकुशल श्रमिको पर (ख) विशिष्ट प्रशासन पर
(ग) विशिष्ट वर्गीय लोगो पर (घ) नौकरशाही पर

4 प्रशासकीय राज्य का प्रमुख गुण क्या है?
(क) कानून बनाना (ख) जन सेवा
(ग) पूँजी एकत्रण (घ) उपर्युक्त मे से कोई नही

5 वृहद् सरकार से अभिप्राय है–
(क) कार्यपालिका सदस्यो की बडी सख्या
(ख) नौकरशाही का ढाँचा
(ग) व्यवस्थापिका कार्यपालिका और न्यायपालिका
(घ) प्रशासन का वृहद् आकार

उत्तरमाला

1	(ग)	2	(ग)	3	(घ)	4	(ख)	5	(घ)

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 प्रशासकीय राज्य से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– ऐसा राज्य जहा सर्वत्र प्रशासक छाए रहते हों। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका राज्य मे भले हो किन्तु उनकी भूमिका और दायित्व का निर्वाह प्रशासक या लोक सेवा के सदस्य करते हो, प्रशासकीय राज्य कहलाता है। यह कहा जा सकता है कि राज्य का वह स्वरुप जिसमें स्थायी प्रशासन अथवा लोक प्रशासन अथवा नौकरशाही केन्द्रीय महत्त्व प्राप्त कर चुका हो, अत्यन्त शक्तिशाली और अपरिहार्य बन चुका हो व्यापक आकार धारण कर चुका हो प्रशासकीय राज्य है।

प्रश्न 2 क्या भारत एक प्रशासकीय राज्य है ?

उत्तर– सामान्य रूप से भारत एक लोकतात्रात्मक राज्य है। सम्प्रभुता जनता में निहित है। विश्लेषणो से पता चला है कि इसका स्वरुप प्रशासकीय राज्य जैसा है।

प्रशासन सरकार के तीनो अगों के कार्य करने लगा है। कार्यपालिका के बढते महत्त्व ने नौकरशाही के महत्त्व में पर्याप्त वृद्धि की है। नौकरशाही पर निर्भरता इतनी बढ गई है कि यदि किसी दिन सरकारी कर्मचारी हडताल पर चले जाएँ तो सारे देश मे ठहराव आ जाएगा।

प्रश्न 3 प्रशासकीय राज्य में नौकरशाही की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– नौकरशाही की प्रवृत्ति रूढिवादी होती है और वे यथास्थितिवाद के समर्थक होते हैं। वे नवीनता और परिवर्तन के प्रति प्राय विरोधी भावना रखते हैं। बरट्रेण्ड रसेल लिखते हैं कि – "नौकरशाही मे प्रत्येक स्थल पर एक निषेधात्मक मनोविज्ञान को जिसका झुकाव निरन्तर निषेधो की ओर रहता है विकसित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।" वर्षों तक एक ही प्रकार का कार्य यत्रवत करते रहने से उनकी मानसिक प्रवृत्ति एक ढाचे में बध जाती है। वह हर नई चीज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते है।

प्रश्न 4 प्रशासकीय राज्य के गुणो का वर्णन करो।

उत्तर– (1) कानून और नियमो के आधार पर शासन कार्य चलाया जाता है।

(2) *विशेषज्ञो द्वारा शासन ही लोक सेवको को प्रशासन से सम्बन्धित हर* प्रकार का अनुभव और प्रशिक्षण प्राप्त होता है। स्थायी रूप से अपने पद पर बने रहते हैं।

प्रश्न 5 प्रशासकीय राज्य के दोषो का वर्णन करो ?

उत्तर– (1) यह लोकतात्रिक व्यवस्था के प्रतिकूल है क्योकि जनप्रतिनिधियो के बजाय *प्रशासक ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाते हैं।*

(2) लालफीताशाही पाई जाती है।

(3) कार्य देरी से सम्पन्न होता है।

(4) नौकरशाह शक्ति के भूखे होते हैं। शक्ति प्राप्त करने मे रत रहने से लोकहित की बात भूल जाते हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 प्रशासकीय राज्य की विशेषताएँ लिखिए ?

2 प्रशासकीय राज्य मे नौकरशाही की भूमिका का वर्णन कीजिए ?

3 प्रशासकीय राज्य के गुण दोषो का वर्णन कीजिए ?

4 क्या प्रशासकीय राज्य नौकरशाही के अभाव में सभव है ?

5 प्रशासकीय राज्य की स्थापना के प्रमुख कारणो का वर्णन कीजिए ?

अध्याय–5

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था ?
(क) गार्नर ने (ख) लास्की ने
(ग) रूसो ने (घ) माण्टेस्क्यू ने

2 व्यवस्थापिका के मूलभूत कार्य है–
(क) नीति निर्माण (ख) नीतियां का अनुमोदन
(ग) नीतियो का क्रियान्वयन (घ) न्याय

3 बजट स्वीकृत करने का कार्य करती है–
(क) कार्यपालिका (ख) व्यवस्थापिका
(ग) वित्त मंत्रालय (घ) प्रशासन

4 "यदि राजा स्वय ही विधि निर्माता और न्यायाधीश दोनों हो जाय तो निर्दयी राजा निर्दयतापूर्वक दण्ड व्यवस्था करेगा" यह कथन है–
(क) जॉन लॉक का (ख) जॉन बोदाँ का
(ग) हमिल्टन का (घ) ब्लेक स्टोन का

5 "दो सदन रखना ठीक ऐसा ही है जैसे एक गाडी के दोनों तरफ घोड़े जोत दिए जायें और वे विरोधी दिशा मे जाने का प्रयत्न करे।" यह कथन है–
(क) लास्की का (ख) डायसी का
(ग) रूजवेल्ट का (घ) बैंजामिन फ्रेंकलिन का

उत्तरमाला

1	(घ)	2	(क)	3	(ख)	4	(ख)	5	(घ)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 व्यवस्थापिका की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तर– नीति निर्माण विचार– विमर्शात्मक, न्यायिक, संविधान संशोधन कार्यपालिका प्रशासन पर नियंत्रण सरकार और जनप्रतिनिधियो के मध्य सम्पर्क स्थापित करना लोकमत का निर्माण और राष्ट्रीय वित्त पर नियंत्रण के कार्यों में व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका है।

प्रश्न 2 व्यवस्थापिका के पतन के क्या कारण हैं ?
प्रमुख कारण पाच हैं–

उत्तर– (1) सरकारी प्रशासन मे विशेषीकरण और तकनीकी स्वरूप की बढ़ती जटिलता
(2) अत्यधिक कार्यभार और समयाभाव
(3) प्रदत्त व्यवस्थापन
(4) दलीय अनुशासन
(5) मंत्रीमण्डल में व्यवस्थापिका के वरिष्ठ एव योग्य व्यक्तियो को स्थान मिलना।

अध्याय–6

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 कार्यपालिका के दो भाग कौनसे है?
(क) राजनीतिक कार्यपालिका और स्थायी लोकसेवाएँ
(ख) सरकार व मुख्य सचिव
(ग) मन्त्रिपरिषद् व मन्त्रिमण्डल
(घ) सरकार और अस्थायी सेवाएँ

2 बहुल कार्यपालिका पाई जाती है–
(क) स्विटजरलैंड मे (ख) भारत मे
(ग) ब्रिटेन मे (घ) अमेरिका मे

3 नाम मात्र की कार्यपालिका वाले देश है–
(क) अमेरिका और फ्रास (ख) भारत और इग्लैण्ड
(ग) नेपाल और इग्लैण्ड (घ) कोई भी नही

4 एकल कार्यपालिका का सर्वोत्तम उदाहरण है–
(क) इग्लैण्ड (ख) जापान
(ग) अमेरिका (घ) कोई भी नही

5 "कार्यपालिका सरकार का सार है–व्यवस्थापिका और न्यायपालिका इसके सवैधानीकरण के यत्र मात्र हैं"– यह कथन है–
(क) गार्नर का (ख) लास्की का
(ग) डायसी का (घ) कौरी का

उत्तरमाला

1	(क)	2	(क)	3	(ख)	4	(ग)	5	(घ)

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 कार्यपालिका से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– व्यवस्थापिका नीति निर्मात्री संस्था है। इन निर्मित नीतियों को क्रियान्वित करने वाला अग कार्यपालिका है। कार्यपालिका के अन्तर्गत राजनीतिक नेता, सभी अधिकारी उच्च सदन सम्मिलित हैं। ये सभी नीतियों के क्रियान्वयन और कानूनो के प्रशासन के लिए उत्तरदायी है।

प्रश्न 2 कार्यपालिका के विभिन्न मॉडलो का वर्णन कीजिए।

उत्तर– प्रथम ससदीय पद्धति–क्लासिकल इग्लिश मॉडल
द्वितीय मन्त्रिमण्डलीय पद्धति–कन्टेम्परेरी इग्लिश मॉडल
तृतीय प्रधानमत्री मन्त्रिमण्डलीय पद्धति–वर्तमान भारत और इग्लैण्ड में प्रचलित
चतुर्थ अध्यक्षात्मक पद्धति–अमेरिका मॉडल

पचम फ्रेच मॉडल ऑफ प्रेसीडेन्सीयन सिस्टम
षष्ठ बहुल कार्यपालिका–स्विस मॉडल ।

प्रश्न 3 कार्यपालिका के क्या कार्य हैं ?

उत्तर– कार्यपालिका के प्रशासनिक कार्य हैं कूटनीतिक या बाह्य सम्बन्धो को बनाये रखना, वित्तीय कार्य सैनिक व्यवस्थापन न्यायिक और राजनीतिक आदि अन्य कार्य हैं।

प्रश्न 4 कार्यपालिका के कार्यों मे वृद्धि के क्या कारण हैं ?

उत्तर (1) व्यवस्थापिका की अकुशलता या अयोग्यता
(2) कार्यपालिका अधिकारियों का विस्तार
(3) दलीय सरक्षण,
(4) राष्ट्रीय सकट
(5) सविधान के सरचनात्मक प्रावधान,
(6) सवैधानिक सशोधन,
(7) सरकारी नीतियो और समस्याओ की बढती जटिलता आदि।

प्रश्न 5 नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में क्या अन्तर है?

उत्तर– *ससदात्मक सरकारों वाले देश में राज्याध्यक्ष नाम मात्र की कार्यपालिका होता* है। उसके नाम से देश का शासन चलता है। उसका पद गरिमापूर्ण होता है, परन्तु व्यवहार में उसके सभी कार्यो को मत्रीमण्डल द्वारा सम्पादित किया जाता है। *अत मन्त्रिमण्डल जो वास्तव में कार्य करता है चाहे उसे कानून का समर्थन* है या नहीं वास्तविक कार्यपालिका है। भारत मे राष्ट्रपति नाममात्र का और मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 कार्यपालिका के गठन हेतु प्रचलित विभिन्न सिद्धान्त क्या हैं ?

2 आधुनिक राज्य मे कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए?

3 आधुनिक राज्य मे कार्यपालिका की स्थिति और कार्यों पर एक निबन्ध लिखिए?

4 आधुनिक राज्य में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य सम्बन्धों का स्पष्ट विवेचन कीजिए?

5 प्रदत्त व्यवस्थापन से क्या तात्पर्य है? इसमे वृद्धि क्यो हो रही है? क्या यह प्रजातत्र के लिये एक खतरा है?

❑❑❑

अध्याय–7

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 "किसी शासन की श्रेष्ठता को जाचने के लिए उसकी न्याय व्यवस्था की निपुणता से बढकर और कोई अच्छी कसौटी नही है"–यह विचार किसने व्यक्त किये है?
(क) डा गार्नर ने (ख) लार्ड ब्राइस ने
(ग) मैरियट ने (घ) वुडरो विलसन ने

2 "यदि न्याय का दीपक बुझ जाय तो उस गहन अन्धकार का अनुमान लगाना कठिन है" – यह विचार है–
(क) लार्ड ब्राइस का (ख) मैरियट का
(ग) लास्की का (घ) उक्त मे से किसी का नही।

3 न्यायिक पुनरावलोकन का जनक माना जाता है–
(क) मार्बरी बनाम मेडिसन विवाद म दिया गया फैसला
(ख) भारत के सविधान की प्रस्तावना
(ग) अमेरिका के सविधान के प्रस्ताव
(घ) केशवचन्द भारती बनाम भारत सरकार मे दिया गया फैसला

4 न्यायपालिका का मुख्य कार्य है–
(क) न्याय (ख) कानूनो का निर्माण
(ग) कानूनो का क्रियान्वयन (घ) उक्त सभी

5 न्यायपालिका की स्वतत्रता सुनिश्चित होती है–
(क) न्यायाधीशो की निष्पक्ष नियुक्ति द्वारा
(ख) न्यायाधीशो को हटाने में महाभियोग प्रक्रिया द्वारा
(ग) न्यायाधीशो के कार्यकाल की सुरक्षा द्वारा
(घ) उक्त सभी

उत्तरमाला

1	(ख)	2	(क)	3	(क)	4	(क)	5	(घ)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 न्यायपालिका का अर्थ और परिभाषाएँ क्या हैं ?

उत्तर– न्यायपालिका सरकार का एक अग है। भूतकाल में न्याय प्रशासन राज्य का सिरदर्द नही था वरन् व्यक्तिगत मामला माना जाता था। राज्य के पास न तो कोई ऐसा तत्र था और न ही ऐसा अग स्थापित करने की इच्छा ही थी। लार्ड ब्राइस के विचारानुसार न्यायपालिका की कुशलता से ही सरकार की कुशलता को अच्छी तरह परखा जा सकता है।

प्रश्न 2 न्यायपालिका का महत्त्व क्या है ?

उत्तर– आज सभी प्रजातान्त्रिक देशो में स्वतन्त्र न्यायपालिका को आवश्यक समझा गया है। न्यायपालिका संविधान और जनता की स्वतन्त्रता का मार्ग-दर्शन करती है। न्यायपालिका के अभाव में चोरी डकैती असुरक्षा आदि का देश मे बोलबाला हो जायेगा।

प्रश्न 3 न्यायिक पुनरावलोकन से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– देश का सर्वोच्च कानून संविधान है और सर्वोच्च न्यायालय संविधान को बचाने का कार्य करता है। यह जनता के मौलिक अधिकारो और स्वतन्त्रता का पथ-प्रदर्शक है। सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति द्वारा व्यवस्थापिका और कार्यपालिका द्वारा पारित सभी अधिनियमो की संवैधानिकता का निर्धारण करता है। उदाहरणार्थ– गोलकनाथ मामला केशव नन्दा ब्यूरो मामला।

प्रश्न 4 न्यायिक प्रशासन की अवधारणा क्या है ?

उत्तर– न्यायिक प्रशासन मे ब्रिटिश परम्परा का निर्वाह किया गया है। न्यायपालिका प्रशासन में पदसोपान पर आधारित है। सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय उसके बाद राज्यो में उच्चन्यायालय जिला स्तर जिला और सत्र न्यायालय और उनके नीचे प्रथम द्वितीय और तृतीय श्रेणी दण्डनायक के न्यायालय हैं। अब न्यायपालिका को कार्यपालिका से पूर्णरूपेण पृथक किया गया है।

प्रश्न 5 स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना हेतु क्या-क्या प्रयास किये गये हैं ?

उत्तर– (1) न्यायपालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पृथक किया गया है, (2) न्यायधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है (3) उच्च योग्यता , (4) दीर्घ कार्यकाल (5) सेवा सुरक्षा , (6) सेवानिवृत्ति के पश्चात् किसी भी सेवा के लिये प्रतिबध , (7) न्यायिक पुनरावलोकन हेतु विस्तृत प्रावधान (8) अपदस्थ करने के लिए महाभियोग प्रक्रिया आदि।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 न्यायपालिका के कार्यो का वर्णन कीजिए ?

2 न्यायपालिका की स्वतत्रता के लिए कौनसी दशाएँ निर्धारित की गई है ?

3 आधुनिक राज्य में स्वतत्र न्यायपालिका को किस प्रकार स्थापित किया गया है और क्यों ?

4 भारत मे सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति का वर्णन कीजिए ?

या

प्रजातान्त्रिक पद्धति में न्यायिक पुनरावलोकन के महत्व एव भूमिका का वर्णन कीजिए ?

5 भारत में न्यायिक सरचना एव कार्यों का वर्णन कीजिए ?

❑❑❑

अध्याय–8

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 लोकतंत्र मे सर्वोच्च स्थान 'सप्रभु' को दिया गया है और यह सप्रभु है–
(क) व्यवस्थापिका (ख) कार्यपालिका
(ग) जनता (घ) उक्त सभी

2 'लोकतंत्र' मे कल्याण का बिन्दु कौन होता है ?
(क) अधिकारी (ख) सामान्य जन
(ग) राजनीतिज्ञ (घ) अन्य कोई

3 लोकतंत्र मे लोक सेवको को राजनीति मे भाग लेने पर प्रतिबध होता है क्योकि–
(क) इससे नागरिको की स्वतत्रता मे बाधा पहुचती है।
(ख) सरकारी धन का अपव्यय होता है।
(ग) बजट निर्माण नही हो पाता है।
(घ) मतदान पर रोक लग सकती है।

4 लोकतत्रात्मक नौकरशाही मे लोकसेवको की प्रतिबद्धता किस के प्रति होती है?
(क) सत्तारूढ राजनीतिक दल के प्रति (ख) विपक्षी राजनीतिक दलो के प्रति
(ग) सयुक्त रूप से दोनो के प्रति (घ) सविधान के प्रति

5 ससद में पूछे जाने वाले प्रश्नो का उत्तर दिया जाता है–
(क) सचिवों द्वारा (ख) मत्रियो द्वारा
(ग) विपक्षी नेता द्वारा (घ) अध्यक्ष द्वारा

उत्तरमाला

1	(ग)	2	(ख)	3	(क)	4	(घ)	5	(ख)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 प्रजातंत्र की परिभाषा लिखिए–

उत्तर– विभिन्न लेखकों द्वारा प्रजातत्र को भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित किया गया है– राष्ट्रपति इब्राहिम लिंकन के अनुसार– 'प्रजातत्र जनता की, जनता द्वारा और जनता के लिये सरकार है।'
हॉकिंग ने कहा है– 'प्रजातत्र चेतन और अचेतन मस्तिष्क का एक सघ है।'' डाइसी लिखते हैं– 'प्रजातत्र सरकार का एक प्रकार है जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र का बहुत बडा भाग शासकीय निकाय के रूप में कार्य करता है।''

प्रश्न 2 प्रजातत्र के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर– प्रजातत्र के दो प्रकार हैं– प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष प्रजातत्र में सभी नागरिक एक स्थान पर एकत्रित होकर अपना मत प्रकट करते हैं। अप्रत्यक्ष प्रजातत्र में जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है और प्रतिनिधि जनता की ओर से किसी विषय पर विचार व्यक्त करते हैं।

प्रश्न 3 समाजवादियों द्वारा प्रजातत्र की आलोचना किस प्रकार की गई है?

उत्तर– समाजवादी प्रजातत्र की आलोचना करते हैं। प्रो लास्की के अनुसार पूँजीवाद और लोकतत्र के विवाह ने हमे ससदात्मक प्रजातत्र पद्धति दी है। पूँजीवाद लोकतत्र से अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि सम्पत्ति का सम्बन्ध जो कि प्रजातत्र का निर्धारण करता है इसका निर्माता सिद्धान्त है। प्रजातत्र इस सिद्धान्त को नही मानता है। इसके बिना वह इसे जन्म देने वाले विवाह को भग करने की स्थिति मे था। यह केवल कुछ शर्तों के आधार पर जीवित रह सकता है कि इसका पूजीवाद से तलाक हो जाय।"

प्रश्न 4 प्रजातत्र की उत्पत्ति का वर्णन करो।

उत्तर– प्रजातत्र की उत्पत्ति प्राचीन काल से हो गई थी। विशेषकर स्विटजरलैंड जर्मनी हॉलैण्ड और हगरी देशो मे। प्रो हेनरी जे फोर्ड के अनुसार प्रतिनिधि सरकार के रूप मे प्रजातत्र 19वी शताब्दी के मध्य मे हुआ। इग्लैण्ड मे प्रजातत्र 17वी शताब्दी में और बैलजियम में 1830 मे ससदात्मक सस्थानों की स्थापना से हुआ। सन् 1848 में यूरोप मे प्रजातात्रिक सरकार की स्थापना के लिये क्रातिकारी कदम उठाये गये। विशेषकर प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् 1930 मे सर्वत्र प्रजातत्र स्थापित करने के प्रयास किए गए।

प्रश्न 5 प्रजातत्र के सुधार हेतु सुझाव प्रस्तुत कीजिए?

उत्तर– 1 लार्ड ई पेरी के अनुसार "ससद का प्रथम और सर्वोच्च कार्य प्रधानमत्री को शक्तिशाली बनाना हो उनकी स्वतत्रता इसकी स्वतत्रता हो और उनकी शक्ति इसकी शक्ति हो।"

2 एन्डरयू मारिशास ने सिफारिश की है कि " व्यक्तिगत नेतृत्व किसी विशेष कार्य के लिए एक निश्चित अवधि के लिए दिया जाना चाहिए। तभी प्रजातत्र की बुराइयो को दूर कर सकते हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 प्रजातात्रिक प्रशासन की विशेषताओं का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2 प्रजातत्र की सफलता के लिए आवश्यक दशाओ का वर्णन कीजिए।
3 प्रजातत्र के गुण दोषो का चित्रण कीजिए।
4 प्रजातात्रिक प्रशासन पद्धति की मुख्य विशेषताओ का विश्लेषण कीजिए।
5 प्रजातात्रिक प्रशासन की मुख्य विशेषताओ का परीक्षण कीजिए।

□□□

अध्याय–9

बहुवचनात्मक प्रश्न

1 'ब्यूरोक्रेसी' शब्द की मूल उत्पत्ति हुई है–
(क) फ्रेंच भाषा से (ख) लैटिन भाषा से
(ग) अंग्रेजी भाषा से (घ) इनमें से किसी से नहीं

2 "करोड़ों व्यक्तियों ने ब्यूरोक्रेसी शब्द नहीं सुना है किन्तु जिस किसी ने भी सुना है वह या तो इसके प्रति शंकालु है"– यह विचार है–
(क) पॉल एच एपलबी का (ख) कार्ल फ्रेडरिक का
(ग) एफ एम मार्क्स (घ) वुडरो विलसन का

3 नौकरशाही की लूट प्रणाली प्रचलित थी–
(क) ब्रिटेन में (ख) अमेरिका में
(ग) भारत में (घ) चीन में

4 नौकरशाही के प्रमुख आलोचक हैं–
(क) रैम्जेम्योर (ख) लार्ड हीवर्ट
(ग) मर्टन (घ) उक्त सभी

5 नौकरशाही का आदर्श प्रतिमान प्रस्तुत किया था–
(क) कॉल मार्क्स ने (ख) मार्टन ने
(ग) मैक्स वेबर ने (घ) उक्त में से किसी ने नहीं

उत्तरमाला

1	(क)	2	(ग)	3	(ख)	4	(घ)	5	(ग)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 आधुनिक राज्य में नौकरशाही की भूमिका लिखिए।

उत्तर– नौकरशाही की राजनीतिक पद्धति में कार्यात्मक एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका है। संसदात्मक शासन व्यवस्था में मंत्री मंत्रालयाध्यक्ष होता है और लोक सेवक उनके नीचे कार्य करते हैं। लोक सेवक विशेषज्ञ हैं, प्रशिक्षित हैं, व्यावसायिक योग्यता रखते हैं। अतः नौकरशाही सरकारी नीति और कानूनों का क्रियान्वयन नीति के प्रस्ताव तैयार करना, दिन-प्रति-दिन के प्रशासन, अर्द्धन्यायिक कार्यों, कर संग्रह और वित्त का वितरण, व्यवस्थापन कार्यों में भूमिका, अभिलेख रखना, जन सम्पर्क स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

प्रश्न 2 नौकरशाही के आदर्श मॉडल का वर्णन कीजिए।

उत्तर– मैक्स वेबर के आदर्श मॉडल में स्पष्ट रूप से श्रम विभाजन, निश्चित कार्य विधियाँ, निश्चित कार्य क्षेत्र, पदसोपान पद्धति, कार्य पूर्ण करने हेतु विधिपूर्वक

व्यवस्था पद हेतु योग्यताएँ वेतन एव पेशन अधिकार निवेशित सम्बन्धो का विवेचन किया गया हे। आदर्श मॉडल मे सभी कार्य उक्त विशेषताओ के आधार पर ही किए जाते हे।

प्रश्न 3 नौकरशाही के दोषो का वर्णन कीजिए।

उत्तर– (1) जनसाधारण की मागो की उपेक्षा की जाती है।

(2) लालफीताशाही व्याप्त है। कार्य मे देरी होती है। औपचारिकताओ पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(3) नौकरशाही के कारण कार्य पृथक–पृथक खण्डों मे विभाजित हो जाते हैं। विभागीकरण को महत्त्व दिया जाता है।

(4) नौकरशाही की प्रवृति अनुत्तरदायी है।

प्रश्न 4 नौकरशाही कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर– **(1) अभिभावक नौकरशाही**–यह जनहित मे कार्य करती है। वे न्याय तथा लोक कल्याण के सरक्षक होते हैं।

(2) जातीय नौकरशाही–प्रशासकीय तथा राजनीतिक सत्ता एक ही वर्ग विशेष के हाथो मे हो तो जातीय नौकरशाही का उद्‌भव होता है।

(3) सरक्षक नौकरशाही–लोकसेवको की नियुक्ति नियोक्ता और प्रत्याशियो के राजनीतिक सम्बन्धों के आधार पर की जाती है।

(4) योग्यता नौकरशाही–योग्यता पर आधारित नौकरशाही का आधार सरकारी अधिकारी मे अधिकारी के गुण होते हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 प्रजातत्र मे नोकरशाही की भूमिका का एक आलोचनात्मक लेख लिखिए ?

2 भारत मे लोक सेवाओ की भूमिका का वर्णन कीजिए ? प्रजातत्र मे नोकरशाही के क्या कार्य है ?

3 नौकरशाही के सामान्य कारणो की विवेचना कीजिए ?

4 नौकरशाही के उत्थान के कारणो का वर्णन कीजिए ?

5 वर्तमान भारत के बदलते हुये परिपेक्ष में नौकरशाही की भूमिका परीक्षण कीजिए ?

❑❑❑

अध्याय–10

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 लोकतंत्र मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं –
(क) यातायात के साधन (ख) आय के साधन
(ग) परम्पराएँ (घ) राजनीतिक दल

2 "राजनीतिक दल ऐसे लोगों का समूह होता है जो किसी सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वह एक मत हों, अपने सामूहिक प्रयासो द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए बधें हों –" यह परिभाषा दी है –
(क) मैकाइवर ने (ख) लार्ड ब्राइस ने
(ग) मैक्स वेबर ने (घ) एडमण्ड वर्क ने

3 राजनैतिक दल किस आधार पर गठित होते हैं ?
(क) धार्मिक (ख) आर्थिक
(ग) जातीय (घ) उक्त सभी

4 दबाव समूहो का आरम्भ किस देश से माना जाता है ?
(क) भारत से (ख) पाकिस्तान से
(ग) अमेरिका से (घ) चीन से

5 दबाव समूहो का दूसरा नाम क्या है ?
(क) पार्टिया (ख) हित समूह
(ग) सत्ता सगठन (घ) यूनियन

उत्तरमाला

1	(घ)	2	(घ)	3	(घ)	4	(ग)	5	(ख)

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 प्रजातान्त्रिक देशों में राजनीतिक दलों की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तर– टी.वी स्मिथ के अनुसार, राजनीतिक दल प्रजातन्त्र की रीढ है। ये लोकमत का अपने पक्ष में निर्माण करते हैं। जनता मे राजनीतिक जागृति लाते हैं। चुनाव में भाग लेते हैं। प्रशासन की बागडोर अपने हाथों में रखते हैं। सरकार पर प्रतिबन्ध रखने का कार्य करते हैं।

प्रश्न 2 राजनीतिक दलों के क्या लाभ हैं ?

उत्तर– राजनीतिक दल मानव स्वभावानुसार हैं। बड़ी समस्याओं पर मतदाता का ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रजातन्त्र के कार्यों को सम्भव बनाते हैं। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य सहयोग उत्पन्न करते हैं। सुधारात्मक कार्य करते हैं। जनजागरण उत्पन्न करते हैं। सरकार और संविधान के कार्यों को लचीला बनाते हैं।

प्रश्न 3 भारत के दवाव समूह कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर– दो मुख्य वर्गों–संस्थागत रुचि समूह और गैर-संस्थागत हैं। भारत मे बडे व्यापार समूह किसान सगठन व्यापार सघ छात्र सघ धर्म समूह जाति समूह आदिवासी क्षेत्र समूह व्यावसायिक समूह महिला सगठन भाषा दबाव समूह और गाँधीवादी आदर्श पर आधारित दबाव समूह।

प्रश्न 4 भारत में दबाव समूह का क्या तरीका है ?

उत्तर– (1) लॉबिग (2) प्रोपेगडा और मास मीडिया (3) पार्टी प्लेटफार्म का उपयोग (4) हडताल (5) चुनाव विरोध (6) प्रदर्शन (7) घेराव (8) बन्द।

प्रश्न 5 भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश मे दबाव समूह की भूमिका लिखिए।

उत्तर– दबाव समूह नीति निर्माण को अपने पक्ष मे प्रभावित करते हैं। चुनाव में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। रुचि सरचना मे महत्वपूर्ण योगदान है। दलीय राजनीति में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अप्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका की कार्य प्रणाली को प्रभावित करते हैं। लोकमत का अपने पक्ष में निर्माण करते हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 राजनीतिक दलो की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

2 "प्रजातान्त्रिक सरकारो मे राजनीतिक दल विशेष भूमिका निभाते हैं।" सिद्ध कीजिए।

3 राजनैतिक दलो के गुण दोषों का वर्णन कीजिए।

4 भारत मे दबाव समूहो के विविध प्रकारों को लिखिए।

5 दबाव समूह किस प्रकार से कार्य करते हैं।

या

दबाव समूहों के कितने प्रकार हैं ?–सविस्तार लिखिये।

□□□

अध्याय–11

बहुवचनात्मक प्रश्न

1 राष्ट्रपति द्वारा पाच वर्ष पश्चात वित्त आयोग का गठन किस अनुच्छेद के अन्तर्गत किया जाता है ?
(क) अनुच्छेद 280 (ख) अनुच्छेद 320
(ग) अनुच्छेद 330 (घ) अनुच्छेद 350

2 वित्त आयोग मे कितने सदस्य सम्मिलित होते है ?
(क) एक अध्यक्ष और चार सदस्य (ख) एक अध्यक्ष और तीन सदस्य
(ग) एक अध्यक्ष और दो सदस्य (घ) उक्त मे से कोई संख्या नही

3 अब तक कितने वित्त आयोग अपना प्रतिवेदन दे चुके है ?
(क) बारह (ख) ग्यारह
(ग) दस (घ) नौ

4 ग्यारहवे वित्त आयोग के अध्यक्ष थे ?
(क) श्री महावीर त्यागी (ख) के सी नियोगी
(ग) ए एम खुसरो (घ) के सी पत

5 वित्त आयोग का अध्यक्ष होता है ?
(क) कोई सेवानिवृत्त न्यायाधीश (ख) सार्वजनिक जीवन का अनुभवी व्यक्ति
(ग) आर्थिक व वित्तीय मामलो का विशेषज्ञ
(घ) उक्त मे से कोई नही

उत्तरमाला

1	(क)	2	(क)	3	(ख)	4	(ग)	5	(ख)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 वित्त आयोग के क्या कार्य हैं ?

उत्तर– केन्द्रीय करो की शुद्ध आय का केन्द्र और राज्यो के मध्य बटवारा। कोई भी वित्तीय स्थिति सुदृढ करने सम्बन्धी विषय जिसे राष्ट्रपति ने आयोग को सौंपा है। भारत की संचित निधि से दी जाने वाली राज्यो को सहायतानुदान के सिद्धान्त निश्चित करना।

प्रश्न 2 अब तक कितने वित्त आयोग गठित किये गये हैं ?

उत्तर– ग्यारह – (1) के सी नियोगी (2) के सन्थानम, (3) ए के चदा (4) डा पी वी राजामन्नार, (5) महावीर त्यागी, (6) ब्रह्मा नद रेड्डी, (7) जे एम शेलेट (8) वाई बी चौहान (9) एन के पी साल्वे (10) के सी पत और (11) ए एम खुसरो

प्रश्न 3 10 वे वित्त आयोग की आयकर के सदर्भ मे सिफारिशे लिखिये ?

उत्तर– दसवे वित्त आयोग ने राज्य सरकारो को आयकर का 77 5 प्रतिशत वितरित करने की सिफारिश की थी। राज्यो मे वितरण का आधार सिद्धान्त निर्धारित करते हुए 20 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर और शेष 80 प्रतिशत वहा से होने वाले आयकर के आधार पर दने को कहा था।

प्रश्न 4 8वे 9वे और 10वे वित्त आयोग ने उत्पादन कर वितरण के सदर्भ मे क्या सिफारिश की थी ?

उत्तर– 8वे 9वे और 10वे वित्त आयोग ने उत्पादन कर का वितरण राज्यो को जनसख्या के आधार पर 47 5 प्रतिशत वितरित करने का सुझाव दिया था।

प्रश्न 5 वित्त आयोग की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तर– वित्त आयोग की वित्त व्यवस्था को स्थिर रखने मे निष्पक्ष एव तटस्थ दृष्टिकोण अपनाता है। वित्त वितरण के सदर्भ मे राज्यो और केन्द्र के बीच राजनीतिक विवाद दूर रखने में सहयोग करता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 वित्त आयोग का सगठन लिखिये। यह किस प्रकार केन्द्र और राज्य के बीच वित्तीय सम्बन्धो को बनाए रखने मे सहायता करता है ?
2 वित्त आयोग पर एक लेख लिखिए।
3 वित्त आयोग की आवश्यकता क्यों है ? वित्तीय प्रशासन मे वित्त आयोग की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4 दसवें वित्त आयोग पर एक लेख लिखिए।
5 वित्त आयोग के सगठन एव कार्यों का वर्णन कीजिए।

□□□

अध्याय–12

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 योजना आयोग की स्थापना भारत मे कब की गई थी ?
   (क) 15 मार्च 1956 को   (ख) 15 मार्च, 1952 को
   (ग) 15 मार्च 1951 को   (घ) 15 मार्च 1950 को
2 योजना आयोग के प्रथम अध्यक्ष थे –
   (क) गुलजारी लाल नन्दा   (ख) सरदार पटेल
   (ग) पडित जवाहरलाल नेहरू   (घ) उक्त मे से कोई नही
3 राष्ट्रीय विकास परिषद् मे निम्न मे से कौन-सा सदस्य नही होता ?
   (क) राज्यो के योजना मत्री   (ख) प्रधानमत्री तथा केन्द्रीय मत्री
   (ग) राज्यों के मुख्यमन्त्री   (घ) योजना आयोग के सदस्य
4 राष्ट्रीय विकास परिषद् के कार्य एव भूमिका के बारे मे निम्न मे से कौन-सी बात सत्य है ?
   (क) केन्द्र और राज्य के बीच वित्त वितरण का कार्य करती है।
   (ख) राज्य की योजनाओ का निरूपण करती है।
   (ग) राज्य की योजनाओं को अतिम रूप से स्वीकृत करती है।
   (घ) राष्ट्रीय योजना के उद्देश्यों व व्यूह रचना पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करती है।
5 "देश मे उपलब्ध सभी प्रकार के आर्थिक, भौतिक, पूँजीगत तथा मानवीय, तकनीकी, कार्मिक ससाधनो का मूल्याकन करना तथा राष्ट्र की आवश्यकताओ के सदर्भ मे " यह कार्य है –
   (क) वित्त आयोग का   (ख) योजना आयोग का
   (ग) राष्ट्रीय विकास परिषद् का   (घ) केन्द्रीय वित्त मत्रालय का

उत्तरमाला

1	(घ)	2	(ग)	3	(क)	4	(घ)	5	(ख)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 योजना आयोग से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– योजना अपने मे अन्त नहीं है बल्कि यह अन्त का साधन है। योजना का उदय फ्रैंच शब्द प्रेवोयेन्स (Prevoyance) से हुआ है जिसका अर्थ है–लुकिंग एहेड। इसका अर्थ है कि किसी कार्य हेतु सगठित प्रयास जो भावी समस्याओं के समाधान के लिए किया गया है। सक्षेप मे, योजना में कार्य के उद्देश्यों को स्पष्ट और निश्चित किया जाता है। कौन-सा कार्य किसके द्वारा किया जायेगा कब किया जायेगा, किस प्रकार किया जायेगा और उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितना व्यय करना पडेगा, आदि।

प्रश्न 2 योजना आयोग के कार्य लिखिए ?

उत्तर– देश के ससाधनो के सन्तुलित उपयोग के लिए अत्यन्त प्रभावकारी योजना बनाना योजना क्रियान्विति के चरणो का निर्धारण तथा उनके लिए ससाधनो का नियमन करना आर्थिक विकास मे आने वाली बाधाओ को दूर करना तथा योजना की सफल क्रियान्विति के लिए परिस्थिति निर्धारण योजना के प्रत्येक चरण की सफल क्रियान्विति हेतु आवश्यक तत्र का स्वरूप निश्चित करना योजना की चरणवार प्रगति का अवलोकन एव सिफारिशे देश के भौतिक ससाधनों और जन शक्ति का अनुमान लगाना तथा राष्ट्र की आवश्यकतानुसार उन ससाधनों की वृद्धि सम्भावनाओ का पता लगाना।

प्रश्न 3 वर्तमान मे योजना आयोग का सगठन बताइये।

उत्तर– योजना आयोग परामर्शदात्री व विशेषज्ञ सस्था है। इसमें अध्यक्ष–प्रधानमत्री उपाध्यक्ष–उप प्रधानमत्री (यदि हो तो) दो सदस्य–वित्त मत्री, कृषि मत्री तथा 6 पूर्णकालिक सदस्य हैं।

प्रश्न 4 राष्ट्रीय विकास परिषद् के कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– (1) राष्ट्रीय योजना की प्रगति पर समय-समय पर विचार करना।

(2) राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों सम्बन्धी विषयों पर विचार करना।

(3) राष्ट्रीय योजना के निर्धारित लक्ष्यो व उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सुझाव देना आदि।

प्रश्न 5 राष्ट्रीय विकास परिषद् के सगठन का वर्णन कीजिए।

उत्तर– राष्ट्रीय विकास परिषद् का गठन अगस्त 1952 में किया गया परिषद् मे प्रधानमत्री योजना आयोग के सभी सदस्य सभी राज्यों के मुख्यमत्री केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि तथा भारत सरकार के प्रमुख विभागो के कुछ मत्री सम्मिलित होते हैं। यदि कोई मुख्यमत्री परिषद् की बैठक मे उपस्थित होने मे असमर्थ होता है तो वह अपना प्रतिनिधि भेज देता है। प्रधानमत्री इस परिषद् का अध्यक्ष होता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 "योजना आयोग प्रशासनिक सगठन होने के बजाय एक परामर्शदात्री निकाय है।"– योजना आयोग के सगठन के सदर्भ में इस कथन की सत्यता का परीक्षण कीजिए।

2 योजना आयोग के सगठन एव कार्यों का वर्णन कीजिए। योजना आयोग के श्रेष्ठ मत्रिमण्डलीय स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

3 योजना आयोग की भूमिका का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

4 राष्ट्रीय विकास परिषद् के सगठन एव कार्यों का वर्णन कीजिए।

5 राष्ट्रीय विकास परिषद् की भूमिका पर लेख लिखिए।

□□□

अध्याय–13

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 निर्वाचन आयोग की स्थापना का प्रावधान संविधान के किस अनुच्छेद मे है?
(क) अनुच्छेद 280 (ख) अनुच्छेद 315
(ग) अनुच्छेद 320 (घ) अनुच्छेद 324

2 वर्तमान मे मुख्य निर्वाचन आयुक्त के साथ निर्वाचन आयुक्त स्वीकृत पद हैं –
(क) एक (ख) दो
(ग) चार (घ) छ

3 मुख्य निर्वाचन आयुक्त को पद से हटाने के लिए प्रक्रिया निर्धारित है –
(क) प्रधानमत्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा
(ख) उच्चतम न्यायालय के आदेश पर प्रधानमत्री द्वारा
(ग) ससद द्वारा 2/3 बहुमत कदाचार के दोष के समर्थन पर राष्ट्रपति द्वारा
(घ) नही हटाया जा सकता है

4 निर्वाचन आयोग का कार्य नही है –
(क) निर्वाचन का आयोजन
(ख) राजनीतिक दलो का पजीकरण एव प्रतीक आवटन
(ग) चुनाव निदेशन तथा नियत्रण
(घ) उम्मीदवारो का चयन

5 लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम ससद ने पारित किया –
(क) 1950-51 मे (ख) केवल 1950 मे
(ग) केवल 1951 में (घ) 1947 मे

उत्तरमाला

1	(घ)	2	(ख)	3	(ग)	4	(घ)	5	(क)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 *"भारत मे प्रचलित चुनाव पद्धति विकासशील प्रजातात्रिक पद्धति की आवश्यकताओ के अनुरूप है।" इस सन्दर्भ मे भारतीय चुनाव पद्धति की विशेषताओ का वर्णन कीजिए?*

उत्तर– भारतीय सविधान में सयुक्त मतदान पद्धति को अपनाया गया है। सभी मतदान के पात्र व्यक्ति सामान्य मतदाता के रूप में अपने प्रतिनिधियों का चयन करते हैं। किसी व्यक्ति को धर्म, जाति, लिग या अन्य कारणो से मतदान करने से वचित नहीं रखा जाता। कुछ प्रतिनिधियों को मनोनीत किये जाने की व्यवस्था है। ससद के लोकप्रिय सदन लोकसभा और राज्यों की विधानसभा के प्रत्यक्ष

चुनाव होते हैं। लोकसभा राज्यसभा राज्य विधानसभा राज्य विधान परिषद् के सदस्यो के लिये कुछ योग्यता और अयोग्यता का निर्धारण किया गया है। अनुसूचित जाति जनजाति महिला वर्ग के लिये आरक्षण का प्रावधान है। निर्वाचन क्षेत्रो का परिसीमन किया जाता है। कई निर्वाचन क्षेत्र एकल और क्षेत्रीय सदस्यता से सम्बद्ध हैं आदि आदि।

प्रश्न 2 चुनाव आयोग के संगठन एव कार्यों को सक्षेप मे लिखिये।

उत्तर– चुनाव आयोग मे एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त और दो अन्य निर्वाचन आयुक्त होते हैं। राष्ट्रपति के द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयुक्तो की नियुक्ति की जाती है। चुनाव आयोग सम्पूर्ण चुनाव कार्यों के लिये उत्तरदायी हैं जैसे – (1) चुनाव क्षेत्रो का परिसीमन (2) मतदाता सूचिया तैयार करना (3) विभिन्न राजनीतिक दलो को मान्यता प्रदान करना (4) राजनीतिक दलो को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करना (5) अर्द्धन्यायिक कार्य, (6) राजनीतिक दलों के लिए आचार सहिता तैयार करना (7) उम्मीदवारों के कुल व्यय की राशि निश्चित करना (8) मतदाता को राजनीतिक प्रशिक्षण देना आदि।

प्रश्न 3 *क्या निर्वाचन आयोग एक निष्पक्ष और स्वतंत्र सस्था है ?*

उत्तर– भारत में निर्वाचन आयोग को निष्पक्ष एव स्वतत्र सस्था बनाने के लिए प्रयास किए गए हैं –

(1) यह एक सवैधानिक सस्था है।
(2) मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।
(3) मुख्य चुनाव आयुक्त को महाभियोग जैसे प्रक्रिया से हटाया जा सकता है।
(4) मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्तो को सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश का दर्जा दिया गया है।
(5) मुख्य आयुक्त और अन्य आयुक्तों का वेतन भारत की सचित निधि पर आधारित है।
(6) सेवानिवृत्ति आयु 65 वर्ष या कार्यकाल 6 वर्ष रखा गया है।

प्रश्न 4 चुनाव में किस प्रकार का भ्रष्टाचार व्याप्त है ?

उत्तर– किसी उम्मीदवार को चुनाव मैदान से हटाने के लिए घूस देना, किसी व्यक्ति के स्वतत्रतापूर्वक मतदान देने को प्रभावित करना चेतावनी देना जैसे– सामाजिक बहिष्कार करना दुर्घटना करना आदि। धर्म जाति लिंग भाषा के आधार पर दबाव डालना, झूठा प्रचार करना निश्चित राशि से अधिक उम्मीदवार द्वारा व्यय किया जाना मतदान केन्द्रो पर कब्जा आदि।

प्रश्न 5 कार्यालय कर्त्तव्यों के उल्लघन से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– किसी अधिकरी / कर्मचारी के कार्यालय कर्त्तव्यों मे मतदाता सूची की तैयारी पुनर्निर्माण और सही करने का कार्य सम्मिलित है। मतदान को गोपनीय रखना

ऐसा कोई कार्य जो उम्मीदवार के चुनाव से सम्बन्धित है चुनाव आचरण संहिता का पालन न करना चुनाव अभिकर्त्ता रोलिंग अभिकर्त्ता या सरकारी कर्मचारियों का चुनाव प्रचार करने का कार्य मतदान केन्द्र पर कब्जा आदि स्थितियाँ कर्त्तव्यों का उल्लंघन मानी जाती हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 भारत मे निर्वाचन आयोग के संगठन एव कार्यों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2 मई-जून 1991 के चुनाव के समय निर्धारित चुनाव आचरण संहिता का सविस्तार वर्णन कीजिए।
3 भारत मे चुनाव प्रशासन मे चुनाव आयोग की भूमिका लिखिए। हाल ही मे चुनाव सुधारो के लिये क्या व्यवस्था की गई है ?
4 भारत मे चुनाव आयोग का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
5 भारत में चुनाव आयोग का गठन शक्तियाँ एव कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

अध्याय–14

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना कब हुई?

(क) 1953 में (ख) 1956 मे

(ग) 1961 मे (घ) 1977 मे

2 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष का कार्यकाल है–

(क) 5 वर्ष (ख) 6 वर्ष

(ग) 7 वर्ष (घ) 8 वर्ष

3 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का कार्यालय कहा स्थित है–

(क) मुबई (ख) चैन्नई

(ग) दिल्ली (घ) कलकत्ता

4 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सदस्य निम्न मे से किस क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं?

(क) प्रशासन (ख) शिक्षा

(ग) इजीनियरिंग एव कानून (घ) उक्त सभी

5 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अपना वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है–

(क) राष्ट्रपति को (ख) लोकसभा को

(ग) लोकसभा और राज्यसभा दोनों को (घ) केन्द्र सरकार को

उत्तरमाला

1 (क)	2 (क)	3 (ग)	4 (घ)	5 (ख)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का सगठन क्या है? एक चार्ट बनाइये?

उत्तर– विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में चैयरमेन सहित 9 से 12 सदस्य होते हैं। यह व्यवस्था विश्व विद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1972 में की गई है। नीचे चार्ट दिया जा रहा है–

वर्तमान संरचना
↓
1 चेयरमेन
↓
1 वाइस चेयरमेन
↓
10 सदस्य
↓
सचिव
↓

1 कार्यात्मक समूह	सचिव ↓
2 स्थायी समिति	अतिरिक्त सचिव ↓
3 विशेषज्ञ समिति	संयुक्त सचिव ↓
4 पुनर्विचार समिति	उप-सचिव ↓
5 वान्डर ग्रुप	शिक्षा अधिकारी ↓
6 विषय विशेषज्ञ पेनल	अन्य कार्यकर्त्ता
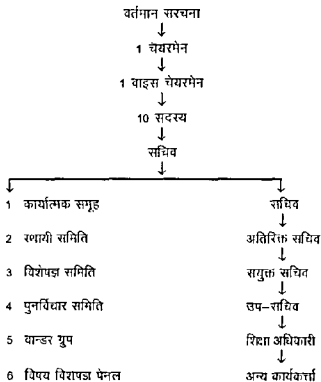
प्रश्न 2 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका क्या है?

उत्तर– 1 उच्च शिक्षा का समन्वय और स्तर निर्धारण का कार्य
2 विश्वविद्यालय विकास म
3 महाविद्यालय विकास म
4 फेकल्टी सुधार हेतु
5 छात्रा की रुचि अनुसार कार्य करना
6 डीम्ड विश्वविद्यालय संस्थाना का विकास
7 सांस्कृतिक परिवर्तन कार्यक्रमों का आयोजन और अन्तरराष्ट्रीय स्तर प्राप्त करना
8 पत्राचार पाठ्यक्रमों वयस्क एव निरन्तर शिक्षा का विकास
9 महिलाओ के लिए उच्च शिक्षा
10 शोध कार्यों को प्रोत्साहित करने मे विशेष भूमिका।

प्रश्न 3 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एव केन्द्र सरकार क सम्बन्धो का वर्णन कीजिए।

उत्तर– विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ससदीय अधिनियम क अन्तर्गत गठित आयोग है। आयोग अधिनियम की विभिन्न धाराओ स आयोग और सरकार के

सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं। अधिनियम में आयोग के चैयरमैन वाइस चेयरमैन और सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। नियमों के अन्तर्गत ही आयोग सचिव सहित अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। नियुक्ति में आयोग स्वतंत्र है परन्तु वह केन्द्र सरकार द्वारा दिए गए नीति निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करता है। जब कभी किसी विषय या केन्द्र सरकार और आयोग के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो केन्द्र सरकार का निर्णय अंतिम होता है। आयोग केन्द्र सरकार की एजेन्सी के रूप मे कार्य करता है।

प्रश्न 4 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विश्वविद्यालय मे क्या सम्बन्ध है?

उत्तर– दोनों के मध्य सम्बन्ध को दो व्यक्तियों के रूप मे व्यक्त कर सकते हैं। जिनमे से एक व्यक्ति वित्तीय सहायता देता है और दूसरा व्यक्ति वित्तीय सहायता प्राप्त करता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग वित्तीय सहायता राशि का आवटन करता है और विश्व विद्यालय उच्च शिक्षा के विकास तथा शिक्षण परीक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में उच्च मापकों को स्थापित करने के लिए सहायता राशि को ग्रहण करते हैं। ऐसी स्थिति से दोनों के बीच सम्बन्ध दो पृथक एवं समानान्तर स्वायत्तशासी संस्था के न होकर अधिकारी और अधीनस्थ के होते हैं।

प्रश्न 5 1949 में स्थापित राधाकृष्णन आयोग की सिफारिश क्या थीं?

उत्तर– *राधाकृष्णन आयोग की सिफारिशें थी कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को* केवल अनुदान आवटन का कार्य करना चाहिए। एक अन्य निकाय विश्वविद्यालयों *के समन्वय और मानदण्डों को बनाए रखने के लिए स्थापित किया जाय।*

निबन्धात्मक प्रश्न

1 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

2 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका सविस्तार लिखिए।

3 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के गठन की आवश्यकता क्यो अनुभव की गई।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की संरचना संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

4 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और सरकार के मध्य सम्बन्ध पर टिप्पणी लिखिए।

5 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विश्वविद्यालय के मध्य सम्बन्धों पर एक टिप्पणी लिखिये।

□□□

अध्याय–15

बहुचनात्मक प्रश्न

1 लोकसेवाओं से सम्बन्धित शाही आयोग की स्थापना फर्नहली की अध्यक्षता मे हुई थी–

(क) सन् 1787 मे (ख) सन् 1887 मे

(ग) सन् 1917 मे (घ) सन् 1923 मे

2 सघीय लोक सेवा आयोग की स्थापना भारतीय सविधान के किस अनुच्छेद सख्या के अन्तर्गत हुई?

(क) अनुच्छेद 315 (ख) अनुच्छेद 315 – 316

(ग) अनुच्छेद 316 – 317 (घ) अनुच्छेद 317 – 318

3 सघ लोक सेवा आयोग का व्यय सचित निधि पर भारित होने की व्यवस्था है–

(क) अनुच्छेद 323 मे (ख) अनुच्छेद 322 मे

(ग) अनुच्छेद 321 मे (घ) किसी मे भी नही

4 सघ लोक सेवा आयोग के कार्यों मे वृद्धि की जा सकती है–

(क) ससद द्वारा नियम बनाकर (ख) राष्ट्रपति द्वारा

(ग) केवल लोक सभा द्वारा (घ) सविधान मे परिवर्तन द्वारा

5 सघ लोक सेवा आयोग परामर्शदात्री सस्थान है पर निम्न विषयो पर परामर्श नही देता है–

(क) भर्ती नीति सम्बन्धी मामले (ख) अनुशासनात्मक मामले

(स) वेतन वृद्धि सम्बन्धी मामले (घ) पदोन्नति सम्बन्धी मामले

उतरमाला

1	(घ)	2	(क)	3	(ख)	4	(क)	5	(ग)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 सघ लोक सेवा आयोग के वार्षिक प्रतिवेदन का वर्णन कीजिए।

उत्तर– सघ लोक सेवा आयाग अपना वार्षिक प्रतिवेदन तयार करता है। इस प्रतिवेदन मे आयोग भर्ती प्रक्रिया मे उत्पन्न समस्याओ और भावी भर्ती, पदोन्नति अनुशासनात्मक कार्यवाही से सम्बन्धित सुझावो और जटिलताओ पर तटस्थता पूर्वक प्रकाश डालता है। सरकार इस प्रतिवेदन के साथ ज्ञापन जोडते हुए जिसमें इस बात का उल्लेख किया जाता है कि आयोग की सिफारिशो पर किस प्रकार से अमल किया गया है ससद के सामने प्रस्तुत करती है। लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदना स सिद्ध होता है कि सरकार ने कुछ मामलों को छोडकर आयोग की सिफारिशो को स्वीकार किया है।

प्रश्न 2 सघ लोक सेवा आयोग की अस्थायी और पुन नियुक्ति के सदर्भ में भूमिका लिखिये।

उत्तर– जब कभी सरकार विभागों में अस्थायी नियुक्तियाँ करती है तो लोक सेवा आयोग से परामर्श करती है। यह अस्थायी नियुक्तियाँ केवल निश्चित समय के लिए की जाती हैं। विभाग इनकी सूचना आयोग को भेजते हैं। उसी व्यक्ति की सेवाओं को निरन्तर बनाए रखने की आवश्यकता पर पुन आयोग से परामर्श करना होता है। आयोग के परामर्श सेवानिवृत्ति के उपरान्त पुन सेवा में लिए जाने मे लिए भी आवश्यक है।

प्रश्न 3 सघ लोक सेवा आयोग के कार्य लिखिए।

उत्तर– केन्द्र सरकार की सेवाओ में नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का आयोजन करना परामर्श देने का कार्य–नियुक्ति, पदोन्नति, एक सेवा से दूसरी सेवा में स्थानातरण के मामले में भर्ती प्रक्रिया से सम्बन्धित विषयों पर, अनुशासनात्मक कार्यवाही के सदर्भ में आदि।

प्रश्न 4 ससद द्वारा लोक सेवा आयोग को दी गई अतिरिक्त शक्ति का वर्णन कीजिए।

उत्तर– ससद कानून बनाकर आयोग को केन्द्रीय सेवाओं, स्थानीय सरकारो की क्रामिक पद्धति, निगम निकाय या लोक सस्थान का अतिरिक्त कार्य भार सौंप सकती हैं। दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 के अनुसार उच्च पदों पर सगठन मे नियुक्ति सघ लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है।

प्रश्न 5 सघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों को हटाने की क्या प्रक्रिया है?

उत्तर– सविधान के अनुच्छेद 317 में आयोग के सदस्यों को हटाने की प्रक्रिया का वर्णन हैं। आयोग के सदस्यो को दुराचार के लिए राष्ट्रपति के आदेश से पदच्युत किया जा सकता है। दुराचार प्रमाणित करने के लिए न्यायालय द्वारा जाँच की जाती है। न्यायालय अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है। इस जाच के पूर्ण होने तक राष्ट्रपति उस व्यक्ति को निलम्बित कर सकता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 सघ लोक सेवा आयोग पर लेख लिखिए।
2 सघ लोक सेवा आयोग के सगठन एव कार्यो का वर्णन कीजिए।
3 सघ लोक सेवा आयोग की शक्तियों एव कार्यों का वर्णन कीजिए।
4 सघ लोक सेवा आयोग के कार्यों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5 सघ लोक सेवा आयोग की भर्ती और परामर्शदात्री भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

❑❑❑

अध्याय–16

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 ब्रिटिश शासनकाल मे भारत मे रेलवे बोर्ड की स्थापना हुई–
(क) 1857 मे (ख) 1853 मे
(ग) 1905 मे (घ) 1947 मे

2 रेलवे आयुक्त का पद चैयरमेन रेलवे बोर्ड के रूप मे परिवर्तित हुआ?
(क) सन् 1938 मे (ख) सन 1951 मे
(ग) सन् 1942 मे (घ) सन 1960 मे

3 रेलवे का व्हील एण्ड एक्सल प्लाट स्थित है–
(क) जयपुर मे (ख) चैन्नई मे
(ग) बैंगलोर मे (घ) कलकत्ता मे

4 भारत मे रेलवे बोर्ड की स्थापना किस समिति के सुझाव पर की गई थी ?
(क) जैफरसन समिति (ख) राबर्टसन समिति
(ग) गोरे समिति (घ) सिविल इजीनियर समिति

5 इटीग्रल कोच फैक्टरी स्थित है–
(क) मुम्बई मे (ख) वाराणसी मे
(ग) पैराम्बूर मे (घ) अमृतसर मे

उत्तरमाला

1	(ग)	2	(क)	3	(घ)	4	(ख)	5	(ग)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 वर्तमान रेलवे प्रशासन का चार्ट बनाइये ?

उत्तर–

रेलवे प्रशासन
↓
रेल मन्त्रालय | रेलवे मण्डल | परामर्शदात्री समितियाँ
↓
क्षेत्रीय रेले | इन्सपेक्शन एण्ड स्टेण्डर्ड ऑर्गनाइजेशन | निर्माण इकाइयाँ
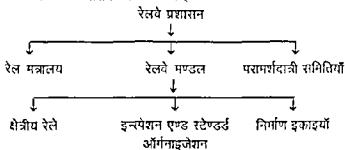
प्रश्न 2 रेलवे मण्डल के क्या कार्य हैं ?

उत्तर– 1 उच्चतम नीति निर्माण 2 रेलवे मण्डल रेल मत्रालय के रूप मे, 3 क्षेत्रीय रेलो में समन्वय, 4 सेविवर्ग प्रशासनिक, 5 यात्री सुविधाओं का विकास 6 रेलवे सामग्री का उत्पादन, आदि।

प्रश्न 3 रेलवे बोर्ड की वर्तमान संरचना लिखिए।

उत्तर– रेलवे बोर्ड मे एक चैयरमेन एक वित्त आयुक्त और 5 अन्य कार्यात्मक सदस्य और एक सचिव है। चैयरमेन स्वय एक कार्यकारी सदस्य होता है और उसे भारत सरकार के प्रमुख सचिव का दर्जा प्राप्त है। यह विभाग का प्रशासनिक अध्यक्ष होता है और रेलवे सम्बन्धी नीति निर्धारण मे रेल मत्री को परामर्श देता है। वित्त आयुक्त के अतिरिक्त अन्य सदस्यो के विचारो को रद्द कर सकता है।

प्रश्न 4 *रेलवे मण्डल की कार्य प्रणाली क्या है ?*

उत्तर– रेलवे मण्डल की सप्ताह में दो बार बैठक होती है। किसी महत्वपूर्ण मसले पर दो बार से अधिक भी बैठक हो सकती है। बैठक चैयरमेन आमन्त्रित करता है तथा बैठक का सभापतित्व करता है। बैठक की कार्यसूची चैयरमेन रेलवे मण्डल के अन्य सदस्यों के सुझावों को ध्यान मे रखकर बनाता है। बैठक के निर्णयो का अभिलेख रखा जाता है और कार्यवाही के लिये निदेशक को भेज दिया जाता है।

प्रश्न 5 रेलवे बोर्ड की भूमिका के सम्बन्ध मे वाचू जाच समिति ने क्या सिफारिशें की थी?

उत्तर– सन् 1968 मे गठित वाचू समिति का कहना था कि रेलवे जैसे सार्वजनिक उद्यम से राजनीतिक हस्तक्षेप को समाप्त करने के लिए रैलवे बोर्ड को एक *स्वायत्तशासी निगम में परिवर्तित कर दिया जाना चाहिए।*

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रेलवे मण्डल के सगठन एव कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. रेलवे बोर्ड की कार्य प्रणाली एव विशेषताओ का वर्णन कीजिए।
3. भारत मे रेलवे प्रशासन पर एक लेख लिखिए।
4. भारतीय रेल देश का सबसे बडा सार्वजनिक उपक्रम है स्पष्ट कीजिए।
5. वर्तमान रेलवे बोर्ड की सरचना कार्य प्रणाली और भूमिका की विवेचना कीजिए।

❑❑❑

अध्याय–17

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना कब हुई थी ?
(क) 1 मार्च 1934 को (ख) 1 अप्रैल 1935 को
(ग) 31 मार्च, 1947 को (घ) 15 अगस्त 1947 को

2 भारतीय रिजर्व बैंक मे गवर्नर एव उप गवर्नर हैं–
(क) एक गवर्नर चार उप गवर्नर (ख) दो गवर्नर एक उप गवर्नर
(ग) दो गवर्नर, दो उप गवर्नर (घ) एक गवर्नर, एक उप गवर्नर

3 भारतीय रिजर्व बैंक मे क्षेत्रीय कार्यालय हैं–
(क) 9 (ख) 4
(ग) 6 (घ) 2

4 भारतीय रिजर्व बैंक का मुख्य कार्यकारी अधिकारी कहलाता है–
(क) सचिव (ख) गवर्नर
(ग) निदेशक (घ) आयुक्त

5 भारतीय रिजर्व बैंक का कौनसा विभाग सिक्को एव नोटों के डिजाइन बनाने और उन्हे जारी करने का काम करता है ?
(क) प्रशासन विभाग (ख) परिसर विभाग
(ग) मुद्रा प्रबध विभाग (घ) निरीक्षण विभाग

उत्तरमाला

1	(ख)	2	(क)	3	(ख)	4	(ख)	5	(ग)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 रिजर्व बैंक के कुछ संस्थानो के नाम लिखिए।

उत्तर– 1 बैंकर्स ट्रेनिग महाविद्यालय मुम्बई,
2 एग्रिकल्चर बैंकिग महाविद्यालय पुणे,
3 रिजर्व बैक स्टाफ महाविद्यालय चेन्नई
4 क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्र दिल्ली मुबई कोलकाता।

प्रश्न 2 रिजर्व बैंक के क्या कार्य हैं ?

उत्तर– *साख नियत्रण सरकारी बैंक बैंकर्स बैक नोट निर्गमन विदेशी विनिमय का* नियमन, ग्रामीण नियोजन एव साख आकडो का सकलन एव प्रकाशन प्रशिक्षण की व्यवस्था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक बैंक के कार्य भी सम्पादित करता है।

प्रश्न 3 रिजर्व बैंक साख नियत्रण के लिए क्या उपाय करता है?

उत्तर 1 बैंक दर में परिवर्तन 2 खुले बाजार की क्रियाएँ 3 परिवर्तनशील नकद कोषानुपात 4 तरल कोषानुपात 5 चयनात्मक साख नियत्रण, 6 बिल बाजार योजना 7 पुनर्वित्त के अन्तर्गत बैंको के लिए उनकी कुल माग व सावध

देनदारियो के एक प्रतिशत तक बेसिक उधार की सीमा लगायी गई है और नैतिक दबाव नीति को अपना कर साख नियत्रण करता हैं।

प्रश्न 4 *तरल कोषानुपात क्या है?*

उत्तर भारतीय बैंक अधिनियम 1949 की धारा 24 के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी कुल जमा का कम से कम 20 प्रतिशत तरल रूप मे रखना अनिवार्य है। यह कोष बैंक स्वय अपने पास ही रखता है। 1962 मे इस अनुपात को बढाकर 25 प्रतिशत कर दिया गया । वर्तमान मे यह 38 5 प्रतिशत है।

प्रश्न 5 *भारत के रिजर्व बैंक का चार्ट बनाइए।*

उत्तर

भारतीय रिजर्व बैंक

↓

केन्द्रीय एक्जीक्यूटिव जोन

(20 सदस्य गवर्नर सहित)

गवर्नर 1 डिप्टी गवर्नर 4+ 15 सदस्य

↓

केन्द्रीय कार्यालय (मुम्बई) सचिवालय

↓

क्षेत्रीय / स्थानीय जोन

↓

पूर्वी क्षेत्र	पश्चिमी क्षेत्र	उत्तरी क्षेत्र	दक्षिणी क्षेत्र
(कलकत्ता)	(मुम्बई)	(नई दिल्ली)	(चैन्नई)

↓

अन्य सहायक कार्यालय या निकाय
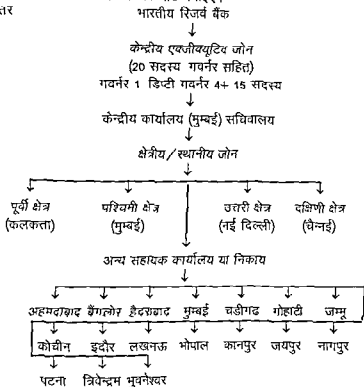
निबन्धात्मक प्रश्न

1. रिजर्व बैंक का सगठन एव कार्यो का वर्णन कीजिए।
2. रिजर्व बैंक के साख नियत्रण उपायो पर प्रकाश डालिए।
3. रिजर्व बैंक के कार्यो का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिए।
4. रिजर्व बैंक पर एक लेख लिखिए।
5. रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक सम्बन्धी कार्यो का वर्णन कीजिए।

□□□

अध्याय–18

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल की स्थापना हुई–
   (क) सन् 1947 मे (ख) सन् 1949 म
   (ग) सन् 1953 मे (घ) सन 1963 मे
2 केन्द्रीय समाज मडल का कार्यालय स्थित है–
   (क) जयपुर मे (ख) मुम्बई मे
   (ग) दिल्ली मे (घ) चेन्नई मे
3 वर्तमान मे केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल नियत्रण म है
   (क) कल्याण मत्रालय के (ख) श्रम मत्रालय के
   (ग) मानव ससाधन और विकास मत्रालय के (घ) शहरी विकास मत्रालय के
4 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल मे सदस्य है–
   (क) एक अध्यक्ष और 22 सदस्य (ख) एक अध्यक्ष और 75 सदस्य
   (ग) एक अध्यक्ष और 40 सदस्य (घ) एक अध्यक्ष और 44 सदस्य
5 कन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल द्वारा प्रकाशित पत्रिका का नाम है–
   (क) मानव कल्याण (ख) कल्याण
   (क) समाज कल्याण (घ) सामाजिक कल्याण

उत्तरमाला

1	(ग)	2	(ग)	3	(ग)	4	(घ)	5	(ग)

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 वर्तमान समाज कल्याण मण्डल का चार्ट बनाइये?

उत्तर– चेयरमेन
↓
कार्यकारी निदेशक
↓
जनरल बॉडी
↓
कार्यकारिणी समिति

प्रश्न 2 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल कार्यालय के प्रमुख डिविजनो का नाम बताइये।

उत्तर– 1 सामाजिक आर्थिक प्रोग्राम डिविजन 2 कन्डेनस्ड कोर्सेस डिविजन
3 प्रोजेक्ट डिविजन, 4 फील्ड कॉउन्सलिग एण्ड इन्सपक्टोरेट डिविजन

5 ग्रान्टस डिविजन 6 इण्टरनल कट्रोल डिविजन 7 फाइनेन्स एण्ड एकाउन्टस डिविजन 8 पब्लिकेशन डिविजन और 9 एडीमिनिस्ट्रेशन डिविजन।

प्रश्न 3 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के कुछ कार्य बताइये।

उत्तर– ऐच्छिक सगठनों का विकास करना उन्हे प्रोत्साहित करना और वित्तीय सहायता प्रदान करना कार्यकारी महिलाओ के लिए आवास स्कूली बच्चों के लिये छुटिटयो मे भ्रमण व्यवस्था सामाजिक आर्थिक प्रोग्राम प्रचार आदि।

प्रश्न 4 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल की कार्यकारिणी समिति की सरचना बताइये?

उत्तर– केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के कार्यों का सचालन कार्यकारिणी समिति द्वारा किया जाता है। जिसमें मण्डल के अध्यक्ष तथा कार्यकारी निदेशक सहित 15 सदस्य हैं। यह समिति बोर्ड की नीति निर्धारण करने वाली प्रमुख समिति हैं। इसकी बैठक प्राय दो तीन माह मे एक बार होती है।

प्रश्न 5 बालबाडी पोषाहार कार्यक्रम क्या है?

उत्तर बच्चो में व्याप्त कुपोषण की समस्या से निपटने के लिए सरकार ने 1970 मे निम्न आय वर्ग के परिवारो के 5 वर्ष की आयु वर्ग के बचो को पूरक पोषाहार उपलब्ध करवाने के लिए एक योजना आरम्भ की थी। योजना मे स्वास्थ्य सुविधाएँ भी शामिल हैं जैसे– बच्चों का टीकाकरण और स्थानीय निकायो के सहयोग से बेहतर सफाई तथा पर्यावरण व्यवस्था करना।

निबन्धात्मक प्रश्न

1 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के सगठन का वर्णन कीजिए।

2 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के क्या कार्य हैं।

3 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के उद्देश्य क्या हैं ? केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

4 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल पर एक लेख लिखिए।

5 केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल का सगठन एव कार्यो पर प्रकाश डालिए।

❑❑❑